

मराठी-हिन्दी कृष्ण-काव्य
का
तुलनात्मक अध्ययन

मराठी - हिन्दी



आक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

कृष्ण-काव्य
का
तुलनात्मक
अध्ययन

(११वीं से १६वीं शताब्दी तक)

© डॉ० ए० ए० केळकर

प्रकाशक अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
२/१६, अन्सारी रोड हरिवार्गज दिल्ली ६

■

मूल्य बीस रुपये

■

प्रथम संस्करण १९६६

■

आवरण-चित्र लरेन्स श्रीवास्तव

■

मुद्रक रामस्वरूप धर्मा
राष्ट्रमाखी प्रेस कृष्ण बेळान
हरिवार्गज दिल्ली ६

■

पुस्तक-बन्ध दिनेश मुक्त बाईबिल हाउस दिल्ली

आमुख

समय-सत पर्यं पूर्वं हिन्दी और मराठी के कृष्ण-आत्म का तुलनात्मक अध्ययन करने का विचार घेरे मन में धरया था और मैंने अपने अनुसंधान की कन रेखा बनाकर आचार्य विजयमोहन शर्मा के बात-मेल की थी। उन दिनों मैं जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का हिन्दी पद्यानुवाद कर रहे थे। कन-रेखा को पतन्य करते हुए उन्होंने भिन्ना था कि यह अध्ययन अत्यन्त उपयोगी होगा। किन्तु तियारों की कूरता के कारण नरमपुर विश्वविद्यालय से शोक करने की अनुमति प्रदान करने में उन्हें अपनी अक्षमता प्रकट करनी पड़ी। तत्पश्चात् इस सम्बन्ध में मैंने डॉ० बोपेन्द्र से चर्चा की। उन्होंने भी छात्रधनानुर्बन्ध इस विषय के प्रवृत्त का प्रतिपादन किया। डॉ० इन्द्रनाथ मदान तथा स्वर्गीय डॉ० बीनासनाथ भटनागर ने अपना प्रमुख समय देकर जो मुझे उपकृत किया है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। भटनागरजी तो मेरे निर्देशक ही थे उनके संस्कृत-साहित्य-ज्ञान से मुझे विधेय लाभ हुआ है। मैं यहाँ जानता कि इन सब विद्वानों के प्रति अपनी पुनीत भावनाएँ किन शब्दों में व्यक्त करूँ।

यहाँ संक्षेप में यह भी निवेदन कर हूँ कि अपनी शोक-प्रवृत्त में मैंने उन मौलिक या विधेय स्थापनाओं पर भी पर्याप्त विचार किया है जो कृष्ण-भक्ति की परम्परा को ठोक के समसने से सम्बन्ध हैं और इसीलिए विष्णु की कल्पना का विकास और कृष्ण की कल्पना है यज्ञका बहुत समय तक चिन्ता तथा बाद में दोनों का एकीकरण आदि मूलमूल प्रश्नों का ऐतिहासिक-सामाजिक विश्लेषण मैंने कई भाषाओं पर किया है।

अधिकतर विद्वान् भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ भक्ति के आछारों से मानते हैं। परन्तु मैंने यह विचारया है कि कृष्ण-भक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

जो लोग भारतीय भक्ति-आपना पर इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभाव की बात करते हैं, उनके मतों का खंडन भी मैंने अस्तुत प्रबन्ध में किया है। प्रो० रा० व० रामादे जीने विख्यात दार्शनिक ने भी 'मिस्टीक इन् महााराष्ट्र' नामक अपने ग्रन्थ में कहा है कि भक्ति के बीच उपनिषदों में उपलब्ध हैं।

महाराष्ट्र और हिन्दी-भाषी प्रदेशों (अज, अजय, राजस्थान आदि) की सांस्कृतिक गुरुत्वों के लिए और अनेक का मैंने साहित्यिक नृत्यों की दृष्टि से आध्यात्मिक विश्लेषण किया है। वेध में यहाँ प्रादेशिक भक्तिताएँ भावमय धर्मनों में आन रही हैं, यहाँ समूचे राष्ट्र क

एकतमशोक भी धीरे-धीरे बड़ रहा है। इस विषय में मेरा यह अनुसन्धान एक नम्र प्रयास मात्र है।

कृष्ण-चरित्र अपने-आपमें एक आजीवन अध्ययन का विषय है। अपने सीमित समय और साधनों में मुझसे जो कुछ बन पड़ा है, वह मैं राष्ट्रघाता हिन्दी की सेवा में अर्पित कर रहा हूँ। सुधी और विद्वान मेरी त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर साहित्य-समीक्षा-क्षेत्र में मेरी इस धृष्टता को क्षमा करेंगे।

नई दिल्ली,
१ जून १९५१

—रम केशकर

विषय-सूची

अध्याय १

उपोद्घात

१ ८६

(स) विष्णु की कल्पना का इतिहास तथा विकास

देवों तथा शास्त्रज्ञ ग्रन्थों में विष्णु की मूर्त से समानता चक्रपारित्य रूपन और विरद-रक्षण, धृष्टी को विपाद से व्याप्त करना तथा वामनावतार कलि की कथा, पश्चिमी भारत में वासुदेव नामक एक प्राचीन देवता, दूतरी घरी का वैसनवर भिक्तकैष्ठ वासुदेव तथा विष्णु का ऐक्य, नारायण और नारायणीय धर्म नारायण वासुदेव और विष्णु सम्प्रदायों का एकीकरण तथा उसमें ई० पू० पहली सताब्दी के आगीर लीक-देवता बाल-कृष्ण का समावेश पांचरात्र सम्प्रदाय तथा भागवत धर्म रामासुखाचार्य द्वारा वैष्णव धर्म की पुनःस्थापना, कयदेव का पीतपोषिण्य वारकरी सम्प्रदाय ।

(धा) सवतारों की सीमांता तथा कृष्ण-कथा, विष्णु पुराण, नामवत-पुराण इत्यादि के अनुसार लौकिक धाम-देवताओं की कल्पना का कार्य-देवमाता से समावेश

मत्स्वभावतार, कल-प्रलय कथा सेमेटिक प्रमाण, कूर्पावतार, असृष्ट-मन्वन कथा विष्णु का मोहिनी रूप, वराहावतार, वराह में अनार्य आदिवासियों द्वारा पवित्र घुकर की कल्पना बृषिहावतार, क्षत्रियों का समाहार, वामनावतार, चार्तुर्धर्म की प्रतिष्ठापना परशुराम-धवतार क्षत्रिय निपात कार्यवीर्य की कथा रामावतार, कृष्ण से पहले वर सम्प्रदाय के रूप में बाब में प्रचलित राम नवित कृष्णावतार, मोनर्द्धन-कथा, सात्वत क्षत्रियों का मोन-देवता मैमस्वामीय द्वारा उत्तेज, क्षत्रिणी तथा बहु पत्नीत्व, ब्रूज विवाह, कृपि-देवता वक्रवर्म, कृष्ण और अकिलीत की मृत्यु में साम्य मध्याचार्य का मठ ब्रह्म धीव धीर ईश्वर की कल्पना विदेशी प्रमाण का संकट वाइस वाइ विव एन अनगोन अरर वमराम और सीलिनम महामाता की पूजा बुझावतार धीववयापाव कस्तिक-अवतार मीनमे बुझ भविष्यत बुझावतार, परबुत्त धर्म में आरी अवतार ।

(इ) कालिय-वर्धन भाव-संस्कृति के समय का प्रतीक

(ई) वैष्णव धर्म और वर्धन

सम्प्रदाय धर्म-मत का वैष्णवों द्वारा विरोध हरिहर मूर्ति विमूर्ति वर्धन भक्ति योग प्रपत्ति अद्वैतवाद विधिष्ठाद्वैतवाद उत्तर और दक्षिण का भेद वायु विष्णु का प्रतिनिधि ईसाइयों का होसी गोष्ट मोक्ष-पाप से मुक्ति ईसाइयों का बाप्टिज़म ऑक्ट इटर्नल डेम्नेशन तथा ईश्वर और आत्मा में भेद ।

(क) स्मार्त तथा वैष्णव

स्मार्त भागवत सर्व-देवतावादी ।

अध्याय २

मराठी कृष्ण-काव्य की ऐतिहासिक-

६० ११८

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

कर्नाटक का प्रभाव तथा विद्रुह की कल्पना पुत्रराज का प्रभाव और महानुभावों के कृष्ण भयदेव की गीति परम्परा और तैलुगु-कृष्ण-गीतों का पर और भवन साहित्य पर प्रभाव छोक-गीतों का मराठी कृष्ण-काव्य पर प्रभाव ।

अध्याय ३

हिन्दी कृष्ण-काव्य की ऐतिहासिक

११६ १४४

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

रामानुजाचार्य निम्बकाचार्य तथा वत्सनाचार्य विद्यापति तथा जयदेव का प्रभाव भीर और नृसिंह मेहता पुत्रराज का प्रभाव सूरदास और ब्रह्म व्यास के नाम कवियों द्वारा कृष्ण की कलागा हिन्दी छोक-गीतों का कृष्ण काव्य पर प्रभाव ।

अध्याय ४

मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का

१४५ १७५

साम्य तथा वैषम्य भाव-मत

काव्य की पृष्ठभूमि बाह्य-श्रीका यशोदा देवकी, वायुदेव नन्द सापी-संजी बाक-मोपाक गोपी तथा राज-श्रीका प्रसन्न-दयम स्कन्ध के मृगार पर धासेप तथा उसका बहिन कृष्ण की प्रमुख तथा राधा विमृता राई कजुमाई, कविमभी सत्यभामा तैलुगु बजूर और उदय सन्देश महापट्ट परम्परा में भ्रमर-भीत का भवान मुरली-भीत और उसका चराचर पर प्रभाव कृष्ण के अन्य रूप—द्वारिकाभीराव कर्जुन-सारथी शीवरी का भाई महाभारत के कृष्ण कृष्ण का चरित्र विचित्र प्रकृति-वर्धन, रस-भिषयि, परम्परा-निर्वाह तथा मौलिक उद्भावना ।

अध्याय ३	मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का साम्य और वैषम्य कला-पक्ष	१७६-१८८
	भाषा-प्रयोग तथा शब्द-योजना, अलंकार योजना, रूप तथा संपीठात्मकता	
अध्याय ६	मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य में भक्ति-प्रकृति तथा दार्शनिक दृष्टि	२००-२२२
	भक्ति-प्रकृति-भक्ति का स्वरूप, भक्ति के लक्षण, भक्ति के स्तूपन, भक्ति का कल, दार्शनिक दृष्टि-ब्रह्म, जीव, माया ।	
अध्याय ७	मराठी और हिन्दी कृष्ण-कवियों के कृतत्व का स्वरूप विशेष तुलनात्मक अध्ययन	२२३ २४२
	चक्रवर्त, नरेन्द्र भास्कर मठ, संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, जगन्नाथ, एकनाथ, मुक्तेश्वर, दुकाराम, नरसी मेहता, मीरा, विद्यापति सुरदास तथा अष्ट शाय के नाम कवि, निष्कर्ष ।	
अध्याय ८	मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का परवर्ती काव्य पर प्रभाव	२४३ २६७
	हिन्दी कृष्ण-काव्य की रीतिकालीन कवि देव विहारी, मतिराम आदि तथा आधुनिक कवि मारोलेन्दु, हरिजीव, वैविधीकरण कृष्ण तथा द्वारिका प्रसाद मिश्र पर प्रभाव, मराठी कृष्ण-कवियों का मध्ययुगीन कवि मोरो पन्त, रघुनाथ पंडित आदि तथा आधुनिक कवि गोविन्दाग्रज माधव कृष्णिन आदि पर प्रभाव ।	
उपसंहार	उपसङ्ग्य मीतिक निष्कर्ष ।	२६८-२७५
सम्बन्ध-ग्रन्थ-सूची		२७७-२८१
नामावली		२८३-२८४

मराठी-हिन्दी कृष्ण-काव्य का
तुलनात्मक अध्ययन

उपोद्घात

(अ) विष्णु की कल्पना का इतिहास तथा विकास

हृष्य मल्लि-काव्य एवं उसमें प्रवाहित नक्षि-आरा की परम्परा के सुषम सम्भव के लिए वैदिक साहित्य में हृष्य का स्वरूप विष्णु से उनका सम्बन्ध विष्णु की विशेषताएँ वैदिक देवता-विधान में विष्णु का स्थान तथा भक्ति की प्राचीनता आदि प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। अतः यहाँ सबसे पहले इन्हीं सूक्ष्म सूक्ष्मों को एकत्रित करने का प्रयास किया गया है।

१. जेहों तथा साहाय्य ग्रन्थों में विष्णु की सूर्य से समानता

आर्यों के सभी समूहों के आभिन्न्यों में इन्द्र मित्र वरुण आदि का नैसर्गिक अस्तित्वों के देवताओं के रूप में वर्णन है। ऋग्वेद के पूर्व आर्यों की किसी भी छात्रा में विष्णु का उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद भी अपने आर्य के उपलब्ध रूप में, किसी एक व्यक्ति अथवा काल की रचना नहीं है। अतः काल-क्रम में अनेक कर्मों द्वारा परम्परा से प्रवाहित ग्रन्थ साहित्य है। विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के कुछ ग्रन्थ तो आर्यों के पंचतन्त्र में आकर बस जाने के भी पहले के हैं।^१ अतः आर्य जन-समूह के ऐव-विधान तथा उसमें विष्णु की कल्पना के बीच कोमने के लिए ऋग्वेद-काल से पूर्व की आर्य संस्कृति पर विचार करना नितांत आवश्यक है।

कुछ वर्ष पूर्व ईटों पर खुदे हुए कुछ ऐसे प्राचीन लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे मैसो-पोटामिया में एबला (हेबिल) तथा फरात (फ़ोर्टिस) नदियों के उद्गम के पास ईरा से छय घण पाँच हजार वर्ष पूर्व बसने वाली तुपामियन जाति का पता लगा है।^२ प्राचीनता के कारण ये लेख 'आसिरियन वेव' कहलाते हैं। ऋग्वेद एवं आसिरियन संस्कृति के लोगों का परस्पर सम्बन्ध छिन्न होता है। आसिरियन ग्रन्थ तथा वेद की कथाओं में विश्व का मूल जलमय स्वरूप उसका स्थान तथा उसमें उदगम होनेवाली एति इन्द्र अथवा यार्दूक आदि प्रकाश देवताओं द्वारा उस पर प्राप्त की हुई विषय आदि में साम्य है। इसी प्रकार निरव रचना के सम्बन्ध में भी दोनों राष्ट्रों की कल्पनाएँ बहुत-कुछ एक-सी हैं। आसिरियन पौराणिक ग्रन्थों में श्री सप्त-स्वर्य तथा सप्त-प्राज्ञ की कल्पनाएँ हैं। यार्दूक ने सिनामत

१. १ विष्णु की इतिहास विद्वानों की, अथर्ववेद, अथर्व १, १ १०।

२. मस्यारु बाल-कोर, मस्यारुका एव, अथर्व वेद, पृष्ठ ११५-१०।

नामक जिस छंद का बच किया जा उसके साथ सिरों का उल्लेख है। वेद में भी इन्द्र को सप्तहृत् कहा गया है तथा जिस अन्ननिधि के द्वार इन्द्र तथा अग्नि ने अपने पराक्रम से खोले थे, वह अन्ननिधि सप्त-बुध्न था। यारिष्ठमन बंधों में ऋग्वेद की भांति इन्द्र का उल्लेख मिलता है जो मानव-जाति का रक्षक एवं वैवी सक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।^१

मध्य एशिया में हिंटाइट लोगों के राजा तथा मितनी के राजा के बीच सन्धि-सम्बन्धी ईसा से पन्नाह सौ वर्ष पहले के सिसाकेख में मितनी के राजा को इन्द्र मित्रावरुण तथा नासत्य का ऋक्-संहिताओं में प्रयुक्त नामों से आवाहन करता व्यक्त किया गया है।^२ इसी प्रकार ईरानियों के आबेस्ता ग्रन्थ में भी मित्र (मित्र) धर्म्यमन् (धर्म्यमन) हबोम (होम) बेरेत्रमघ्न वायु सप नर्वोसंभ (नर्वसिंह) आदि देवों का उल्लेख है तथा सर्वोच्च देव अथवा स्वर्गिक तिस्रो के अधिकारि को 'बन' या 'मग' की ही संज्ञा दी गई है।

उपयुक्त जाचारों से स्पष्ट है कि जायों के आदि-समूहों में इन्द्र मित्रावरुण वायु आदि देव-कृतानाओं में साम्य होते हुए भी विष्णु की कल्पना का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

ऋग्वेद में विष्णु-स्तुतिपरक मन्त्र केवल चार हैं। इनके अतिरिक्त केवल एक अन्य मन्त्र में इन्द्र और विष्णु की एक साथ स्तुति की गई है। समस्त वेद में विष्णु का केवल एक ही बार नामोल्लेख है जबकि इन्द्र अग्नि तथा बृहस्पति हिरण्यगर्भ वरुण अश्विनीकुमार विश्वकर्मा आदि के अनेक स्तुतिपरक श्लोक हैं। यही देवता समय-समय पर बिभिन्न मन्त्रों में सर्वमूर्ते माने गये हैं।^३ ऋग्वेद के स्तुतिपरक मन्त्र-विस्तार को देखते हुए विष्णु एक निम्न कोटि के देवता के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं तथा देवकासीन देवताओं की कतुर्ब क्षेपी में गाते हैं।^४

ऐतिहिक दृष्टियों पर आधारित ऋग्वेदिक देव-विज्ञान के सम्बन्ध में देवों में विष्णु का उल्लेख सूक्ष्म विवेचन एवं अवेपसा की अवेपसा रखता है। वैदिक संहिताओं में वर्णित विष्णु की विशेषताएँ मूलरूप में सूर्य से सम्बन्ध हैं जैसा कि आये सिद्ध किया गया है। अतः विष्णु और सूर्य का स्वरूप-साम्य देखते हुए बहुत सम्भव है कि ब्राह्मण-काव्य में विष्णु के सर्वोच्च देव के रूप में अधिकृत हो जाने पर विष्णु विपमक मन्त्र जो संस्था में केवल चार हैं बाद में विष्णु उपासक मंत्र-ग्रन्थों द्वारा ऋग्वेद में जोड़ दिए गए हों। इस विषय में लक्ष्मिबिज्ञान धर्मा ने दो सम्भावनाओं का उल्लेख किया है।^५

पहली सम्भावना यह है कि प्राचीन के पहले से भारत में रहनेवाली जातियों में विष्णु महिमावान् देवता रहे हों और उन्हें आर्य अपने देवताओं के बीच स्थान देने के लिए तैयार न थे। दूसरी सम्भावना है कि विष्णु आर्य जाति की ही साधारण क्षेपी की दुर्दृष्टियों के देवता रहे होंपि जिन्हें अविज्ञात मंत्रग्रन्थों में अपास्य करते थे—शायद इसलिये कि इनकी दृष्टि में विष्णु के आरम्भिक रूप में अवांछनीय तत्त्व मिश्रित थे। इन्द्र और विष्णु की मित्रता

१ मरहट्टु बल-बोस, प्रस्तावना पृष्ठ ७, ऊपर माल गर्भा मकरण पृ० ११६ १२।

२ यही। पृ० १११ ११६।

३ इरिथन फिलोसोफी, भा० उपास्यपत् पृष्ठ १।

४ मास्टर रिजिनिक्स एंडरसर, पृ० ३३, ई० पार ई०—(विष्णु) वैदिक याज्ञिकी—गैलेनेनेस, पृ० ३०।

५ वैदिक 'साहित्य', पटना, मुद्रा, १९६०, पृ० १-४

इन्हीं दो वर्गों की सन्धि का सूचक हो सकती है।^१ गल्लिगिलोचन सर्मा की सम्पादनाओं का आधार 'सिपिबिष्ट' सम्बन्धी यास्क का कथन 'कुस्तिताचोऽर्थं पूर्वं भवति' है।^२ वे इसी का उच्चारण रूप परवर्ती कृष्ण की कल्पना में देखते हैं। यास्क का समय ई० पू० ५०० वर्ष माना गया है। यह नास पीरायिक साहित्य का युग था जो वैदिक साहित्य के काफ़ी बाद में आता है। इस युग में कृष्ण के विषय में कहनाए निश्चित हो चुकी थी तथा इण्डु और विष्णु का ऐक्य भी स्थापित हो चुका था। ऐसी वृत्ति में यास्क का मत सम्पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ऋग्वेद में एक स्थान पर विष्णु को 'सिपिबिष्ट' कहा गया है।^३ दुर्गाचार्य ने इस शब्द का अर्थ प्रायः काठिन्य बोधक किरणों से समाविष्ट किया है।^४ जिसमें वात-सूर्य अमिश्रित होता है तथा संकेत सूर्योदय-पूर्व रात्रि-कर्मों की ओर हो सकता है। अतः यह सुस्तिवाद ठीक नहीं मान पड़ता। कृष्ण की काम प्रधान पीरायिक कल्पना का बीच वैदिक विष्णु में खोजने का यह एक प्रयत्न है।

वैदिक संहिताओं में विष्णु के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बटना उनका तीन विक्रमों का ग्रहण करना अर्थात् तीन ङगों की रचना है। विष्णु ने अपने तीन ङगों के भीतर समस्त संसार को माप लिया है।^५ इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का मन्त्र—

इहं विष्णुर्विचक्रमे बोधानिवधे परस् समुद्रमस्य पांसुरे ॥—१।११।१७

नितान्त प्रसिद्ध है तथा प्रत्येक संहिता में उपलब्ध होता है।^६

वेद-वर्णित विष्णु की दूसरी विशेषता उनका 'परमपद' है जो सबसे ऊँचा बताया गया है जहाँ से वह भीषे के कोक के ऊपर चमकता रहता है।^७ ऋग्वेद का कहना है कि विष्णु के परम पद को विद्वान् जोष सदा आकाश में विद्यत सूर्य के समान देखते हैं।^८

तीसरी विशेषता है विष्णु के 'परमपद' में मधु के निर्धर का अस्तित्व, जहाँ देवता आसोद मनाया करते हैं।^९ और चौथी विशेषता है इन्द्र-बृह-भुव में इन्द्र की सहायता।^{१०}

उपबृंह विशेषताओं में से पहली तीन विशेषताएँ सूर्य से सम्बन्धित हैं जैसा कि ब्राह्मण एवं भारव्यकों द्वारा प्रकट होता है। चौथी विशेषता यानी इन्द्र-बृह-भुव में इन्द्र की विष्णु के द्वारा सहायता एक ऐसी बटना है जिसका न तो स्पष्ट रूप से सूर्य से सम्बन्ध है और न ही वह विष्णु के स्वतन्त्र देवता होने का प्रमाणित करती है। क्योंकि ऋग्वेद काव में इन्द्र प्राकृतिक तत्त्व के देवता थे तथा इन्द्र एक पद भी था। वैदिक साहित्य में अनेक इन्द्रों का उल्लेख है। पहले बताया जा चुका है कि ऋग्वेद न मन्त्र किसी एक काव की रचना नहीं है। अतः विष्णु की प्राचीनता एवं ऋग्वेद में उनके विषय में उल्लेखों की प्रामाणिकता की जाँच

१ मैमासिग 'समिप' पढ़ता, जूलार्ड, १८२७ पृ. १८८।

२ ऋग्वेद, ७।१००।२।

३ निलय, बर्नार्ड संस्करण, १८१८।

४ ऋग्वेद, १।१२४।१।

५ भाग्य सम्प्रदाय—वसुदेव उपाध्याय, पृ. ७२।

६ ऋग्वेद, १।१२४।६।

७ ऋग्वेद, १।१४।१०।

८ ऋग्वेद, १।१२४।२।

९ ऋग्वेद, १।१११।८, ६६।

करने के लिए यह देखना आवश्यक है कि किस एक-विशेष ने बुद्ध की मारा या तथा जिसकी सहायता विष्णु ने की थी वह कीन-सा एक था ।

यदि श्रद्धेय में प्रयुक्त विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र मूल मान लिये जाएं तो श्रद्धेय में वर्णित चिह्नों से वे सूर्य के ही अत्यन्त प्रकार सिद्ध होते हैं । मास्क के धर्मों में रश्मियों से व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों से समस्त संसार को व्याप्त करने के कारण ही सूर्य 'विष्णु' के नाम से अभिहित होता है ।^१ विष्णु-पुराण का कथन है 'तमेव सृष्ट्वा तममु प्राविशत्' । यही विष्णु बाहु की व्याख्या व्याप्त होने के अर्थ में है । मैकडोमैड केटी ब्रुडर मोटो जाति 'विष्' का अर्थ सन्निहित होना बताते हैं । अतः विष्णु व्यापक रूप में तथा सूर्य के स्रोतक है ।^२ शाक्युपनिषद् के विचार में विष्णु के तीन वर्णों का सम्बन्ध पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश से है तथा उनका क्रम नीचे से ऊपर की ओर है । श्रीराम के मतानुसार तीन वर्णों का सम्बन्ध सूर्य के उदय मध्य और अस्त स्थान से है ।^३ किन्तु रोड मैकडुकर तथा केटी का विश्वास है कि विष्णु के विषय अथवा तीन वर्णों का सम्बन्ध सूर्य के उदय मध्याह्न और अस्त से है । ब्रुडर उपाध्याय का कहना है कि श्रीराम की व्याख्या वैदिक मंत्र के विरुद्ध होने के कारण आवश्यक नहीं है, क्योंकि विष्णु का तृतीय पद वानी परम-पद आकाश में ऊँचे पर स्थित है तथा जिस प्रकार आकाश में रश्मियों को पारो ओर फैलानेवाला सूर्य जलकटा है उसी प्रकार यह परम-पद भी ऊँचाई पर से जलकटा है । अतः श्रद्धेय का मंत्र श्रीराम की कल्पना की पुष्टि न करके शाक्युपनिषद् के मत की ही पुष्टि करता है ।^४

वस्तुतः शाक्युपनिषद् तथा श्रीराम की व्याख्याओं में साम्यिक भेद होते हुए भी तात्पर्य एक ही है । तत्कालिक अस्तमेव का विषय है तृतीय पद । श्रीराम के मतानुसार तीसरा क्रम सूर्य का अस्त होता है । इस कार्य में क्रमशः दो अवस्थाएँ निहित हैं—अस्तावस्य पर सूर्य का पहुँचना तथा अस्त हो जाना । दूसरी अवस्था में सूर्य अदृश्यमान है । अतः मनुष्य की कल्पना से परे है—यही सूर्य का नाम है । शाक्युपनिषद् के कथनानुसार भी तीसरा क्रम आकाश में उदय स्थान पर है जो साधारण मनुष्य नहीं देख सकता तथा वहाँ देवता आसुर मन्त्रावा करते हैं । सूर्य सृष्टि का पीपक होने के कारण वही प्राथमिक को बीजनी-सत्ति प्रदान करता है । वही समुद्र का आगार है, अतः परम-पद एवं मनु के निर्धार की वैदिक कल्पना सूर्य के नाम की ही आभासित करती है जो ब्रह्म भी है और परम भी है ।

शाक्युपनिषद् और श्रीराम दोनों का मत ब्राह्मण बुद्ध की मान्यताओं पर आधारित है जब विष्णु बुद्ध श्रेष्ठत्व प्राप्त कर चुके थे । अतः विष्णु के तीन वर्णों का सम्बन्ध पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश से जोड़कर शाक्युपनिषद् ने अपने बुद्ध की मान्यताओं से अनुसार विष्णु के श्रेष्ठत्व को प्रतिपादित किया है जबकि श्रीराम का मत यथार्थ पर आधारित है, अतः अधिक सुनिश्चित जान पड़ता है । ब्राह्मण बुद्ध में समानता द्वारा तीन वर्णों को देवी पर रख कर 'विष्णु-क्रम' का अनुकरण भी मूल रूप में सूर्य से ही सम्बन्धित विधि है । पौण्ड्रिक

१ शाक्युपनिषद्, १२।१६ ।

२ वैदिक मंत्रार्थोक्तः । अग्नेयस्य, १०० १६ ।

३ श्रद्धेय, १२ २ ।

४ अस्तमेव श्रद्धेयः अस्तमेव कथाध्याय १० १०-११ ।

साहित्य में बकि के पाठास-गमन की बारम्बार से भी इसी मत की पुष्टि होती है क्योंकि पाठास का सम्मन्ध सूर्य के ही तीसरे क्रम से हो सकता है।

अन्वये में वहाँ विष्णु के परमपद का उल्लेख है वहीं उन्हें 'गिरिष्ठा' (भयंकर पर्वत पर रहने वाला) तथा 'कुशर' (स्वतन्त्रता से विचरण करने वाला) कहा गया है।^१ अयसे मर्म में इन्द्र तथा विष्णु दोनों को एक साथ अप्रवचनीय बताया गया है जो पर्वत के शिखर पर हममान हैं। मैक्डोनेल् इसका अर्थ मेघ सिंघरों पर आलोकित सूर्य से करता है जो मुक्त संगत बाल पड़ता है।^२ क्योंकि अप्रवचनीय तत्त्व प्रकाश है, सत्य है अतः वही अन्वकार का नाश करने वाला तथा सर्वसाक्षी है।

वेब में विष्णु का सम्मन्ध गार्ग्य के साथ भी विज्ञापी पड़ता है।^३ विष्णु अवेय गोप है। शीर्षतया औचक्य ऋषि की अनुभूति है कि विष्णु के परमपद या उच्चतम लोक में 'मूरिगुया' (अनेक मूर्तोंवाली) तथा अयास (नितान्त बचक) गार्ग्य का आवास है।^४ 'मूरिगुया' अयास गार्ग्य सूर्य की बचक किरणें हैं जो ध्येय में नाना विघातों को उद्भासित करती रहती हैं तथा अनेक रंग बरकती रहती हैं। मैक्डोनेल् ने 'गाय' के स्थान पर मेघ का अर्थ लिया है तथा अनेक मूर्तोंवाली तथा बचकता गुण दोनों की संवति मेघों से जोड़ी है।^५ दोनों ब्रह्मों में पूकार्य सूर्य की ही ओर संकेत करता है। वेद में 'स्वहन्' 'विभूत पुम्' * आदि उल्लेखों से भी विष्णु प्रकाश और तेज के देवता सिद्ध होते हैं जो सूर्य के गुण वर्ण हैं।

अपने तीन वर्गों से समस्त संसार को व्याप्त करने के कारण ही विष्णु अन्वये में उक्त्याय' (विस्तीर्ण गतिवाला) तथा अक्रक्य' (विस्तीर्ण प्रक्षेपवाला) हैं। वे एय या 'एयवायन' (पति से परिपूर्ण) वर्गाधि धारयन्, ऋतस्य वर्म वेदा (नियमों के पालक) और पूर्व और नव्य दोनों हैं। उपर्युक्त चारों वर्गों सूर्य की विशेषताएँ हैं। अन्वये में विष्णु धूमते हुए चक्र की गति अपने नब्बे अक्षों के साथ जिनके चार-चार नाम हैं, चक्के के लिए प्रस्तुत हैं। मैक्डोनेल् के विचार में नब्बे अक्ष दिनों के तथा चार नाम ऋतुओं के प्रतीक हैं तथा स्तोत्र का अर्थ तीन ही साठ दिनों के और वर्ण से है।^६

विष्णु इन्द्र के मित्र हैं तथा सहायक भी हैं। इन्द्र विष्णु का प्रतीक है तथा विष्णु कन है अतः दोनों का निकट सम्बन्ध है। शीर्षतया औचक्य ऋषि के मतानुसार विष्णु ने पृथ्वी के ऊपर विद्यमान लोको का निर्माण किया अर्थात् लोक में विद्यमान आकाश को इकट्ठा बनाया तथा तीन वर्गों से समस्त संसार को भाग दिया।^७ विवाद का उल्लेख पहले हो चुका

१ अन्वेद, १, १५५।

२. वैदिक मन्त्रकोषी, मैक्डोनेल्, १०५६।

३ अन्वेद, १।१५।१०।

४ अन्वेद, १।१५।५।

५ अन्वेद, १।१५।५।

६ अन्वेद, १।१५।५।

७ अन्वेद, १।१५।५।

* वैदिक मन्त्रकोषी : मैक्डोनेल्, ४५५।

७. आत्मन सम्मन्धनः नन्देन वदन्त्यम् १०५५।

है। उपर्युक्त दोनों कार्यों का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से सूर्य से है। सूर्य जीवनदाता होने के कारण निर्माता है और नियम का पालक होने के कारण नियन्ता भी। सूर्य का यह नियम विपाद की कल्पना में ही अन्तर्निहित है।

वैदिक विष्णु को बारम्भ में पूर्वस्मय सीर एवं मित्र कोटि के देवता है ब्राह्मण युग में आकर महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। ब्राह्मण-युग कर्म प्रधान युग था और कर्म का प्रमुख अंग था यज्ञ। यज्ञ में बड़कर पावन तथा येनस्कर कर्म और हो ही क्या सकता था? अतः स्वाभाविक है कि इस युग में आकर विष्णु यज्ञ-रूप बन जाते हैं 'यज्ञो य विष्णु'। ऐतरेय ब्राह्मण के बारम्भ में ही अग्नि 'अवम' तथा विष्णु 'परम' देवता स्वीकार किए गए हैं, 'अग्निर्ब्रह्मात्मनसो विष्णु परम' तदन्तरेण सर्वा अन्य देवताः।^१ निश्चय ही विष्णु, जो सूर्य रूप हैं अग्नि से ओष्ठ माने जाते हैं क्योंकि काष्ठान्तर में अग्नि को बनाया अधिक सरल हो जाता है। अग्नि सरलता से प्राप्य तत्त्व सिद्ध होता है तथा उसका आवास भी मंत्रब्रह्मा सूर्य में देखने सकते हैं।

घटपथ ब्राह्मण में विष्णु के वामन रूप का उल्लेख है।^२ वामन के विपाद की कथानुसार विष्णु सर्वोष्ठ देवता न होने पर भी वे प्रथम ही शक्ति से युक्त हैं। इस कथा में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—विष्णु का वामन-रूप तथा असुरों का वामन-रूपी विष्णु के बराबर इन्द्र की भूमि देना स्वीकार करना। दूसरी बात स्पष्ट है। विष्णु के लघुकाय होने के कारण ही असुर भूमि देना स्वीकार कर लेते हैं पर वामन-रूप विचारणीय है। मैक्डोनेल का मत है कि असुरों में उदरान्न होने वाले समूह को मिटाने के लिए विष्णु के वामन-रूप की कल्पना की गई होगी।^३ मैक्डोनेल का तर्क युक्तिसंगत नहीं मान सकता क्योंकि वामन रूप की कल्पना के बीच अन्तर में अन्तर्निहित है^४ वही विष्णु के इन्द्र के साथ लम्बे जगों से पृथ्वी मापने एवं उसे मनुष्य के रहन योग्य बनाने का उद्देश्य है। वामन-रूप छत्र का चोत्रक है और सूर्य भी प्राकार में छत्र दिखाई देता है। छत्र होते हुए भी वह समस्त पृथ्वी को व्याप्त करता है। इस प्रकार वामन-रूप की कल्पना सूर्य पर ही आधारित प्रतीत होती है। वामन-रूप की यही कल्पना पौराणिक काल में वामनावतार की जन्म देती है।

ऐतरेय ब्राह्मण^५ में विष्णु का उल्लेख देवताओं के द्वारपाल के रूप में मिलता है। निरचन ही देवकीर्ण मनुष्य के लिए महत्त्व लोक है—आकाश में ऊँचे पर स्थित है वहाँ देवता वास करते हैं। सूर्य इन्द्र है, वैदिक सभित्तों में इक्ष्वाकु होने के कारण कल्पनाशील भी नहीं है, पर साथ ही एक रहस्य भी है। 'द्वारपाल' शब्द इसी 'द्वष्टव्य' तथा बसीयें निहित रहस्यात्मकता को व्यक्त करता है।

घटपथ ब्राह्मण^६ में विष्णु यज्ञ-सम्बन्धी विषय में विनयी होकर देवताओं में महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं तथा उन्हीं के अनुप से उनका चिरकटकर सूर्य बन जाता है।

१ एतरेय ब्राह्मण २।१।

२ एतरेय ब्राह्मण १, २, ५।

३ वैदिक आर्यसंस्कृत : मैक्डोनेल, पृ० ४२।

४ अन्तेर, पृ० १००, १०१, १०२, १०३।

५ ऐतरेय ब्राह्मण १, १०।

६ घटपथ ब्राह्मण १, १०, ११।

वीथोक्ति^१ के अनुसार विष्णु आदित्यों में सर्वश्रेष्ठ है। महाभारत में विष्णु को बारह आदित्यों में सबसे छोटा पर सबसे युगवान एवं तेजस्वी कहा गया है।^२

वैदिक साहित्य में विष्णु प्राकृतिक सन्नि प्रकाश और तेज के देवता थे। इसीलिए वैदिक साहित्य में उनके आयुषों का उल्लेख नहीं है जबकि इन्द्र एवं मरुत के आयुष वषट् और ऋक् का उल्लेख मिलता है।^३ ब्राह्मण युग में देवता गौण हो गए और यज्ञ को प्रधानता मिली। पौराणिक काल में आकर विष्णु सर्वसन्निताम् एवं सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में अभिष्टित हो जाते हैं। इस सर्वसन्निताम् परमेश्वरत्व का बीज धरतय ब्राह्मण में मिलता है जहाँ प्रजापति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।^४ इस कल्पना का विकास धारम्यक काल में होता है जबकि यज्ञ का महत्त्व बट जाता है और सत्य विषयक दार्शनिक कल्पनाओं को प्राधान्य मिलने लगता है। उदाहरण के लिए, बृहद् धारम्यक में धरतय के स्वाम पर उपा को अन्न का सटीर, सूर्य को आकाश, वायु को प्राणवृत्ति, अग्नि को मुख तथा वर्षा को आरमा आदि मानकर चिन्तन करने के लिए कहा गया है।^५ उपनिषदों में उल्लिखित सर्व सन्निताम् परमेश्वर के अनेक रूप ग्रहण करने की कल्पना ही विष्णु को सर्वसन्निताम् परमेश्वर कह पर जासीन करती है। श्रेष्ठत्व और रूप धारण की स्थापना होते ही विष्णु को मनुष्य से अनेक सन्निताम् विज्ञान के लिए ही उनके रूप और अनेक भुवाओं की कल्पना अङ्कित हुई^६ और विष्णु का चतुर्भुज रूप बंदनीय माना जाने लगा। तादृशवीकर का अनुमान है कि व्यस्त होने के लिए पुरुष और प्रकृति का बोध होने के कारण ही (पुरुष की दो और प्रकृति की दो) चार भुवाओं का उदय हुआ होगा, क्योंकि आज भी मटाठी में विवाह के लिए चतुर्भुज होने की कहावत बनी जा रही है।^७ चार भुवाओं ने जायुषों को बन्ध दिया। बी० राव के मतानुसार आयुष त्रीक रूप में हैं।^८

विष्णु के चार आयुषों (संज्ञ ऋक् यज्ञ पद्य) में सबसे महत्त्वपूर्ण आयुष ऋक् है। ऋक् सूर्य का प्रतीक है तथा किसी-न-किसी रूप में वैदिक बीज एवं बीज वर्गों में बहुल्य बना हुआ है। आरम्भिक वैदिक साहित्य में ऋक् सूर्य का चोतक या ऋक्पाठिका तथा आकाश में सूर्य के निवसित प्रमण का प्रतीक था। ऋग्वेद में सूर्य कपी अक्षयतया अवश्य स्वर्णिम ऋक् को बराने वाले देवता की स्तुति की गई है—ऐसे ऋक् की विस पर सप्तस्त सृष्टि अवलम्बित है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सूर्य-मन्त्र पढ़ते समय रथ के पहियों को घुमाने का उल्लेख मिलता है। ऋक् उन चौदह रत्नों में से पहला रत्न है जो असूत-मन्त्रन के समय समुद्र से निकले थे। बीड एवं बीज वर्गों में भी 'सूर्य-ऋक्' एवं 'सिद्ध ऋक्' की स्थापना है।^९ अहिर्बुध्न्य संहिता में ऋक् परब्रह्म के सृष्टि

१. मीमा, अथर्ववेद, उल्लेख ११।

२. महाभारत, १. १५. १५, कथकथा मंत्रकथ, ११०५, वीणावती प्रेस।

३. ओजोरो मार्वोलीयी ऋक् बीजेट (बीज)।

४. वैदिक मार्वोलीयी / मैन्डोनेस, ५०४।

५. इन्डियन प्रिन्सिपली / ब्रह्मसूत्र १०. १४।

६. ई० भाट, ई०, ५०. १५४।

७. पञ्चम्य बीज बी० बी० भाट, धर्म, ५०. १५४।

८. मैन्डोनेस बीज दिन् मार्वोलीयी, ५०. ११५।

९. ओजोरो मार्वोलीयी पद्य बीजेट / ओज पद्य मैन्डोनेस, ५०. ११५५।

रचना विषयक आवि-विचार के रूप में वर्णित है। परन्तु के इसी अविनाशी विचार को सुवर्णन कहा गया है।^१

विष्णु का बाहन अग्नि के समान तेजस्वी गबरू है जिसे ऋग्वेद में 'गर्भमात' तथा 'मुषमं' कहा गया। इन्हन के विचार में कीस्तुम गति भी पूर्व ही है।^२

इन्द्र-भूम-मुष्ट में इन्द्र की सहायता करने के कारण और मूक रूप में सौर देवता होने के कारण पौराणिक काल में विष्णु बुद्धों का रक्षक तथा सृष्टि का पोषक तथा रक्षण करने वाले प्रतिपादित हुए। यज्ञ-युग में वे सोम के प्रतिनिधि थे। पूर्वज और विश्व-रक्षक सोम पोषक तत्त्व है। पोषक तत्त्व भावा में स्वल्प होते हुए भी व्यापक है। उसमें विकास है, मुक्ता है। इसी सिद्धांत का प्रतिपाद है पूर्व जो देवने में सन्तुष्ट हो रहे हुए भी वृहत्तरकाव है। वायन-रूप का आध्यात्मिक वर्ण है 'वामनो वै विष्णुराज'।

विष्णु रूप में निहित सूर्य का आभास हमें विष्णु विषयक कल्पना के क्रमिक विकास में ही नहीं अपितु प्राचीन मुद्राओं में भी स्पष्ट रूप से मिलता है। ईसा पूर्व तीसरी सताब्दी की ईरानी मुद्राओं पर सूर्य-चक्र कमल का चिह्न मिलता है। पौराणिक चित्र-कला में भी सूर्य-चक्र कमल अंकित है। वे० एन० बर्गो का विश्वास है कि प्राचीन मुद्राओं पर अंकित कमल सूर्य का प्रतीक है।^३ ब्राह्मण-युग में अग्नि-वेदी पर स्वर्णित चक्र रखने की प्रथा भी। यही चक्र सूर्य का प्रतीक होता था।^४ आज भी ब्राह्मणों के वार्षिक-कर्मों में सूर्य का स्नान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

पहले बताया जा चुका है कि ऋग्वेद के 'इदं विष्णु विषय में जेवा निरुने पवन' के अनुसार विष्णु ने अपने तीन उर्ध्वों में समस्त संसार को नाप किया था तथा उनका तृतीय पक्ष परमपक्ष था। यही घटना ब्राह्मण-युग में विवक्षित होने लगी। पृथ्वी को त्रिपक्ष से है तथा परवर्ती काल में पूर्ण विकास को प्राप्त होती है। अतएव पृथ्वी का त्रिपक्ष है ब्राह्मण के अनुसार लोक के विभाजन के समय देव और असुरों में विग्रह प्रारम्भ हो जाता है। असुर इन्द्र को वामन-रूप विष्णु के बराबर भूमि देना स्वीकार कर लेते हैं। वामन भूमि पर बैठ जाते हैं तथा अपनी काया बढ़ाकर समस्त पृथ्वी को ढँक लेते हैं। इस प्रकार देवों को समस्त पृथ्वी मिला जाती है।^५ मैक्समेल के मतानुसार ब्राह्मण-वर्णित यह कथा महाभारत और पुराणों में वामनावतार की कथा का ही एक रूप है।^६ इस प्रकार मनुष्य के लिए दो बार पृथ्वी नापने वाले तथा उसे मनुष्य के विवास एवं अस्तित्व के बोध बनाने वाले ऋग्वेद वर्णित वामन-रूप विष्णु पौराणिक काल में वामनावतार बन जाते हैं। वामन बटु है, ब्राह्मण का है अतः प्रवर्णित वर्ण के अनुसार वह वान का पात्र है तथा दण्ड का नियोजक

१. ऐरिमेवत्त बौद्ध विष्णु आलोचनीयादी : बी० एन. पृ० १८५।

२. ऐरिमेवत्त बौद्ध विष्णु आलोचनीयादी : बी० एन. पृ० १८५।

३. रि वेक्नरमेवत्त बौद्ध ऐरिमेवत्त आलोचनीयादी : बी० एन. पृ० १८५।

४. शास्त्र आलोचनीयादी : बी० एन. पृ० १८५।

५. ऐरिमेवत्त बौद्ध ऐरिमेवत्त आलोचनीयादी : बी० एन. पृ० १८५।

६. ऐरिमेवत्त बौद्ध ऐरिमेवत्त आलोचनीयादी : बी० एन. पृ० १८५।

भी है। इस दृष्टि से यह ब्राह्मणों के श्रेष्ठतम का प्रतिपादक है। इसी तार्किक आधार पर बलि की कथा का विस्तार एवं वामनावतार से उसका सम्बन्ध वर्धनीय है।

बलि की कथा के मुख्य सूत्र पुराणों में मिलते पड़े हैं। वामन-पुराण^१ में बलि के पूजने पर प्रह्लाद उसे धर्म से राज्य करने के लिए कहता है। ब्रह्म-पुराण में बलि-राज्य में ब्राह्मण तथा भूमि ने कष्ट-निवारण के लिए बिष्णु वामन अवतार लेने का ब्राह्मणों को वात्सल्य से देते हैं।^२ वामन-पुराण में बलि हृदि की निष्ठा करता है तथा बलके में प्रह्लाद से साप पाकर उसकी

बलि की कथा बलि की इस कथा में कमल बार प्रतिपादित तत्त्व दृष्टियोंवर होते हैं—बिष्णु की शरण जाता है। प्रह्लाद उसे बिष्णु की शरण में जाने के लिए कहता है।^३ पद्म-पुराण में बलि के नाम देने तथा पाताल जाने का वर्णन है।^४

बलि की इस कथा में कमल बार प्रतिपादित तत्त्व दृष्टियोंवर होते हैं—बिष्णु की सर्वशक्तिमान् देवता के रूप में स्थापना तथा अवतार धारण से लोक की विपत्ति का निवारण ब्राह्मणों का ईश्वर रूप में स्वीकार तथा बलि की महिमा देव और असुरों का हन्त तथा देवताओं में अक्षय्य बिष्णु के रूप में देवताओं की विजय तथा बिष्णु की अवतार-कल्पना।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देव तथा ब्राह्मण-युग में प्रतिपादित कर्मकाण्ड के दृष्टदेव के रूप में बिष्णु की कल्पना काकाश्वर में कमल परमेस्वर के रूप में विकसित होने लगाती है तथा उसका कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

२ पश्चिमी भारत में वासुदेव नामक एक प्राचीन देवता

देवताचीन कर्मकाण्ड की प्रतिभिया-स्वरूप आरम्भक काल की चिन्तन-परक विचार धारा आयों की सकाम उपासना को निष्काम उपासना की ओर प्रवृत्त करती है तथा परवर्ती चालव अपना भागवत धर्म में कृपाशु भगवान् का अविच्छिन्न करती है। तब धर्म के मुख्य उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण कहे जाते हैं और वे ही उसके मूल प्रवर्तक भी माने जाते हैं।^५

वैदिक साहित्य में वासुदेव का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वैदिकीय आरम्भक में एक स्थान पर अवश्य यह नाम आता है पर वह वासुदेव बिष्णु तथा नाटयन की एकता सम्बन्ध हो चुकने के बाद का उल्लेख है।^६ अब वासुदेव की प्राचीनता पर प्रकाश डालने में यह सहायक नहीं होता।

वासुदेव की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाले मुख्यतः दो आधार उपलब्ध हैं। एक प्राचीन ग्रन्थ और दूसरे चिन्तालेख। महाभारत में वासुदेव शब्द की विषय व्याख्या मिलती है। समस्त प्राणिमों को अपनी माया तथा असीम शक्ति द्वारा व्याप्त करने तथा धर्म के रूप में चक्र अपनी किरणों से समस्त संसार को डंक लेने एवं सभी प्राणिमों का अधिवास

^१ वामन पुराण, ७४।

^२ ब्रह्म पुराण, ७१।

^३ वामन पुराण, ७७।

^४ पद्म पुराण, पञ्चादश स्कन्ध, ५१।

^५ देव्यन धर्म १ ११।

^६ देव्यन धर्म, १० १२।

होने के कारण ही बामुदेव 'बामुदेव' कहलाते हैं।^१ महाभारत में एक और उल्लेख भी है जहाँ भीष्म-पर्व में ब्रह्मा परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप ही ने पहले संकर्षण के रूप में अवतरित होकर अपने पुत्र प्रद्युम्न को उत्पन्न किया और प्रद्युम्न से बिष्णु-स्त्री अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई जिससे मेरी रचना हुई थी। उसी के अनुसार अब फिर एक बार आप मनुष्य मानि में जन्म धारण कीजिए।^२ ध्यान देने योग्य बात है कि प्रार्थना में परमेश्वर को बामुदेव कहकर सम्बोधित किया गया है। इसी पर्व के १६वें अध्याय के आरम्भ में कहा गया है कि प्रजापति ने परमेश्वर से विनय की कि आप चलकर मानव योगि में बामुदेव का अवतार धारण कीजिये और परमेश्वर के स्थान पर फिर सम्पूर्ण अध्याय में बामुदेव नाम का ही प्रयोग किया गया है।^३ उपर्युक्त आधारों से स्पष्ट है कि जिस समय महाभारत के रचयिता दमोदर की रचना हुई थी उससे पहले बामुदेव केवल अस्तित्व में ही नहीं थे, बरन् परमेश्वर पद के उच्चासन पर भी बसित हो चुके थे। उस समय तक वे बिष्णु स्वयम् भी नहीं थे, अतः कम में बिष्णु उनसे नीचे हीछरे सिद्ध होते हैं। डा. मांडारकर भी बामुदेव को भक्ति-सम्प्रदाय का प्रवर्तक तथा संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के साथ किसी प्राचीन युग में वर्तमान मानते हैं।^४ महाभारत में बामुदेव शब्द का अत्यधिक प्रयोग भी सिद्ध करता है कि महाभारत के रचना-काल में परमेश्वर का पर्याय बिष्णु न होकर बामुदेव थे। समस्त गीता में जो दो बार बिष्णु शब्द का प्रयोग हुआ है वह भी 'तेज-सूत्र' के अर्थ में हुआ है। गीता बचन 'बृष्णीना बामुदेवोस्मि' बामुदेव का बृष्णि-शुक्र में उत्पन्न होना प्रमाणित करता है। गीता के चतुर्थाध्याय में भी बामुदेव को मनुष्य के उत्तर में रहने वाले किसी राजवंश की संज्ञा माना गया है। इसी पंथ के 'निर्देश' नामक पाणिन शब्द के आधार पर ईसा-पूर्व चौथी सताब्दी में बामुदेव तथा ब्रह्मदेव के साम्प्रदायिक अनुयायियों का पता चलता है।^५

प्रसिद्ध वैशाकरण पाणिनि के एक सूत्र से बामुदेव का किसी सम्प्रदाय-विशेष का उपास्यदेव होना भी सिद्ध होता है।^६ पाणिनि का समर्पण करते हुए पाठ्यंश में भी बामुदेव को बृष्णिनाम माना है।^७ डॉ० मांडारकर पाणिनि को ईसा-पूर्व सातवीं सताब्दी के भी पहले का मानते हैं पर रामचौधरी के मतानुसार उसका काळ ईसा-पूर्व पाँचवीं और छठी सताब्दी के बीच पहुँचता है।^८

गणपत शास्त्रण में एक स्थान पर 'आर्घ्येय' शब्द प्रयुक्त हुआ है जिससे बृष्णिवंश की प्रार्थना का अनुमान किया जा सकता है।^९ महाभारत के आदि-पर्व में एक स्वच्छ पर आपा है कि बामुदेव ने एक बार बृष्णि-शुक्रवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि

१ भ वि अहं ब वैष्णव सेवः । राम चौकरी, पृ १४ ।

२ वैष्णव सर्वे । परशुराम ऋषिचरित, पृ २२ ।

३ अ०, पृ २४ ।

४ २ टी । मांडारकर, पृ १३-१४ ।

५ उपदेवरी भ वि अहं ब० वै पृ ४४ ।

६ २ टी । मांडारकर, पृ १४ ।

७ भ वि अहं वै । राम चौकरी पृ १०४ ।

८ अ० पृ १४ ।

९ अ० पृ १४ १५ १६ १७ ।

१० वैष्णव सर्वे, पृ ४४ ।

पार्य सास्त्रियों को सामग्री नहीं समझते और उसी पर्व में एक अन्य स्थल पर स्वयं वामदेव को भी 'सास्त्र' कहा गया है। इस प्रकार 'वाय्वेय' एवं 'सास्त्र' वस्तुतः एक ही बात पड़ते हैं। बिष्णु-पुराण का बहुमुख-वर्णन तथा यदु के पुत्र कोष्ठ के बंध का विवरण इस बात की पुष्टि करता है। श्रीमद्भागवत से पता चलता है कि सास्त्रतः सोम परमेश्वर को मगवान् वामदेव कहा करते थे। इसी पुराण में वामदेव को 'सास्त्रवर्षम' कहा गया है।^१ डॉ० मोहारकर के पठानुसार 'सास्त्रतः' शब्द बुजिर्बर्षीय के एक अन्य नाम की भाँति व्यपहृत होता था।^२ साम्नि-पर्व के अन्तर्गत 'सास्त्रतः विधि' को सूर्य द्वारा प्रवर्तित कहा गया है जिसकी पुष्टि गीता के सोमहर्षे अध्याय के तीसरे श्लोक से भी होती है।^३ गीता में कहा गया है कि यह छात्रवत् योग भगवान् ने पहले विवस्वान को बताया था।^४ विवस्वान ने यदु को और यदु ने इत्थाकु को बताया तथा वह परम्परा से राज ऋषियों को बिहित था। अतएव फल से बड़े बाने वाले इस योग धर्म के मुख-वर्णनार्थ ही सम्भवतः इस योग-धर्म का नाम सास्त्रत पड़ा हो। बिष्णु-पुराण में यदु क कोष्ठ-कुल की वर्णा है और कहा गया है कि इस कुल में बंध नामक पुत्र हुए थे जिनके पुत्र का नाम उत्पन्न का और उत्पन्न से ही सोम सास्त्रत कहे गये।^५ इस प्रकार सास्त्रत धर्म के प्रवर्तक उत्पन्न सिद्ध होते हैं और इसका एकमात्र प्रमाण बिष्णु-पुराण है। प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि बिष्णु-पुराण कासी परवर्ती संकल्प है। अतः बहुत सम्भव है कि सास्त्रत शब्द 'सत्त्व' से बना हो। स्पष्ट ही धर्माचार के क्षेत्र में 'सत्त्व' परमतरण एवं सात्विकता का पर्याय है। परमतरण कैवल्य है ब्रह्म। अतः उसके स्वयं का विस्तार करने वाले कर्मयोग में रत सात्विक लोग ही 'सास्त्रत' कहलाये हों। गीता के उपर्युक्त श्लोक की रीति से यह भी सम्भव है कि यह महान् धर्म अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ऋग्वेद-काल में अस्तित्व में रहा हो। ऊपर कहा गया है कि ऋग्वेद की रचना किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल की नहीं है, अपितु उसके कई मध्य आयों के पंचतद में आकर बस जाने के पहले के हैं। यह मान लेने पर भी कि वैदिक युग का धर्म प्रामाण्य ब्रह्म या ऋग्वेद में परब्रह्म की कल्पना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। अतः क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि 'सास्त्रत' शब्द श्रुतः 'सास्त्रत' के धर्म में प्रयुक्त हुआ हो तथा आदि धर्म अपने आदि स्थान में जलवायु की धूमिलानुसार वायव्य सास्त्रत शब्द का उच्चारण ही 'सास्त्रत' करते हों। महाभारत के अन्तर्गत नाट्यमयीवोपाख्यान में भी नायक धर्म का निरूपण है उसके अनुसार यह धर्म सर्वप्रथम ब्रह्म-जीव में मारायण द्वारा नारद को प्राप्त हुआ था।^६ इस कथन में निपुण अतीत काल में इस धर्म के विद्यमान होने की ओर संकेत है। महाभारत में भीष्म कहते हैं 'अनन्त एवं वमानु वरमेश्वर को धर्म वामदेव के ही रूप में जानना चाहिए तथा वातुर्धर्म को चाहिए कि उसकी पूजा मक्तिमान से करे।'^७ इस कथन

१. वैष्णव धर्म, पृ० २३।

२. वे० टी०, पृ० २३।

३. द. ल. का. इन्टीरिफेस बुमिन्नी, पृ० ४३३।

४. गीता, ४।

५. वैष्णव धर्म, पृ० २३।

६. गीता पुराण : भा० गं० शिखर, पृ० ६६३।

७. महाभारत, ६६वीं अध्याय।

से भी दो महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं। एक यह कि वक्त रत्नोक्त के रचना-काल के पूर्व वासुदेव्य अस्तित्व में था जिसका समर्पण यीशु ने एक अन्य स्मृति से भी होता है।^१ तथा दूसरी बात यह कि वासुदेव्य के विरोध में सबको ईश्वर शक्ति का अधिकार। इस प्रकार इस विचारधारा का अस्तित्व वही एक और ब्राह्मण-युग के विरोध में प्रतीत होता है वही दूसरी ओर उसका इस युग में वर्तमान होना भी स्पष्ट रूप से निहित होता है। 'वाष्पेय' शब्द की मति 'सात्त्वत' शब्द भी सतपथ ब्राह्मण में आया है और यह शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में अत्यन्त प्राचीन शब्द माना जाता है। इस तरह दोनों शब्द एक से प्राचीन हैं।^२

चतुर्थ धाराओं से प्रकट होता है कि यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन था उसके संपात्य-वेद वासुदेव-कृष्ण से और इस धर्म का प्राबुद्धि पश्चिमी भारत में हुआ था।^३

कई विद्वान् वासुदेव-कृष्ण को दो भिन्न विभूतियाँ मानते हैं। उनके मतानुसार वासुदेव और कृष्ण का एकीकरण मारामय और विष्णु की ही भाँति किसी परवर्ती काल में हुआ है।^४ तथापि भागवत धर्म के सम्बन्ध में बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जाने पर भी वासुदेव और कृष्ण के एकीकरण के कारण के बारे में प्रसिद्ध एवं सुरम्भर विद्वान् मौन हैं। वास्तव में यह प्रश्न सूक्ष्म विवेचन की अपेक्षा रखता है। यद्यपि पर्याप्त प्राचीन साधनों के अभाव में इस विवेचन का स्पष्टीकरण असम्भव-सा कमता है तथापि उपलब्ध साधनों से ही इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। वास्तव में वासुदेव और कृष्ण दो भिन्न विभूतियाँ नहीं हैं। वाणिनि पार्श्वजि महाभारत एवं प्राचीन सिंहासनों के आधार पर ही विद्वानों ने प्राचीन काल में वासुदेव का अस्तित्व एवं उनका भागवत धर्म से सम्बन्ध माना है और साथ ही वासुदेव-कृष्ण को भागवत धर्म का प्रवर्तक भी मान लिया है। वासुदेव शब्द की विद्वद् व्यक्ता महाभारत में मिलती है।^५ उर्षी ग्रन्थ में वासुदेव को वसुदेव का पुत्र भी कहा गया है।^६ पार्श्वजि के महाभाष्य में वासुदेव द्वारा जस के बारे जाने का उल्लेख है। पार्श्वजि ने वासुदेव और कृष्ण दोनों नामों का दो भिन्न स्वर्णों पर कृष्ण के लिए प्रयोग किया है।^७ जिससे निहित होता है कि पार्श्वजि से पूर्व कृष्ण और वासुदेव दो भिन्न व्यक्तियाँ नहीं समझे जाते थे। स्वयं वाणिनि ने भी वासुदेव का उल्लेख किया है तथा यह सभी विद्वान् मानते हैं कि उसके समय में महाभारत की कथा अस्तित्व में थी।^८ स्पष्ट ही वाणिनि से काफी पहले वासुदेव अस्तित्व में रहे चुके थे। अतः यह कहना अनुचित न होना कि वासुदेव वास्तव में कृष्ण ही थे पर वसुदेव के पुत्र होने के कारण तथा ब्राह्मण युग के बहुदेववाद के विद्वद् जिनों द्वारा एनेखरवाद की स्थापना के महत्त्व के विपर्ययार्थ ही महाभारत काल से पूर्व (जो सम्भवतः प्राचीन काल था) उनका वासुदेव नाम ही अधिक प्रचार

१. मत्ता ४/१३।

२. केन्द्य वने ५ १२।

३. ई० भार० ई० ६० २४०।

४. केन्द्य वने ५ १२।

५. महाभारत, २/१०/३ २३/३५३/४६।

६. महाभारत ३/२४/१०।

७. अहम्य—विश्व साहित्य पत्रिका टीपिस्तः ४०० पृष्ठ ४००, नृपिका।

८. वही।

में आया। कृष्ण वासुदेव का गोत्र-वाचक नाम रहा हुआ तथा शायद उनके बर्ण घोटक के रूप में भी प्रयुक्त हुआ हो। महाभारत काल में बर्ण की किंचित् विभिन्नता के कारण केवल कृष्ण को ही नहीं, बल्कि अर्जुन एवं द्रोपदी की भी कृष्ण एवं कृष्णा कहा गया है^१। डॉ० मैकडर के मतानुसार आर्य भारत में एक जाले में नहीं आए थे अपितु उनके कई इस समय समय पर आए थे।^२ सामान्य भाषों से बर्ण-भिन्नता के कारण यदि वासुदेव कृष्ण का किसी आर्यमिश्र बल का वंशज मान लिया जाए तो उत्क्रांतीय परिस्थितियों से कोई विसंपत्ति नहीं होती। स्पष्ट ही कंस, दिसुपाल, जरासन्ध, कालयवन आदि साय जो वासुदेव कृष्ण के समकालीन थे आर्य-संस्कृति से सम्बन्धित नहीं जान पड़ते बल्कि किसी आर्योत्तर सम्प्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं। दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि सर्वप्रथम शत्रु जो वासुदेव के साथ दिलासेकों में अंकित भिन्नता है काष्ठाक्षर में अपभ्रंस होकर श्रीकृष्ण बन गया हो। वासुदेव की व्यक्तिवाचक संज्ञा और 'कृष्ण' का गोत्र नाम होना बौद्धों के 'यत जातक' और 'महा उद्भय' जातक से भी सिद्ध होता है।^३ उपर्युक्त आधारों से सिद्ध होता है कि महाभारत काल के पूर्व से ही कृष्ण और वासुदेव एक ही व्यक्ति थे तथा वासुदेव और कृष्ण को दो भिन्न व्यक्ति समझना सत्य नहीं है।

विद्वानों ने भीता को महाभारत के प्राचीन अंशों में से माना है। भीता में कही भी वासुदेव को मारा गया नहीं कहा गया है। स्पष्ट ही भीता के सम्भवपत्नी बुद्धिकोम एवं परमवत्स के अस्तित्व की स्थापना की देखते हुए भीता की रचना मारायनीय बर्ण के पूर्व की सिद्ध होती है। महाभारत एवं पुराणों के आधार पर वासुदेव-कृष्ण एक अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति सिद्ध होते हैं। पर जिस आधार की कसौटी पर वर्तमान समस्या को कटा गया है उस आधार की प्राचीनता पर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। इतना सभी मानते हैं कि महाभारत अपने उपसंख्य रूप में ईसा-पूर्व सातवीं शताब्दी से लेकर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचना है। कुछ विद्वान् महाभारत का रचनाकाल ई० पू० दसवीं शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक मानते हैं।^४ पर इतना निश्चित है कि पाणिनि-काल में लोगों को महाभारत की भूल कथा भली प्रकार चिन्तित थी। इस भूल कथा में कितने ही शेषक स्वीं न कुछ गए हों वह तो मानना ही पड़ता है कि कृष्ण, अर्जुन और महाभारत युद्ध पाणिनि से सम्भवतः कई शताब्दियों पहले हो चुके थे क्योंकि इस युद्ध की समस्त कथा कृष्ण और अर्जुन पर ही आधारित है। तथा इसमें से एक को भी इन्द्र के पर कथा का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इस प्रकार वासुदेव कृष्ण का ऐतिहासिक अस्तित्व ईसा पूर्व कम-से-कम हजार-आठ सौ वर्ष सिद्ध होता है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित न होगा कि प्राचीन काल में कृष्ण का वासुदेव नाम अधिक प्रचार में था तथा परवर्ती काल में गोपाल कृष्ण की स्थापना के साथ-साथ कृष्ण नाम ने प्रसिद्धि प्राप्त की तथा इस पंथ के स्वतन्त्र अस्तित्व के कारण कृष्ण के वासुदेव से भिन्न होने की भ्रामक विचारधाराएँ अङ्कुरित होने लगीं।

१ श्रीकृष्ण—विश्व भारत पत्रिका टोमिपुत्र : की पन्ना ११४, पृथिका।

२. प्याउट्ट बल-मेरु : भारतीय भाषा, भाग २, पन्ना १०, पृ० २९।

३. वे० से० : अंगवक्त्र, पृ० १४-१५।

४. सीताच केरोडेसिक ट्रेडिशन : सीताच कपूर (यस्यस्य ऑक्ट इंडिया, ११-२ १२१०)।

इस माण्यता का समर्चन प्राचीन सिक्कासेखों से भी होता है। ईसा-पूर्व दूसरी सताव्वी के बेसनगर सिक्कासेख में ग्रीक राजा ऐंटियोखियस के राजतुल्य भागवत धर्माधिकारी हेरियोदो-रस द्वारा देवदेव वासुदेव के नाम पर गङ्गाधर निर्माण करने बेसनगर का सिक्कासेख का उल्लेख है।^१ उन सिक्कासेख की बहुत-सी बातें और अभिरस के उपदेष्टा एवं पीठा के सिद्धान्तों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं।^२ इस सिक्कासेख से कमण्डलीय मुक्त बाणों हेरियोदोर होती है। ईसा-पूर्व दूसरी सताव्वी में देवदेव वासुदेव की माण्यता एवं भागवत धर्म का प्रचार वासुदेव और संकर्यन का उल्लेख कृष्ण के उल्लेख का आधार एवं गङ्गाधर में वरुण की माण्यता जो परम्परागत रूप में वैदिक एवं ब्राह्मण-युग के विष्णु से सम्बन्धित है। स्पष्ट ही इस सिक्कासेख के समय वासुदेव और कृष्ण का ऐक्य स्थापित हो चुका था।^३ मेगास्थनीज एवं एरियन नामक यूनानियों के लेखों से जो बङ्गाल के काष्ठ में ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थे वासुदेव एवं कृष्ण तथा मथुरा के प्रतिष्ठान का पता चलता है।^४ पाणिनि के भी एक सूत्र से विदित होता है कि वासुदेव व्यक्ति किसी शत्रिय वंश का था।^५ वासुदेव के विषय में पाणिनि द्वारा किया हुआ उल्लेख समस्या पर अविश्व प्रकाश नहीं डालता अतः यह अनुमान करना कि पाणिनि के समय में वासुदेव एक अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति थे अनुचित न होया। डॉक्टर भांडारकर भी मान्यता है कि पाणिनि के समय में भागवत-धर्म प्रचार में था।^६ ऐसी दृष्टि में वासुदेव यदि पाणिनि के सौ-सौ वर्ष पूर्व विद्यमान रहे होते तो पाणिनि को उन्हें किसी शत्रिय वंश का मानने की आवश्यकता न पड़ती। इतना ही नहीं पाणिनि का उल्लेख अधिक स्पष्ट एवं निश्चयवाचक होता। अतः यह अनुमान करना कि वासुदेव पाणिनि से कई सताव्वीयों पूर्व विद्यमान थे सर्वथा अनुचित न होया। इस मत का समर्थन आम्बोव्य उपनिषद् में देवकी-युग के उल्लेख से एवं जैन धर्म के आधार पर भी होता है।^७ अतः कृष्ण का समय ईसा-पूर्व नवीं सताव्वी के उपरान्त का नहीं प्रतीत होता।^८ तथ्यमय यही काष्ठ मैक्समूलर ने ब्राह्मण धर्मों की रचना का काल माना है। इस प्रकार वासुदेव एवं भागवत अथवा सात्वत धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रियात्मकता उसका समकालीन प्रतीत होता है तथा इस तरह इस धर्म के विकास के कारणों पर भी पुनः प्रकाश पड़ता है।

उपनीषदी के मतानुसार सात्वत एवं कृषि लोग ब्राह्मण-काष्ठ में विद्यमान थे तथा आरम्भिक वैदिक-काष्ठ में कम-से-कम उनका एक प्रसिद्ध धर्म प्रवर्तक अस्तित्व में था तथा तुल्य सिक्कासेख के आधार पर सात्वतों का कार्य होना भी विदित होता है।^९ इस आधार

१. वे. से. पांडुरंग, पृ. ३-४।

२. अ. वि. वे. राज. कोश, पृ. ३६-३७।

३. मेरियोदोर और द. माग्नेथोमिक्स कोश इटाली, नं. ३, पृ. १।

४. अ. वि. वे. पृ. ३६-३७।

५. मैक्समूलर, पण्डितान्त, पृ. ३७।

६. भांडारकर पृ. ३-४।

७. वेदधर्म पण्डितान्त, पृ. ३१।

८. अ. वि. पाठ. वे. राज. कोश, पृ. ३६।

९. पृ. ३७-३८।

पर भी बासुदेव कृष्ण की प्राचीनता का समर्पण होता है तथा बराह्मण कंड, छिन्नुपास, काष्ठ्यमग आदि बरिषों का आर्येतर संस्कृति के अनुयायी एवं सिद्ध का उपासक होना सिद्ध होता है। महापद्म ज्ञानकोष में डॉ० केतकर द्वारा भारत में भाषों के पूर्व तथा उनके सम-कालीन देश संस्कृति के अस्तित्व की ओर किया हुआ संश्लेष तथा महाभारत युद्ध से सम्बन्धित ही वर्ष पूर्व बासुदेवी युद्ध की सम्भावना इस बात का समर्पण करती है^१ तथा वैदिक-काल में प्रचलित मामों को ओर भी विस्तृत अतीत की ओर के जाती है।

जिस काल में विष्णु बाह्मणों द्वारा यह देवता के रूप में पूज्य वे उसी काल में कुछ खनिज जातियों की स्वतन्त्र धार्मिक विचारधारा भागवत अथवा सात्त्विक सम्प्रदाय के रूप में बाह्मणेतर देश में यानी भारत के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश में जहाँ बाह्मणों का अधिक प्रभाव न था अस्तित्व में थी तथा यह धर्म को आरम्भ में उन जातियों तक ही सीमित था जिनका दक्षिण की ओर फैल रहा था।^२

ऐकान्तिक दृष्टि से इन दोनों विचारधाराओं में काफी अन्तर था। बाह्मण धर्म में अनेक देवताओं को मान्यता मिली थी। धर्म का प्रमुख अंग था यज्ञ और विष्णु यज्ञ-रूप होने के कारण अन्य सभी देवताओं से श्रेष्ठ माने जाते थे। देवता की प्रशंसा करने के लिए बलि देने की प्रथा भी तथा लक्ष्म का त्रैलोक्य समृद्धि प्राप्त करने के साधन-साध विष्णु के परमपद की प्राप्ति। दूसरे धर्मों में बाह्मण-युग की साधना अधिक परमात्मोपासना के ही अनुरूप थी तथा शेष वा ध्यान योग^३ को परमात्मा-विषयक भ्रष्टा पर आधारित था। सात्त्विक अथवा भागवत धर्म में, जो स्वयं भी कर्मकाण्ड पर आधारित था इस धार्मिक विचारधारा में सुचारु करते हुए बहुदेववाद की बगल एकेश्वरवाद की स्थापना की तथा साधना यज्ञ में अमर्य मक्ति को प्रमुख स्थान दिया। इस धर्म के अन्तर्गत परमात्मोपासना की बगल आत्मोपासना को महत्व दिया गया तथा ध्यान एवं भ्रष्टा का स्थान ज्ञान एवं भक्ति से ले लिया। हिंसा की बगल बहिंसा की मान्यता मिली। इस तरह देखा जाए तो बासुदेव द्वारा वैदिक युग के कर्म काण्ड एवं प्राचीन सांख्य तथा योग का सम्मिश्रण नामवत धर्म में हुआ। भागवत अथवा सात्त्विक धर्म के प्रवर्तक बासुदेव एक महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व एवं उपदेश से प्रभावित होकर ही उनके अनुयायी सात्त्विकों ने उनके जीवन काल में ही उन्हें अपना उपास्य देव स्वीकार किया तथा परवर्ती काल में वे पूर्ण परब्रह्म स्वरूप समझे जाने लगे। महाभारत में हमें उनके यही दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं।^४

ये दोनों प्रकार की धार्मिक विचारधाराएँ एक ही काल में दो विभिन्न प्रदेशों में पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुकी थीं तथा दोनों का आचार लगभग एक होते हुए भी साम्यताएँ विभिन्न होने के कारण दोनों के उपास्य देव बासुदेव एवं विष्णु का बासुदेव तथा विष्णु का ऐश्वर्य अस्तित्व पृथक्-पृथक् बना हुआ था। कामान्तर में इन धार्मिक विचारधाराओं की प्रतिनिधित्वरूप बौद्ध एवं जैन धर्मों के अन्तर्गत गिरौदवरवाद की स्थापना होती ही जहाँ एक ओर इस नूतन धर्म के

१ महापद्म ज्ञानकोष, पृ० ७७।

२ अ. ध. वि. भा. वि. पृ० १६-७०।

३ वैष्णव धर्म : लक्ष्मण गुरुदेवी, पृ० १४।

४ वैष्णव धर्म, पृ० १५।

एकीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ दूसरी ओर विष्णु एवं वासुदेव सभ्यों में निहित 'व्यापकता' ने भी इस दिशा में सहायता पहुँचाई।^१ अतः यह अनुमान करना समुचित न होगा कि निरीस्वरवाच की यह भी वैतना तथा विभिन्न धार्मिक मतों का अस्तित्व ही इस एकीकरण का प्रधान कारण बना। वासुदेव कृष्ण के एकीकरण से वहाँ एक ओर दो विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का गठबन्धन हुआ वहाँ दूसरी ओर दोनों के उपास्य देवों की कल्पनाओं में भी स्वल्प की दृष्टि से आशान-प्रधान हुए। विष्णु जो पहले केवल यज्ञ से सम्बन्धित एक श्रेष्ठ देवता माने गए थे अब सर्वव्यापी परमेश्वर समझे जाने लगे। यह परमेस्वर पद एकीकरण के पूर्व केवल वासुदेव को ही प्राप्त था। दूसरी ओर वासुदेव भी धर्मिण आस्तियों के उपास्य देव के आह्वानों द्वारा स्वीकार किए गए तथा परवर्ती काल में वे विष्णु के पूर्वावतार भी मान लिए गए।

महाभारत के प्राचीन अंशों की रचना के समय तक सात्वत अधवा भामवत वर्ग का ही प्रचार था। उस समय तक विष्णु केवल एक आश्रित देवता थे।^२ इसीलिए पीठा में वासुदेव को आस्तियों में विष्णु बताया गया है।^३ वासुदेव और विष्णु का ऐक्य ज्ञान और कर्म के एकीकरण को स्थापित करता है। इससे विदित होता है कि वासुदेव तथा विष्णु का एकीकरण महाभारत के रचनाकाल के बाद की घटना है। वेदमन्त्र-सिद्धान्त के आचार पर यह भी कहा जा सकता है कि यह एकीकरण ईसा-पूर्व दूसरी सताब्दी तक सम्पन्न हो चुका था तथापि अभी वासुदेव की उपासना स्वतन्त्र रूप से भी जारी आ रही थी। ऐसी रक्षा में प्रसन्न उठना है कि इन दोनों देवताओं से सम्बन्धित इस संमिश्र धार्मिक विचारवाच को कालान्तर में वैष्णव नाम ही क्यों मिला? इस प्रश्न का समाधान परवर्ती काल में प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का अध्ययन करने से हो जाता है।

वैष्णव शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग महाभारत के अस्तित्व भाग में हुआ है।^४ पाय चौबरी महाभारत के इस भाग का रचनाकाल ईसा की पाँचवीं सताब्दी मानते हैं।^५ अतः यह मानना अनुचित न होगा कि ईसा के बाद पाँचवीं सताब्दी तक विष्णु किसी सम्प्रदाय विशेष के उपास्य देव नहीं माने जाते थे अपितु वे केवल यज्ञ से ही सम्बन्धित विष्णु के पोषक एवं पालक देवता के रूप में ही सम्बन्धीय थे। डॉ० भांडारकर के मतानुसार भगवद्गीता तथा अनुगीता के रचनाकाल के बीच वासुदेव कृष्ण और विष्णु का एकीकरण हो चुका था क्योंकि अनुगीता में कृष्ण द्वारा उक्तानक ज्ञापि को धारणा विराट् रूप दिखाने का उल्लेख है जिते वैष्णव रूप कहा गया है।^६ पर पीठा में इसी रूप को 'विश्व-रूप' कहा गया है जो कृष्ण ने अर्जुन को दिखाया था। डॉ० भांडारकर के अनुसार इसी आधार को प्रमाण मान लिया जाए तो पीठा में भी अर्जुन ने कृष्ण को दो बार 'विष्णो' शब्द से सम्बोधित किया है। पर वरुण इस शब्द का प्रयोग वहाँ कृष्ण के तेजपुत्रमय रूप-भूष को सम्बोधित करने के लिए

१ देव्यर वर्म, पृ० ५२।

२ देव्यर वर्म, पृ० ५४।

३ पीठा २०।२१।

४ महाभारत १।५।१।१०।

५ प। वि. पी. के. पृ० १८।

६ पी. पी. भांडारकर, पृ० १८।

ही हुआ है, क्योंकि पीठा के ही अणु उल्लेख के अनुसार विष्णु आदित्यों में सर्वश्रेष्ठ है। अतः डॉ० आचारकर का अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता।

ब्रह्म विहित कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया-स्वरूप कर्म से विमुख होकर सत्य की खोज में एक दूसरी विन्दनपथक बिभारभारा विकसित होती है^१ तथा ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति विषयक कल्पना^२ प्रबल होकर नारायण की सृष्टि के रचयिता के नारायण तथा रूप में अभिविष्ट करती है। ऋग्वेद के नारायण वस्तुतः ऐतिहासिक नारायणसौम्य धर्म अपना पौराणिक न होकर पूर्ण रूप से वातावरण के देवता वे।^३

वेदोत्तर साहित्य में नारायण धर्म का सर्वप्रथम उल्लेख सतपथ ब्राह्मण^४ में मिलता है जहाँ पुण्य नारायण द्वारा यज्ञ वेदी में मनु, धृतराष्ट्र तथा आदित्यों का प्रातः, मध्याह्न एवं सांध्य अर्घ्य के रूप में भेजे जाने तथा उनके स्वयं वेदी पर अभिविष्ट होने का उल्लेख है। इस उल्लेख के अनुसार नारायण सभी लोकों देवताओं एवं वेदों में व्याप्त है तथा इन सबका अभिवादन नारायण में है। इस प्रकार नारायण यहाँ वैदिक कल्पना के अनुरूप परमात्मा के स्वरूप में अभिविष्ट मिले गए हैं।^५ इसी ब्राह्मण में पुण्य नारायण के प्रथिमान में श्रेष्ठतम प्राप्त करने तथा उनमें वास करने के लिए पश्चिमत स्रज करने का भी उल्लेख मिलता है तथा नारायण के यज्ञ करने तथा सर्वथ वृत्त बन जाने का वर्णन है।^६ ऋग्वेद में पुण्य सृष्ट के रचयिता को भी नारायण कहा गया है।^७ डॉ० आचारकर के मतानुसार पुण्य सृष्ट के रचयिता को नारायण मानना पुण्य और नारायण की कल्पना पर आधारित है जो सतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित होती है।^८ नर और नारायण की यही कल्पना मनु^९ से भी होती है जहाँ ब्रह्म की नर से उत्पत्ति होने के कारण उसे नार कहा गया है और ब्रह्मा और हरि का निवास ब्रह्म पर होने के कारण वे दोनों नारायण कहा जाए है। नर और नारायण की इस द्वैत कल्पना का बीच ऋग्वेद साहित्य एवं माण्डूक्य उपनिषद् में भी उपलब्ध होता है।^{१०} जहाँ ब्रह्मा और परमात्मा के रूप में दो पक्षियों का उल्लेख है।

तेजोवीर्य आचार्य^{११} में नारायण में उन सभी मुक्त-धर्मों की स्थापना हो जाती है जो उपनिषदों में परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ब्रह्माचार और पुण्य में वे परमेश्वर समझे जाने लगते हैं तथा उनका सम्मान्य विशेष रूप से सृष्टि की रचना से माना जाता है। पौराणिक दृष्टि से यही पौराणिक भगवान् श्वेत-दीप के जेपछायी नारायण हैं।

१ प विष्णु श्रौत इतिहास क्लिप्ताको : अथ श्रुत, भाग १, पृ० १४।

२ ऋ० १०।१२।५-६।

३ वे० टी० आचार्य, पृ० ११।

४ सतपथ ब्राह्मण, १२, १, ४।

५ वे० टी० आचार्य, पृ० ११।

६ सतपथ ब्राह्मण ११, ५, १।

७ ऋ० १०।१०।

८ वे० टी० आचार्य, पृ० ११।

९ मनु, १, १०।

१० वे० टी० आचार्य, पृ० २८।

११ तेजोवीर्य आचार्य, १०, २१।

महाभारत में ब्रह्मा की उत्पत्ति नारायण की नाम से मानी गई है।^१ इसी प्रश्न के नारायणीयोपाख्यान में नारायण का निवास ब्रह्म-द्वीप में माना गया है जो बिष्णु के बैकुण्ठ से मिलन है। इसी उपाख्यान में नारायण स्वयं नारद को वासुदेव नारायण वासुदेव तथा का कर्म बतलाते हैं तथा वासुदेव को सृष्टिकर्ता परमात्मा एवं बिष्णु संप्रदायों का एकी- सर्वस्व कहते हैं। यहाँ कृष्ण के ऐकान्तिक धर्म अथवा परमात्मा के करने तथा उसमें धामीर प्रति एकनिष्ठ भक्ति से ही परमात्मा-प्राप्ति का प्रतिपादन किया जाता है। वासुदेव का नाम है। भावगत धर्म का यह नारायणीकरण नारायण तथा वासुदेव के एकीकरण का प्राथमिक संकेत प्रतीत होता है। कथा-सहितस्वरूप में नारायण ब्रह्म-द्वीप में द्वेपाख्या पर आसीन है तथा कदमी उनके पैर दबाती हुई विविल है।^२ महाभारत के वन-पर्व में अक्ष-प्रकल्प-वर्णन के अन्तर्गत वासुदेव की कथा करने वाले वासुदेव नारायण का उल्लेख है।^३

ऐकान्तिक दृष्टि से नारायणीय एवं भागवत धर्मों में अन्तर तो है ही नहीं बल्कि नारायणीय धर्म में वासुदेव को मान्यता देकर भागवत धर्म में प्रतिपादित अन्त्य भक्ति का ही हड़ता से समर्थन किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि वेद एवं उपनिषद्वादी नारायण की कल्पना को मूल रूप में उन्हें वातावरण के वेदों के रूप में मान्यता देती थी महाभारत-काव्य तक आकर उन्हें परमात्मा पद पर आसीन करके ब्रह्मीय बना देती है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'हरि' शब्द का प्रयोग जो पहले इन्द्र के लिए होता था इसी परमात्मा स्वयं नारायण के लिए हुआ है।^४

पहले कहा गया है कि वासुदेव-कृष्ण तथा बिष्णु का एकीकरण गीता के पश्चात् प्राथमिक काव्य में हुआ है। यही काव्य वासुदेव एवं नारायण के एकीकरण का काम माना जा सकता है^५ क्योंकि गीता में नारायण के उल्लेख के अभाव से स्पष्ट सिद्ध होता है कि नारायणीय धर्म की स्थापना—नारायण की कल्पना प्राचीन होते हुए भी—बाद की बटन है। डॉ० मांडवकर का अनुमान है कि गीता के रचनाकाल तक वासुदेव एवं नारायण का एकीकरण नहीं हुआ था न ही नारायण बिष्णु के अवतार माने जाते थे।^६ उनका यह भी अनुमान है कि वासुदेव का महत्त्व बढ़ जाने के उपरान्त वासुदेव और नारायण का एकीकरण हुआ।^७ इस मत से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है।

महाभारत में नारायण एवं नारायणीय धर्म के विषय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनमें भी यह सिद्ध होता है कि नारायणीय धर्म की स्थापना गीता के पश्चात् की बटन है। यद्यपि नर-नारायण की कल्पनाएँ प्राचीन थीं। महाभारत में^८ वैशम्पायन वनमेख्य से

१. महाभारत ३।१९।१५ तथा ११।१५।१८।

२. वी० टी० बेंडोपाध्याय, पृ० १२।

३. महाभारत, वन पर्व अध्याय १८५, १८६।

४. वेदेषु क्रमे ५।१६।

५. वी० टी० बेंडोपाध्याय, पृ० १२।

६. वी० टी० बेंडोपाध्याय, पृ० १३।

७. वी०, पृ० १२।

८. महाभारत भाष्य ३।६।

कहते हैं कि स्वर्ग नारायण ने जी स्वर्ग नारायण को बताया था वहीं हरिणीता में जनमेजय को बताया गया है। यह ऐकांतिक धर्म नहीं है जो कृष्ण ने अर्जुन को बताया था। तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड के आरम्भ में इस धर्म की स्थापना नारायण ने की थी। चौथे ब्रह्माण्ड-काल में इस धर्म को दो बार सात्वत धर्म कहा गया है तथा इसी ग्रन्थ में इस धर्म का उपदेश परम्परा के रूप में नारायण से प्रजापति ब्रह्म विवस्वान तथा इक्ष्वाकु को प्राप्त हुआ बताया गया है।^१ तथा कहा गया है कि नारायण को नहीं देख सकता है जो उनका एकनिष्ठ भक्त हो। इसीलिए नारायण को नारायण के एकनिष्ठ भक्त ने नारायण का दर्शन पा जाते हैं। नर-नर^२ में अर्जुन एवं बलार्जुन नर और नारायण कहे गए हैं तथा दोनों के अभेद का भी प्रतिपादन किया गया है। उद्योग-पर्व^३ में कहा गया है कि अर्जुन एवं बालुदेव परम्परा द्वारा प्राचीन नर-नारायण हैं।

बालुदेव एवं नारायण धर्म में केवल वैदिक दृष्टि से ही अभेद नहीं है वरन् मारायणीय धर्म पूर्ण रूप से सात्वत धर्म पर ही आधारित है। इतना ही नहीं महामारुत के उपर्युक्त उल्लेख भी गीता में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ही आधारित प्रतीत होते हैं तथा महामाण्ड-काल में बालुदेव को ही नारायण भी मान किया गया है तथा इस मान्यता के समर्थनार्थ ही नारायणीयोगोपाख्यान का समावेश महामाण्ड में किसी परवर्ती-काल में हुआ जान पड़ता है।^४

महामारुत के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में नर-नारायण की बन्धना से भी इसी मत की पुष्टि होती है तथा स्पष्ट रूप से विवक्षित होता है कि उस समय तक बालुदेव और अर्जुन का नर-नारायण के साथ एकीकरण हो चुकने के कारण ही महामाण्ड में नर-नारायण स्तुति के पान समझे जाते हैं। इस बात में नारायण धर्म की महत्ता प्रतिपादित होते हुए भी गौरव रह जाती है तथा बालुदेव की परमात्मा के रूप में स्थापना की ही महत्ता अभिव्यक्त होती है।

बालुदेव विष्णु एवं नारायण का एकीकरण इन दोनों सम्प्रदायों के विचार-धाम्य एवं मत के तत्कालीन प्रकार एवं ऋद्ध तथा तीन धर्मों के अन्तर्गत निरीस्वरवाक की स्थापना की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रतीत होता है।^५ महामारुत में धर्म की स्तुति तत्कालीन मिथुन धार्मिक मतभेद की ओर इंगित करती है। इसी मतभेद के फलस्वरूप तत्कालीन धार्मिक विपत्तियों में समता की स्थापना के लिए विष्णु में विभिन्न सम्प्रदायों को अन्तर्निहित करने एक ही परमेश्वर की स्थापना को मांगना बेकर व्यावहारिक रूप में एक व्यापक धर्म की स्थापना हुई जो काकातर में वैष्णव धर्म कहलाई। इस व्यापक धर्म का वैष्णव धर्म कहलाने तथा

१ महामाण्ड, अध्याय २५०।
२ वे से माण्ड्यकर १७।

३ अर्जुन ११७।

४ अर्जुन ११७, ११८।

५ अर्जुन-पर्व ५६, ५७।

६ वे से माण्ड्यकर ११२।

७ अ. वि. भा. २००। उप. भा. ११०।

विष्णु की परमात्मा रूप में स्थापना एवं मायता के पीछे कई कारण दृष्टिगोचर होते हैं। सबसे पहले विष्णु को वैदिक देवता के भेद-बिधित विशेषताओं के कारण ब्राह्मण-काल में धर्म देवताओं में श्रेष्ठ समझे जाने लगे थे तथा महाभारत-काल तक आकर वे नारायण के साथ समान एक रूप भी हो गए थे।^१ नारायण मुख्यतः सृष्टि के रचयिता एवं विज्ञान के देवता होने के कारण विष्णु का महत्त्व बढ़ गया। नामन-रूप में अवतारवाच का बीच निहित होने के कारण तथा गीता में अवतारवाच की स्थापना होने के कारण स्पष्ट हैं। बासुदेव से एकीकरण के लिए अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा विष्णु ही अधिक योग्य समझे गए। बासुदेव की अपेक्षा विष्णु को अधिक महत्त्व प्रदान करने के पीछे ब्राह्मणों का विशेष प्रयास अभिमत होता है। इस प्रारम्भ की पुष्टि महाभारत के आधार पर ही हो जाती है जहाँ धर्मनिष्ठ ब्राह्मण बासुदेव कृष्ण को नारायण मानना अस्वीकार करते हैं।^२ महाभारत में निर्दिष्ट यही विरोध गीता के रचना-काल में भी विद्यमान प्रतीत होता है जिसकी पुष्टि पीठा से हो जाती है।^३ अतः हम मानते हैं कि बासुदेव कृष्ण एवं विष्णु नारायण के एकीकरण के पीछे ब्राह्मण-धर्म की विचारधारा ज्ञान प्रबलता से काम करती रही है तथा परिस्थितिवश शास्त्र वा मानवत-धर्म को आत्मसात करके विष्णु की परमात्मा पद पर स्थिपित करती है। इस एकीकरण के पक्षस्वरूप विष्णु वैदिक और देवता न रहकर उनका स्वल्प सीताविरहित व्यापक परब्रह्म के रूप में निरिक्त होता है। विष्णु के इस नवीन स्वरूप-परिवर्तन के कारण ही शायद शास्त्र वा मानवत-धर्मावलम्बियों को नवीन स्थापना को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं हुई।

डॉ० भांडारकर इस एकीकरण में ईशा की पहली शताब्दी में योगाङ्ककृष्ण का भी समावेश मानते हैं। उनका अनुमान है कि योगाङ्ककृष्ण को बाद में बासुदेव कृष्ण में एक रूप हो गए, किन्ती अभीर भाति के देवता के जो ईशा की पहली शताब्दी के समान आठ में आकर बस गई थी तथा इस देवता की बाल-बीछाई ईशा पर आधारित है।^४ डॉ० भांडारकर का यह संदिग्ध प्रतीत होता है क्योंकि 'अम्बर' नाम को 'अभीर' का पर्याय है एवं अभीर भाति की सूचित करता है। ईशा से कई शताब्दियों पूर्व आठ में विद्यमान था तथा इस भाति के लीम पाण्डु बंध के साथ समान देव में आ गये थे।^५ तिरुक् के मतानुसार योगाङ्क कृष्ण और कोई न होकर बासुदेव कृष्ण ही हैं। तथा कृष्ण का बाल-बीछा-धर्म पर बर्ती नरुणार्थ है।^६ डॉ० भीमरी ने डॉ० भांडारकर के मत के आधारों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए योगाङ्क कृष्ण को बासुदेव कृष्ण ही माना है जो सर्वथा पुष्टिपूर्वक प्रतीत होता है।^७ योगाङ्क कृष्ण को बासुदेव कृष्ण मान लेने पर भी योगाङ्क कृष्ण सम्प्रदाय के रूप में बासुदेव कृष्ण के प्राचीन रूप और मायताओं में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

१ म० वि० बी० २ : एन सीपी, पृ. १२४।

२ यदी, पृ. १००।

३ पी० ३११, ३१२।

४ डी टी बॉयलर, पृ. १५।

५ अमित पटेल ईश्वर धर्म के लो—बी० कनक सपार्त, पृ. १०।

६ पी० रायल : डा. पी० तिरुक्, पृ. १२३।

७ म० वि० बी० २ : एन सीपी, पृ. १३६-३७।

छात्रोपनिषद्, मैत्रसमीक का इंडिका पार्तबकि का महाभाष्य बीडों का घट—बातक इत्यादि के अनुसार, जिन्हें प्रायः सभी विद्वान् कृष्ण से सम्बन्धित समझे प्राचीन उपनिषद् आधार मानते हैं।^१ कृष्ण एक परम मोड़ा तथा महायोगी ही सिद्ध होते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि महाभारत के प्राचीन अंशों के रचना-काल तक वे एक महापुरुष और ब्रह्म के प्रवर्तक के रूप में ही अविच्छिन्न होते हैं। स्पष्ट ही इन सब शब्दों में उनका उदात्त चरित्र ही सर्वत्र अंकित है और वह भी उनके पाण्डवों के सम्पर्क में जाने के बाद का है। छेक इसके विपरीत उनके चरित्र के अन्तर्गत शृंगार-लीलाओं का समावेश जो मुख्यतः हरिवंश, भागवत आदि पुराणों में विस्तार पाया है, निश्चय ही बाद का आतिष्कार प्रतीत होता है। कृष्ण के चरित्र में इन लीन बातों के समावेश का ब्रह्म खोजने के लिए महाभारत हरिवंश एवं अन्य पुराणों के आन्तरिक आधारों का विवेचन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह समावेश कृष्ण चरित्र में वह लीन मोड़ है जिसके सहारे कृष्ण से सम्बन्धित प्रायः सभी परवर्ती सम्प्रदाय बचते हैं।

कृष्ण की कथा विष्णु, ब्रह्म, भागवत, ब्रह्मर्षिचर्य स्कन्ध, रामन तथा कूर्म पुराणों में मिलती है। अन्य पुराणों में वह बहुत ही संक्षेप में दी गई है तथा उपर्युक्त पुराणों की कथा से विभिन्न नहीं है। विष्णु तथा ब्रह्म पुराणों में बर्णित कथा अत्यन्त एक ही है तथा द्रष्टव्य रूपसे अम्बाओं में दी गई है। इन दोनों पुराणों में एक जैसे अम्बाओं का होना किसी एक का अनुकरण न होकर दोनों का आधार कोई अन्य प्राचीन प्रसिद्ध पुराण प्रतीत होता है।^२ तथापि काश्चित् के समकालीन अमरसिंह द्वारा पुराणों के विषय में बताये हुए मतानुसार विष्णु-पुराण में विद्यमान होने के कारण इसे उपलब्ध सभी पुराणों से बड़े का माना जा सकता है। साथ ही वह महाभारत के मूल स्वरूप के परचाय का है क्योंकि उसमें महाभारत में वर्णित कृष्ण का चरित्र संक्षेप में देकर उनके आन्तरिक जीवन का ही अधिक वर्णन है। हरिवंश, जो कृष्ण कथा का दूसरा स्रोत है विष्णु-पुराण के बाद की रचना है। उसकी कथा विष्णु-पुराण पर आधारित प्रतीत होती है, क्योंकि वहाँ एक ओर हरिवंश की कथा विष्णु-पुराण की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्ण है वहाँ दूसरी ओर पूतना को राखसी कहा गया है जो विष्णु-पुराण में केवल बच्चों का बच करने वाली स्त्री के रूप में प्रस्तुत की गई है। इस तरह विष्णु-पुराण के रचना-काल तक आकर प्राचीन प्रचलित कृष्णकथा में एक लीन विचारधारा का समावेश हो जाता है जो मक्ति के आचरण में कृष्ण और योगियों के बीच सहाय-शृंगार की कलागणों को स्वीकार करके परवर्ती साहित्य-संरचना में निश्चित प्रभाव का काम करती है।

अतः हम देखते हैं कि बासुदेव कृष्ण और विष्णु के एकीकरण में विष्णु-पुराण एक महत्वपूर्ण कार्य करता है तथा इस तरह कृष्ण में उन सभी गुण-बोधों का आरोपण कर देता है जो वैदिक एवं ब्राह्मण-गुरुओं में विष्णु से सम्बन्धित थे।^३

१ अ० वि० घाट ने०, राज-पीकरी, पृ० ६३।

२ डी० एन० पात्र—बातक टीबिन्स और भीष्म—प्रकाशना।

३ ऐतिहासिक रिसर्च, कलकत्ता १, इ० १९६८-६९ तथा डी० एन० घाट ने०, १९६८-६९।

४ अ० वि० घाट ने०, राज-पीकरी, पृ० ७४।

✓ अन्वेष में बिष्णु गोप हैं। उनके यहाँ सूरिश्रृंग गायों का आवास है।^१ अतः कृष्ण भी बोधायन बन जाते हैं। अन्वेष में बिष्णु संकर को हराते हैं। कृष्ण भी कस का बन करते हैं। बोधायन-सूत्र के अनुसार बिष्णु गविश्व तथा रामावर हैं। कृष्ण भी गविश्व और रामो वर हैं। अन्वेष में बिष्णु बास्व न रहकर सुवासत्वा को प्राप्त करते हैं^२ तथा यास्क के शब्दों में 'कुत्तिशार्ङ्गोऽयं पूर्वं प्रसीति में बिष्णु की काम-सम्बन्धी कई लीलाओं का संकेत मिलता है^३ जो कालान्तर में कृष्ण की विशेषता बन जाती है। बामन-रूप में ध्वनिद शक्त तो कृष्ण की कई लीलाओं की आधार भूमि बन जाता है। प्राचीन भाषा के भीम-काम्य में बिष्णु की सुन्दर पृथ्वी देवी पर आसक्ति तथा बराह रूप में उसके साथ संभोग करके नरकासुर की वसति का वर्णन है।^४ मछाया में पृथ्वी के विषय में बिष्णु की इसी आसक्ति का विभिन्न परिचित रूप मिलता है। यहाँ बराहकी बिष्णु पृथ्वी ग प्रवेश करके एक प्रवाल देवते हैं तथा राक्षस का रूप धारण करके पृथ्वी देवी के साथ वलपूर्वक संभोग करते हैं।^५ कृष्ण पर बिष्णु के धुन-बनों का यह आरोपण जहाँ एक ओर बामुदेव-बिष्णु के एकीकरण के फलस्वरूप इष्टिगोचर होता है वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिकता के हाथों बिष्णु को तटस्थ रख कर कृष्ण-परिच में अवशिष्टनीय तत्त्व का गौण रूप से समावेश करने का चतुर प्रयास भी प्रतीत होता है।^६ कृष्ण का चरित्र यदि सचमुच शृंगार से ओतप्रोत होता तो विष्णुपाठ जो ब्रह्म-सूत्रा के समय कृष्ण की उदरकर निष्ठा करता है उन्हें कामुक कहे बिना न रहता।^७ अन्य पुराण मन्त्रा-मन्त्र के समय कृष्ण को पाँच-सात वर्ष का बालक मानते हैं^८ तथा मन्त्र से उनके ब्रज को छीटने का कही संकेत ही नहीं मिलता। ऐसी दशा में शृंगार का प्रसंग ही कहाँ उठता है।

उपसृत विश्लेषण से प्रतीत होता है कि गोपालकृष्ण कोई परवर्ती देवता न होकर बामुदेव और बिष्णु की एकता से प्रतिफलित एक कल्पना है जो साधारण होकर परवर्ती काक में विभिन्न सम्प्रदायों एवं धार्मिक विचारधाराओं की प्रवाहित कपटी है।

इस एकीकरण में पाँचराज तथा मागध-वर्म के सम्मिलन द्वारा एक नये भक्ति-भार्य का उदय होता है जो परवर्ती काक में बहुवीच की कैकर अनेक सम्प्रदायों का धर्म देता है।

पाँचराज में बामुदेव की अन्य व्यूहों के साथ स्थापना होते हुए भी वह कृष्ण के ऐकान्तिक धर्म से निम्न प्रतीत होती है यद्यपि दोनों धर्मों के अन्तर्गत साधना-मार्ग में भक्ति को ही प्रमुख स्थान दिया गया है।^९ पाँचराज-वर्म के समुदाय

पाँचराज-सम्प्रदाय

तथा पापवत्त-वर्म

परब्रह्म जडितीय जगदि, जगत्त पुनःपरहित निस्सीय भुक्तानुभूत एवं वैष-काक से अभिनिष्ठ होने के कारण पूर्ण व्यापक और नित्य

१ अ. १।१२४।

२ अ. १।१२४।१।

३ शांति ११२७, १००।

४-२. रत्नसूत्र बौद्ध धर्म विष्णुसूत्र १० १४३।

५ अ. वि० जाड ३० : एव० १४३, १०००२।

६ भगवद्गीता, समाख्ये, ४३।१।

७ शांति परब्रह्म जडितीय बौद्ध धर्मसूत्र, श्री श्री० ज्ञान० बाबू, १००३।

८ ३० टी० मंत्रावर १ ३८-३९।

है। यह नियम-समुच्चय दोनों है। समुच्चय ब्रह्म-ज्ञान शक्ति ऐतदर्थ ब्रह्म कीर्त्य तथा तेज से परिपूर्ण होने के कारण परब्रह्म है। भगवान् की शक्ति प्रकृति है तथा दोनों एक प्रतीत होते हुए भी जगत् अद्वैत नहीं है।^१ धर्म की संस्थापना एवं कृष्णों के नाश के लिए भगवान् के चार प्रकार के अवतारों की कल्पना है—भूह विभय अन्धविचार तथा अन्धधार्मिक अवतार। पाँचराज के अनुसार जीव अनादि आत्मस्वरूप तथा व्यापक है, पर सृष्टि के आरम्भ में अविद्या से परिपूर्ण होने के कारण वह अस्पष्ट बन जाता है तथा इस तरह भगवायन में मटकता रहता है। भगवान् की हृषा से ही जीव समस्त-बुद्धि प्राप्त करता है तथा ईश्वर्य और विवेक से साम्य से ज्ञान प्राप्त कर लेता है।^२ ब्रह्म के साथ जीव के अन्तर्गत ज्ञान को ही ज्ञान माना गया है। इस प्रकार पाँचराज-सम्प्रदाय जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुए भी परिणामवाद को ही मानता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव में सेवामात्र समर्पण दीनता से साथ-साथ भगवान् के उत्सर्ग-रूप में अवलम्ब विश्वास होना निरालम्ब आवश्यक है।^३

भगवान् के अनुसार जो पाँचराज संहिताओं पर ही आधारित है^४ ब्रह्मदेव परब्रह्म तथा परब्रह्म है तथा उनके तीन भूतों की कल्पना है। ब्रह्मदेव का वात प्राणि-मात्र में है और प्राणि-मात्र भी जहाँ में समाविष्ट है। भगवान्-धर्म के अन्तर्गत अष्टांग और अन्तर्गत अष्टांगों की स्थापना है तथा आत्मोपासना को स्वीकार किया गया है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्गों को ब्रह्मदेव-भक्ति का अधिकार है तथा मनसा वाचा कर्मका नियन्त्रण और बुद्धि को प्रधानता देते हुए कर्मका होकर ब्रह्मदेव की उपासना को साम्यता ही नहीं है। ब्रह्मदेव के अनुग्रह उपासना की पाँच विधियाँ हैं—मनसा वाचा कर्मका ब्रह्मदेव की पूजा का सर्वत्र उपादान अथवा पूजा की सामग्री का संग्रह, पूजन स्वाध्याय अथवा मन्त्र-स्तुति तथा योग अथवा ब्रह्मदेव का चिन्तन। इस विधि से ब्रह्मदेव की उपासना करने वाला जीव ब्रह्मदेव को प्राप्त करता है। इस तरह दोनों के मूल सिद्धान्त एक होते हुए भी पाँचराज में कुछ भिन्न-तत्त्व भी मिलित कर लिये गए हैं। दोनों सम्प्रदायों में योगात्मकत्व की स्थापना इष्टि माना गया है।^५ निश्चय ही इस काम तक योगात्मकत्व की स्थापना नहीं हो पाई थी। ब्रह्म यह कहना अवश्य न होना कि ब्राह्मणों द्वारा ब्रह्मदेव-कृष्ण को परब्रह्म के रूप में स्वीकार करने के पश्चात् विष्णु-पुरुष में कृष्ण के आरम्भिक जीवन का विष्णु-सम्बन्धी प्राचीन आचार्यों पर निरूपण हुआ तथा पाँचराज में ब्रह्म परब्रह्म की शक्ति माया अथवा प्रकृति का (जो प्राचीन साहित्य में भी के रूप में विद्यमान थी)^६ संस्कार होकर विकास योगात्मक साहित्य की वर्णना हुई। भगवान्-पुरुष में इस स्थापना का पूर्ण विकास इष्टिपोषक होता है जो परब्रह्म कृष्ण-भक्ति का उत्तम माना जा सकता है।

१ मयका धर्म, ब्रह्मदेव उपासना, पृष्ठ १२२।

२ श्री, पृष्ठ १२२।

३ श्री, पृष्ठ १२२।

४ श्री, पृष्ठ १२२।

५ श्री, पृष्ठ १२२।

६ श्री, पृष्ठ १२२।

७ परब्रह्म और ब्रह्म विचार, पृष्ठ १२२, १२३।

मुक्त-काव्य तक आकर कृष्ण और विष्णु का एकीकरण प्रकट रूप से हो गया था तथा विष्णु देवाधिपति और कृष्ण उनके पूर्वावतार मान लिए गए थे।^१ साथ ही अवतारों की पूजा भी आरम्भ हो गई थी तथा नारायण के साथ-साथ लक्ष्मी को भी मान्यता मिल गई थी, पर अभी तक रामा-कृष्ण की ध्यासना का आरम्भ नहीं हो पाया था यद्यपि ब्रह्मचोप के कुछ-चरित तथा भास के नाट्य चरित में योपियों का उल्लेख एवं भी विद्यमान था।^२

ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी तक का काल वैष्णव-धर्म का सम्प्रसार-काल प्रतीत होता है।^३ इसका मुख्य कारण कुपानर्षधीय शेष राजाओं का मथुरा तक व्यापित प्रतीत होता है। नासिक के सिक्कालेख से पता चलता है कि इस रामानुजाचार्य द्वारा काल तक सकर्षण और बाधुवेन राम और केशव हो गए थे तथा वैष्णव धर्म को पुनः उन्हें केवल पराक्रमी माना जाने लगा था।^४ यह कबल मामलत स्वामिना धर्म के ह्रास को सूचित करता है। सम्भवतः बौद्ध एवं जैन-धर्मों के प्रचार के कारण यह धर्म उत्तर भारत में एक साधारण सम्प्रदाय के रूप में रह गया था पर ठीक इसके विपरीत दक्षिण में बालवारीय एवं आचार्यों द्वारा इसका जोरों से प्रचार होता रहा तथा कई जन्मों की रचना हुई। आखबार साधना मुख्यतः आचार्य होने के कारण उसमें नामस्मरण भजन सेवा तथा ध्यान को ही अधिक महत्त्व मिला।^५ आचार्यों की भावप्रमत्ता एवं भाववश में भक्ति के निरूपण के योग से भक्ति प्रेम का रूप भी पैदा हो, जिसका स्वल्प आम्नास को वेके भक्तों में दिखा देता है। आम्नास कोई भी दक्षिण की सीमा कहा जाता है।^६ दक्षिण में वही एक और वैष्णव-भक्ति का प्रचार हो रहा था वही दूसरी ओर उत्तर में बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रचार से वैदिक धर्म के बारे में भक्ति धर्माएँ उठाई जा रही थीं। स्वाम तथा सीमासा के आचार्यों द्वारा इन संक्राओं के समाधान एवं धर्म-काव्य की पुष्टि में वैदिकी सम्प्रदायों पर भी आक्षेप होने लगे। इसी प्रयास में संकराचार्य ने अष्टित्वाव की स्थापना की तथा ब्रह्म को एकमात्र मानकर जीव और ब्रह्म में बँटव को स्वीकार किया। इन दोनों में मासिक ईश का कारण उन्होंने माया को माना तथा भक्ति या प्रेम को मास्यता न देकर जीव और ब्रह्म के बँटव के ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव मानी और अनेक वैक्तियों की पूजा को स्वीकार किया।

इस स्थापना के उत्तर में रामानुजाचार्य ने पीठा उपनिषद्, व्यासशास्त्र एवं ब्रह्म-सूत्र और सांख्य के आधार पर विधिप्राप्तित्वाव की स्थापना करके एनेस्वरदास एवं भक्ति की पुनः स्थापना की। विधिप्राप्तित्वाव के अनुसार जीव और ब्रह्म परमात्मा के ही पुनः विधेय हैं तथा इनमें परब्रह्म का स्वल्प विधिप्राप्त है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए कोई ज्ञान की अपेक्षा विधिप्राप्त भक्ति ही एकमात्र साधन है। रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित श्री-सम्प्रदाय में विष्णु-पूजन की विधि अधिकतर पाँचरात्र-सम्प्रदाय का अनुसरण करती है तथा भक्ति का

इस स्थापना के उत्तर में रामानुजाचार्य ने पीठा उपनिषद्, व्यासशास्त्र एवं ब्रह्म-सूत्र और सांख्य के आधार पर विधिप्राप्तित्वाव की स्थापना करके एनेस्वरदास एवं भक्ति की पुनः स्थापना की। विधिप्राप्तित्वाव के अनुसार जीव और ब्रह्म परमात्मा के ही पुनः विधेय हैं तथा इनमें परब्रह्म का स्वल्प विधिप्राप्त है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए कोई ज्ञान की अपेक्षा विधिप्राप्त भक्ति ही एकमात्र साधन है। रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित श्री-सम्प्रदाय में विष्णु-पूजन की विधि अधिकतर पाँचरात्र-सम्प्रदाय का अनुसरण करती है तथा भक्ति का

१. वैष्णव धर्म अष्टाध्याय्य पृष्ठ १०८।

२. रामानुजाचार्य, सिक्का, पृ. २४६।

३. वैष्णव धर्म पृ. ४०।

४. भ० वि० भाट्ट १०, राम जीवनी, पृ० १०८-१११।

५. भ० वि० भाट्ट ११, राम जीवनी, पृ० १०८।

६. भ० वि० भाट्ट ११, राम जीवनी, पृ० १०८।

प्रतिपादन गीता पार्तवक-योग तथा आत्मार्थों की सीढ़ी पर हुआ है^१ जिसमें स्नेह का भी समावेश है। यमवद्भक्ति का अधिकार चारों वर्गों को है। उपबुद्ध माय्यताओं को स्वीकार करते हुए रामानुजाचार्य ने अपने सिद्धान्तों द्वारा प्राचीन भागवत-धर्म की ही पुनः स्थापना की तथा कोरे ज्ञान के अनुदिन प्रचार का विरोध करते हुए भक्ति कर्म और ज्ञान के समुच्चय को ही यमवद् भक्ति का सच्चा साधन माना।

भागवत-धर्म में प्रतिपादित भक्ति में शृंगार की कल्पना एवं कृष्ण की शृंगारमय भक्ति की स्थापना में पीरानिक काल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना प्रतीत होती है क्योंकि प्राचीन भागवत व सात्त्विक धर्म में प्रतिपादित भक्ति के अन्तर्गत लयवेध का पीतवोदिविष्य शृंगार को स्वीकार नहीं किया गया था। सम्भवतः भक्ति में शृंगार का समावेश कृष्ण और बिष्णु के एकीकरण के पश्चात् की घटना है तथा उसका विकास भी बिष्णु-पुरुष में वर्णित कृष्ण की वाक्-सीखानों से हुआ प्रतीत होता है। पहले कहा जा चुका है कि इस एकीकरण के फलस्वरूप कृष्ण में बिष्णु की वाक्-सीखानों का आरोपण होने लगा था जिसका प्रथम विकास भागवत-पुरुष में अभिव्यक्त होता है। कृष्णपरक भक्ति में शृंगार का समावेश पीरानिक राधा की कल्पना पर आधारित है। राधा की कल्पना स्पष्ट रूप से लक्ष्मी से सम्बन्धित है। वैदिक साहित्य में लक्ष्मी की कल्पना ही प्राचीन मोहिनोदयो के अन्तर्गत 'माता'^२ की सक्ति-रूप में स्थापना की है। प्राचीन भारतात्मक धर्म और पांचरात्र सिद्धान्तों पर आधारित पीरानिक काल में लक्ष्मी के रूप में विकसित होती है। राधा की कल्पना (जिस पर समस्त परवर्ती शृंगारमय भक्ति-साहित्य परम्परा विकसित हुआ है) पीरानिक काल से पहले इन्द्रिगोचर नहीं होती। डॉ० पंडितारकर के मतानुसार राधा का परमेश्वर की शक्ति के रूप में सर्वप्रथम लक्ष्मी नामक पुरुष में मिलता है।^३ उपरान्त लक्ष्मीवर्त-पुरुष में जो मूल लक्ष्मीवर्त-पुरुष से भिन्न तथा परवर्ती है^४, वही राधा का रूप है जिसे वे विवाह कराते हैं।^५ आदि पुरुष में कृष्ण के अवतार धारण करने के पहले बिष्णु के कहने पर राधा मत्स्य-लोक में लक्ष्मी होती है।^६ पंचपुरुष में तो वृषभानु राधा को मत्स्य के लिए घूमने भेजते हैं तब ही राधा सीता की तरह मिल जाती है।^७ अन्य पुरुषों के अनुसार विरवा नामक गोपी को बिष्णु रास-मण्डली में ले जाते हैं। राधा उन्हें बीजती है, पर बिष्णु विरवा के साथ लक्ष्मी हो जाते हैं। तत्पश्चात् एक दिन कृष्ण को वृषभानु के साथ देखकर राधा कृष्ण की निम्ना करती है जिसके फलस्वरूप राधा और वृषभानु के बीच सार्प का आदान प्रदान होता है और राधा को मत्स्य-लोक में लक्ष्मी के रूप में पढ़ता है।^८ वृष

१ य. वि० मी० १०, एच पी० १० १६५।

२ दि. रिचिनिक्स ऑन इतिहास, पृ० पी० करमरकर ५ ३६।

३ यै० सी० मत्स्यपुराण, पृ० ५६।

४ पीरानिक रिचार्डस ऑन बिष्णु पुरुष पञ्च कल्पस आदि० सी० भागवत, पृ० १३०।

५ मत्स्य पुराण, ५, १५।

६ आदि-पुरुष, ११।

७ पंच-पुरुष, मत्स्य पञ्च, ७।

८ प्राचीन पुराण कोष विभाग लाहौर, पृ० १३३।

बैर्बल पुराण में राधा की उत्पत्ति कृष्ण के बायांग से मानी गई है।^१ यहीं सखी के दो रूप भी माने गए हैं—एक राधा और दूसरा सखी। सखी का राधा रूप पृथ्वी पर कृष्ण के साथ बिछटा है और सखी बिष्णु के साथ बैकुण्ठ में। आत्मरामायण में राम से घर पत्निर सगुणा वाली ही कृष्णावतार में राधा बन जाती है।^२

हम देखते हैं कि पौराणिक काल में कृष्ण-भक्ति दो विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होने लगती है। एक ओर प्राचीन भगवत व सारवतधर्म में प्रतिपादित छुट्टभक्ति को मान्यता मिथी हुई थी और दूसरी ओर पौराणिक राधा पर आधारित शृंगार-भक्ति को जो जैन भट्टाश्रम आदि सम्प्रदायों की बीच-कस्मियों से प्रभावित होती रही। इन बाह्य कारणों के साथ-साथ भक्ति में अनर्निहित तन्मयता न ही प्रेम के रूप में शृंगार प्रयाग भक्ति की कल्पना में शोष दिया। भाववत-मूरज के पश्चात् कृष्णपरक शृंगार प्रधान भक्ति एवं प्रेम की तन्मयता के वर्धन सर्वप्रथम तमिल संत-कवयित्री धाम्पाक कोवै के भक्तों में होते हैं जिसका समय सन् ७१६ ई० माना जाता है।^३ यही शृंगार अवस्था के गीतगोविन्द में उदात्त रूप धारण कर लेता है। गीतगोविन्द जो एक गीति-काव्य कहा जा सकता है।^४ भक्ति में केवल शृंगार का ही समावेश नहीं करता बल्कि राधा और कृष्ण को लेकर धाम्पारिणिक पुष्टभूमि पर लौकिक शृंगार का सौम्योपांग चित्रण भी करता है। इस प्रयास में गीतगोविन्द तथा श्रीमद्भागवत के वसुधैव कुटुम्ब के माधुर्य शृंगार विरहोद्गार और काव्य-सौन्दर्य में साम्य दृष्टिगोचर होता है।^५ इस प्रकार गीतगोविन्द में जहाँ एक ओर सन्मोद-निव्रजकर्म शृंगार को मूर्त किया गया है वहाँ दूसरी ओर स्थान-स्वान्त पर भक्ति का पुट देकर शृंगार को धाम्पारिणिक रूप देने का प्रयत्न उल्लिखित होता है। स्पष्ट ही अवयव की राधा सखी का अन्ध रूप होते हुए भी एक साकार प्रेयसी के रूप में प्रस्तुत की गई है जिसका प्रेम मूलतः पारिरीक तुल्य से मानसिक सुख की ओर अवसर होता हुआ-सा चित्रित किया गया है। राधा का यह चरित्र निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है—

आखोळ केन्नाघस्तउत्तिमसकै स्वैव खोली करोली ।

स्पष्टा दृष्टापरवी कुचकमलदवा हरिदा हरिपटि ॥

काशी काकिण्ठादा स्तनबबनपद पाणिनाम्नाय सदा

पदपत्नी आत्मकपं तवनि विभुसित सगदरेयं बिनोसि ॥

ईषन्मीलित दृष्टि मुग्ध हसित सीत्कार वारावसा—

वम्पत्तकुचकेलिकाकुचिकसङ्गाधुषिता धरम् ॥

स्वामीकम्पयोधरोपरि परिप्यवाल्कुरीदसो ।

हर्षोत्कपिभुक्तमि सहतगोर्बन्धो वयवामनम् ॥^६

उपयुक्त काव्य में भक्ति के साथ ही काव्य का चित्रण भी दृष्टिगोचर होता है।

१ मधु-वेत २ १२ ।

२ प्राचीन चरित्रकोट ५० पृष्ठ १ ।

३ ज० वि० बोड ३ राध खोली ५ पृष्ठ ४ ।

४ श्री (दियर तुलसीदास) भास्वि, रा० वि० श्रीवर्ध ५० (२८) ।

५ दत्तकोट गोविन्द : रा० वि० जी बोड, पुस्तक संस्करण प्रणयक ५० पृष्ठ १ ।

६ श्रीगोविन्द दत्तदास, श्लोक ७, ८ ।

बैरवत पुण्य में राधा की उत्पत्ति कृष्ण के धामांग से मानी गई है।^१ यही कसमी में बो रूप भी माने गए हैं—एक राधा और दूसरा कसमी। कसमी का राधा रूप पृथ्वी पर कृष्ण के साथ बिचरता है और कसमी विष्णु के साथ वैकुण्ठ में। आत्मविरामायण में राम से बर पाकर सगुणा वाली हो कृष्णावतार में राधा बन जाती है।^२

हम देखते हैं कि पौराणिक काल में कृष्ण-भक्ति की विभिन्न विधाओं में प्रभावित होने लगी है। एक ओर प्राचीन भागवत व सार्वभौम में प्रतिपादित भुवमक्ति को साम्प्रदायिक भी हुई थी और दूसरी ओर पौराणिक राधा पर आधारित शृंगार-भक्ति को भी बीच महात्मान् आदि सम्प्रदायों की भौत-कल्पनाओं से प्रभावित होती रही। इन बाह्य कारणों के साथ-साथ भक्ति व भक्तानुहित तन्मयता ने भी प्रेम के रूप में शृंगार-प्रधान भक्ति की कल्पना में योग दिया। भागवत-पुराण के पश्चात् कृष्णपरम शृंगार-प्रधान भक्ति एवं प्रेम की तन्मयता व दर्शन सर्वप्रथम समिक सत-कवयित्री आम्बाला कीर्ति के भक्तों में होते हैं जिसका समय सन् ७१६ ई० माना जाता है।^३ यही शृंगार जयदेव के गीतगोविन्द में उदात्त रूप प्रारम्भ कर लेता है। गीतगोविन्द को एक गीति-काव्य कहा जा सकता है।^४ भक्ति में केवल शृंगार का ही समावेश नहीं करता, बल्कि राधा और कृष्ण को लेकर आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर लौकिक शृंगार का संयोग विधान भी करता है। इस प्रयास में गीतगोविन्द तथा भीमदत्तभाष्य के दशम स्कन्ध के भाष्य में शृंगार, बिहोदर्यार और काव्य-सौन्दर्य में साम्य दृष्टिपोषक होता है।^५ इस प्रकार गीतगोविन्द में यहाँ एक ओर सम्मोद-विप्रकम्भ शृंगार को मूर्त किया गया है, वहीं दूसरी ओर स्वान-स्वान पर भक्ति का घुट देकर शृंगार को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न कबित्व होता है। स्पष्ट ही जयदेव की राधा कसमी का अन्य रूप होते हुए भी एक साकार प्रेयसी के रूप में प्रस्तुत की गई है जिसका प्रेम मूलतः सार्वभौमिक मुक्त से मानसिक मुक्त की ओर अवसर होता हुआ-सा चित्रित किया गया है। राधा का यह चरित्र निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है—

आलोच केपपावस्तचित्तमन्दै स्वेव कोली कपोली ।

स्पष्टा दृष्टापरमी कुचकलसल्ला हायिटा हारवटि ॥

काशी काशिमतादा स्तननवनपर्व पायिताच्छाव सख

पसवन्ती वासमक्यं तदपि विमुक्ति लखदेव विभोति ॥

ईपामीकित इति मुक्त हसितं सीतकार वारावसा—

बन्धुतामुलकैकिकामुक्तिसहतापुपीता वरम् ॥

स्वासात्कर्मिययोगोपपरि परिष्कनात्कुरंगीहो ।

होपारुर्पविभुत्तमि सहातगोबन्धो जयलाननम् ॥^६

उपकुंठ काव्य में भक्ति के साथ ही काव्य का चित्रण भी दृष्टिपोषक होता है।

१ मधु-वेरु १ ११ ।

२ प्राचीन भक्तिमार्ग, १० पृष्ठ १ ।

३ ज नि जीति दे०, राज-कोष, ५ १५४ ।

४ भीम (रिचर्ड टुल्लोक कोविन्द १५ नि गीति १० १५) ।

५ इतलोच गोविन्द : १० नि० की पंक्ति दूसरा संस्करण मन्त्रकाल ५ ११ ।

६ गीतगोविन्द इतलोच सन्, श्लोक ७, प १ ।

ठीक इसने विपरीत अयदेव के अग्रगण्य दो ही वर्ग पश्चात् महाभारत में सन्त तुकाराम के जर्मनों में राधा और कृष्ण की काम-सीमाओं से परे प्राचीन भागवत धर्म में प्रतिपादित भक्ति की पुन स्थापना के दर्शन होते हैं। सन्त तुकाराम के काष्ठ धारकरी सम्प्रदाय तक भागवत-धर्म पारम्परिक समता निर्माण करके मौन हो गया था। धार्मिक क्षेत्र में ठेक-नीक का भेद-भाव तथा असुस्पष्टता के बन्धन अब भी बिद्यमान थे।^१ सन्त तुकाराम ने इन्हीं सामाजिक एवं धार्मिक बिपमतारों को मिटाने के लिए अयदेव की शृंगार-बहुल भक्ति को न अपनाकर सर्वव्यापी प्रेम पर आधारित निष्काम भक्ति को मान्यता दी। तुकाराम के विराधी (विरहवादी) जर्मनों में वसपि कृष्ण की सीमाओं के अन्तर्गत यन्-तय सम्मोय शृंगार का भी दर्शन होता है पर ऐसा बचन अपेक्षाकृत बहुत ही कम है तथा पौराणिक परम्परा के निर्वाह के लिए ही हुआ है, क्योंकि जहाँ एक ओर शृंगार का वर्णन है वहाँ दूसरी ओर कृष्ण की वास-सीमाओं का भी विषय वर्णन निम्नता है। तुकाराम की कृष्ण भक्ति में कृष्ण का परब्रह्म-रूप ही मुख्य है और नटवर रूप पौष।

स्थापि पंचे माझे लापसें से वित्त ।
बाट पाहे नित्य माहेराणी ॥

पुण म्हेव बातां येवीस त्यावया ।
जिने जापुसिया मायबाप ॥^२

(उसी मार्ग की ओर मेरी बाँछें लगी हुई हैं और मैं नित्य मायके की यह घोषकर प्रतीक्षा करती रहती हूँ कि मुझे ले जाने के लिए अब माँ-बाप बाते ही होंगे।) उपशुद्ध अर्थ में जीवन-कपी कुलहिन की मायके जाने की व्यग्रता में माता-पिता का भगवान् में बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है। तुकाराम की रज्जुमाई और अयदेव की राधा में निष्काम का यह अन्तर स्पष्ट अभिलक्षित होता है। अयदेव की राधा परवर्ती कल्पनाओं के अनुसार जीव का प्रतीक मान लेने पर भी धार्मिक सुख की अनुपामिनी है, जब अयदेव की भक्ति लौकिकता के बराबर पर एक आध्यात्मिक प्रयत्न है पर तुकाराम का प्रेम सारी एक वास्तवताओं पर आधारित न होकर एक आध्यात्मिक वास्तवता है जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से न होकर परमात्मा से प्रतीत होता है। यही कारण है कि अयदेव की भक्ति तुकाराम में नास्तिक भेद एवं द्वंद्व की कल्पना के दर्शन नहीं होते।

(भा) अवतारों की मीमांसा तथा कठण-कथा, विष्णु-पुराण, भागवत-पुराण इत्यादि के अनुसार लौकिक भ्राम-देवताओं की कल्पना का भ्राय-देवताओं में समावेश विष्णु और कृष्ण के एकीकरण को तथा भारत के विभिन्न आर्यतर विश्वासों को

जात्मसात करने में पौराणिक अवतारवाद की कल्पना ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसकी प्रतीति अबतारों की मीमांसा से ही हो सकेगी।

१ वैदिक संस्कृति का विकास, लैटिन्स अयदेवराष्ट्री कोटी १ १९६६।
२ श्रीकृष्ण महाभारती साम्प्रदायिक भाषा वैदिकीकरण इत्य, १० १९७९।

अवतारों की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है तथा उसके अस्तित्व के विषय किसी-न-किसी रूप में जनम-मरण चक्रों में उपलब्ध होते हैं। पारम्परिक देशों में मिली यूनानी तथा ईसाई सम्प्रदायों में अवतार की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। इस्लाम का सिया-सम्प्रदाय इसाई में ईश्वरत्व की स्थापना को मानता है तथा अन्तिम युग में वासिखी इमाम अहमद अबुल कासिम के अवतरण होने में भी जनका अत्यन्त विश्वास है। इसी धर्म के सुन्नी-सम्प्रदाय का बुरे-मुहम्मद शिखर मुहम्मद के बुर (अबबा ठेक) से बर्मे-मुहम्मद के प्रादुर्भाव का प्रतिपादन करता है। मसीही धर्म ईसा के रूप में परमेश्वर का केवल एक ही अवतार मानते हैं। मैसिको के लोगों में दस कैदियों में से एक सुन्दर युवक चुनकर उसे कदमियों का अवतार मानने की प्रथा प्रचलित थी। शिखर में दलाईलामाओं में अवलोकितेश्वर अवतरण होता है। यहूदी लोगों में भी अवतार की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन यहूदी लोगों का विश्वास था कि बड़े एवं नुची लोगों की उत्पत्ति ईश्वर की कृपा से ही होती है। यूनानी लोगों में पुनर्जन्म की मान्यता न होते हुए भी प्रयोजन-विशेष के लिए मानव अवतार अथवा किसी का रूप धारण करने की तथा प्रयोजन-विशेष की अनेक कल्पनाएँ विचार्य पड़ती हैं।^१

माध्य में अवतार की कल्पना सबसे पहले नीचा में उल्लिखित होती है^२ तथा पहला अवतार कृष्ण का सिद्ध होता है। पौराणिक काल में गीता के इसी आधार पर कई अवतारों की कल्पना की गई है क्योंकि प्रत्येक युग में बर्मे-मुहम्मद का प्रादुर्भाव होता रहा और उनके सम्प्रदाय-विशेष के कारण अवतारों में जनका समावेश आवश्यक समझा गया।^३

अवतारभाव को जन्म देने वाली मुख्य शक्ति प्रकृति ही होती है—देव-स्वरूप जानने की अवसनीय उत्पत्तिका के कारण अस्मान्य बुद्धि वाले मनुष्य में ही देवता की कल्पना कर लेता तथा देवताओं से मनुष्य की उत्पत्ति में विश्वास।^४ आदिवासियों में मृत-जनों में ईश्वरत्व की कल्पना तथा परमेश्वर का म आत्मा के अस्तित्व में विश्वास एवं मानिकों द्वारा परोपकार में अलौकिक शक्ति की मान्यता ने भी अवतार की कल्पना को पुष्ट किया है।^५

कुछ विद्वानों के विचार में अवतार की कल्पना का प्रादुर्भाव मसीही इस्लाम तथा हिन्दू-धर्म में एक साथ हुआ है।^६ पर यह धारणा गलत समझा है क्योंकि इन दोनों के प्रादुर्भाव से काफी पहले अवतार की कल्पना के बीच हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, यद्यपि अवतार का निश्चित उल्लेख नीचा में ही मिलता है। प्राचीन काल में अवतार के अर्थ में 'प्रादुर्भाव' शब्द का प्रयोग होता था।^७ अन्त्य में इन द्वारा ईश्वर का तथा महामाध्य में विष्णु द्वारा ईश्वर का रूप धारण करना एक रूप से दूसरा रूप धारण करने में आत्मा का

१. महाभारत अम कोष, पृ. ३४७-३८, ३८५।

२. गीता, पृ. ५१, ५२।

३. महाभारत अम कोष, पृ. ३४७।

४. ई. ५८२ ई. ५०३ ई. ५१३।

५. गी. ५०३ ई. ५१३।

६. गी. ५०३ ई. ५१३।

७. महाभारत अम कोष, पृ. ३४७।

घोषक है।^१ एक से अनेक और अनेक से एक रूप धारण करने की इसी साम्यता में सम्भव अवतार की कल्पना के बीज निहित हैं। अन्वये में अनेक देवताओं में एकत्व तथा उपनिषद् में परमात्मा की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति-विषयक इसी भावना ने सम्भव पौराणिक अवतारवाद को जन्म दिया।^२ पाणिनि-काल में ऋषियों को देवता मानना, स्वर्ग स्वर्ग-लोक आदि की प्रतिमाएँ तथा यन्त्र बनाकर प्रतिमाओं को पूजना और देव-प्रसाद से पुत्रोद्भूति को सम्भव मानना एवं सन्तान का उसी साधारण पर सामकरण करना इसी साम्यता का सूचक है।^३

पहले कहा गया है कि अवतार का द्रष्ट संकेत सर्वप्रथम गीता में उपलब्ध होता है तथा उसका सम्बन्ध पूर्वतः बालुके से था। भागवतों की साम्यता के अनुसार भवमान् पद्म भुविरेत हैं तथा उनके दो अवतार होते हैं—आनेछावतार तथा साक्षात्। बह्मू बन्ध संहिता में उन्नासीस अवतारों का उल्लेख है।^४ इसके विपरीत प्रकटित सभी अवतार विष्णु के एकीकरण के साम्य से ब्राह्मण-ग्रन्थ के यह देवता परब्रह्म विष्णु के रूप में अभिव्यक्ति हो चुके हैं। विष्णु के अवतार की इस स्थापना में छठपद ब्राह्मण में वर्णित विष्णु का वामन-रूप भी एक महत्त्वपूर्ण सूत्र का काम करता-सा प्रतीत होता है। वीतीति^५ के अनुसार धर्म की स्थापना, सन्तों की रक्षा तथा पुष्टों का दमन अवतार का एक विशिष्ट प्रयोजन माना जाता है और वैदिक-विष्णु में इन विशेषताओं का वर्णन मिलता है।^६ राम और कृष्ण की कथाओं में यही विशेषताएँ होने के कारण उन्हें विष्णु का अवतार माना जाने लगा।^७ उपर्युक्त में विष्णु के अवतारों की निम्न-निम्न संख्याएँ विवक्षित की गई हैं तथा उनके क्रम में भी समानता नहीं है।

'मातृपौत्र' में विष्णु अथवा मातृपौत्र के छ अवतारों का वर्णन है जिनमें वराह, नृसिंह, वामन, वृषारूढ, वायव्यीरवम एवं कृष्ण के नाम आते हैं। किन्तु, बोद्धा माने बलकर एक अन्य स्थापना पर बड़ी अवतार दस हो जाते हैं तथा उनमें कर्पुण्ड्र छ अवतारों के वर्णित रिक्त स्थान, कूर्म मत्स्य तथा कल्कि का भी समावेश हो जाता है। इनमें से हृत् कूर्म और मत्स्य के नाम आरम्भ में आते हैं तथा कृष्ण की मयना कल्कि के पहले की जाती है। डॉ० भास्करकर के मतानुसार ये चार अवतार बाह्य में जोड़ दिये गए हैं।^८ उनका अनुमान सही प्रतीत होता है क्योंकि हरिवंश-पुराण में (जो महाभारत का अन्तिम खण्ड माना जा सकता है) प्रथम छ अवतारों का ही उल्लेख है। बालपुराण में पहले बाह्य अवतारों की वर्णा है जिनमें से कुछ सम्भवतः इन्द्र और शिव के अवतार प्रतीत होते हैं। माने बलकर इन्हीं अवतारों की संख्या दस कर दी गई है जिनमें दत्तात्रेय और वेदव्यास को भी धारित कर

✓ १. बालकृष्ण षोडश अर्धों सिन्धुस्य, वे० बौध, १० १२४।

२. वे० टी० अर्धारकर, मत्स्यपुराण १० २।

३. ब्रह्मका पद्म योग ३ पाणिनि, वे० मत्स्य अथवा, १० ११८-१९।

४. कल्कि का विवक्षित, वे० सुप्रीतियम ग्रन्थ, १० ११२।

५. गीता, ४।

६. वे० वि० अर्ध वे० १ राम चौकरी, १० १०८-९।

७. महाभारत बाल योग, अर्ध उपर, १० ११२।

८. वे० टी० अर्धारकर, १० ४२।

सिया गया है। बराह-पुराण में उपर्युक्त दस अवतारों का उल्लेख है जिसका अनुसरण अजि पुराण भी करता है। भागवत-पुराण के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में बाईस अवतारों का उल्लेख है। यही संख्या द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय में तेईस हो जाती है और एक-एक स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में केवल सोलह रह जाती है, जिनमें विष्णु से ब्रह्मकुक्षि भिन्न कपिल रूपमयैव बौद्ध भगवत्परिवादि का भी समावेश किया गया है।^१ विविध पुराणों में अवतारों की विभिन्न संख्या तथा उनमें भिन्न भिन्न अवतारों की मर्यादा से निर्दिष्ट होता है कि वर्तमान पुराणों के रचना-काल तक जितनी गी धार्मिक विचारधाराएँ प्रचलित थीं उनको आत्मसात करके तथा इस प्रकार उन सबको वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत लाकर वैष्णव धर्म को व्यापक रूप देने के लिए ही भागवत-धर्म के आधार पर अवतारवाद को मान्यता दी गई तथा मत्स्य कल्पम बराह, वृषिह मादि को भी जिनका मूलतः विष्णु से कुछ भी सम्बन्ध न था तथा जो सृष्टि विधा एवं विकासवाद के प्रतीकमात्र थे अवतार कोटि में स्वीकार कर लिया गया।

विष्णु के ब्रह्मावतारों में से प्रथम चार अवतार अर्थात् चार की कोटि में जाते हैं तथा अन्तिम छ मानवीय कोटि में।^२ ब्रह्मावतारों के इस क्रम से विकासवाद का क्रम उद्घाटित होता है।

विकासवाद की दृष्टि से मत्स्य का सर्वप्रथम स्थान माना जा सकता है क्योंकि मत्स्य काल का बीच है और जीवन काल में निहित है। अतः सृष्टि के निर्माण में प्रागल्भ्य की दृष्टि से मत्स्य सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण है। अतएव ब्राह्मण^३ में अक्षय्यावन मत्स्य द्वारा देव-सृष्टि का विनाश एवं मनु द्वारा मानव-सृष्टि के निर्माण से मत्स्य विधेय का से सहायता करता है। वृषभे खड्गों में अक्षय्यावन के पश्चात् प्राग-का से मत्स्य का अस्तित्व है और वही मनु का जो प्रजापति भी कहलाता है मानव-सृष्टि के बीच-क्रम में बनाए रखता है। ब्राह्मण-वर्णित मत्स्य की कथा वस्तुतः ऐतिहासिक क्रम में गठित अक्षय्यावन की वास्तविक घटना प्रतीत होती है।

प्रलय की कथा यजुर्वेदों के ओम्ब टेस्तामेष्ट तथा मिस और अष्ट के कथा-साहित्य में भी मिलती है।^४ इसके अतिरिक्त प्रलय की चर्चा बेबिलोनिया की गिलगेमिश-कथा में बेबिलोनियन मेरोसस-कुल बर्षम म मिस की प्रलय-कथा में (जिससे अक्षय्यावन-कथा सम-मनुष्यों के पिता का सम्बन्ध है) और यूनान के पौराणिक वर्णन में भी मिलती है।^५ अक्षापी प्रलय-कथा और ब्राह्मण-वर्णित कथा में कई बातों में साम्य है। अक्षापी कथा के अनुसार सूरिणक के देवता प्रलय कराते हैं। बा (Ea) बुद्धि-देवता प्रलय की चेतावनी सिनगापिस्ती (Sinnapišti) को देती है तथा एक मुड़ मांष बनाकर उसमें सृष्टि के समस्त जीव घुलभित रखने के लिए कहती है। सिनगापिस्ती बा के आदेशानुसार नाव बनाता है तथा एक बड़ा यज्ञ किया जाता है जिसमें

१ वे० सी० मोहार्कर, १ ४२।

२. एनेष्टन बौद्ध धर्म विस्तार, जे. ग्रेटा, पृ० १२४-२५।

३. राजमहात्म्य, १५।

४. अजि का विस्तार डॉ. सुधीरम राव, १ ३४४।

५. एनीस मर्रांस एनेष्टन और विस्तार, डॉ० एनेस राव, पृ० १४५।

बैस मेह ब्रास बासणी आदि की आहुति दी जाती है। नाव में सृष्टि के बीज अपनी पत्नी और कुछ बास-बासीयों को लेकर वह प्रलय की प्रतीक्षा करता है। दूसरे दिन से प्रलय आरम्भ हो जाता है और छ दिन तक होती रहती है। सातवें दिन प्रलय का खोर कम होने लगता है। शितनापिस्ती की नाव मिथौर पर्वत शिखर (Mount Nigir) पर जा लगती है। प्रलय समाप्त होने और पृथ्वी के फिर से उभर आने पर शितनापिस्ती पुन यज्ञ करता है तथा बलि चढ़ाता है। यज्ञ पर देवता भक्तियों की तरफ ध्या करते हैं। देव-देवता शितनापिस्ती की लौका देसकर मूख होता है। आ (बुद्धि-देवता) उससे लगड़ती है और कहती है कि यविय्य में दण्ड देने के लिए प्रलय की अपेक्षा हिल-जल्लु, अकाक एवं रोगों की योजना होनी चाहिए। वह यह भी कहती है कि प्रलय-विषयक देवताओं की मन्त्रणा का भेद उसने नहीं प्रकट किया था बरन् उसने शितनापिस्ती को केवल स्वप्न दिया था। इस पर देव प्रसन्न होता है और शितनापिस्ती दम्पति को आशीर्वाद देता है।^१

महानाराय में वर्णित कथा के अनुसार मनु प्रसिद्ध तपस्वी है। वे पारिखी नदी के तट पर तपस्या में रत हैं वहाँ उन्हें एक छोटी-सी मछली के वर्णन होते हैं। उसकी प्रार्थना सुधार वह अल्प बड़ी मछलियों से उसकी रक्षा करने के लिए उसे कमल तट आनड़ी तथा बर्गा और समुद्र में छोड़ देते हैं। यही मत्स्य मनु को प्रलय की सूचना देता है तथा विपत्ति काल में उनकी महामता करने के लिए स्वर्ण प्रकट होने का आस्थाघन देता है। मत्स्य के आदेशानुसार मनु नाव बनाकर उसमें सृष्टि के समस्त जीवों सहित सप्त-व्याधियों को लेकर मत्स्य की प्रतीक्षा करते हैं। मत्स्य महामत्स्य के रूप में प्रकट होता है तथा अपने वीर्य मनु की नाव बँधकर प्रलय-काल में नाव की रक्षा करता है तथा अछ बटते ही नाव के उत्तर तिरि की बोटी पर पहुँचा देता है। महामत्स्य अपना बड़ा होना प्रकट करता है तथा मनु को सृष्टि-कर्ता के रूप में निमुक्त करता है।^२

मागवत-पुराण में इसी कथा का स्वल्प बवक जाता है। इस कथा में प्रलय बड़ा की निद्रावस्था में होती है जब हुमधीय नामक राजा नेवों को बुरा के जाता है। हरि एक छोटी-सी मछली का रूप धारण कर लेते हैं तथा इस रहस्य को सत्यव्रत नामक एक तपस्वी राजा के सम्मुख प्रकट करता है, जो केवल उस पर निर्वाह करता था। मत्स्य की बुद्धि अपने बाप होती है और वह कई योजना ठन्ना बन जाता है। सत्यव्रत के पास नाव जा जाती है जिसमें मन्त्रब्रह्मा व्यापि बैठे निरन्तर मन्त्रोच्चार करते रहते हैं। अन्त में हरि हुमधीय का वप करते हैं और नेवों का उद्धार करते हैं। सत्यव्रत को वही एवं मानवीय सृष्टि विषयक ज्ञान का बादा वा सत्यवा मनु निमुक्त होता है। यहीं मत्स्य को माया भी माना गया है।^३

आश्विनी-असीरिया कथा के अनुसार प्रलय से पहले ही त्रिसुप्रोस राजा को मत्स्य देवता जोनीय ने सचेत कर दिया था कि प्रलय आने वाली है अतः नाव की पुस्तकें वह सूर्य के नगर सिप्पार में छिपा वे।^४

^१ ई. आर. ई०, पृ० ११०।

^२ महामत्स्यक गीय प्रोस, पृ० ११८। ई० आर. ई०, पृ० १११।

^३ बरी, पृ० १११।

^४ मासीन धर्मनिराकरण और इतिहास पृ० ११८।

उपसृक्त कथाओं से स्पष्ट विदित होता है कि सेमेटिक जातियों की प्रथम-कथाओं और भारतीय प्रथम-कथा में कई बातों में साम्य है। प्रथम सम्भवतः यह ऐतिहासिक घटना है जो जायों के भारत में सर्वप्रथम प्रवेश करने के कमभय हुई थी तथा उनके विभिन्न भागों में बस जाने से ही यह कथा पूर्व-स्मृति के रूप में कालांतर में होने वाले परिवर्तन को भात्म प्राप्त किए बची आ रही है। घटपनबाह्याय में वर्णित कथा निश्चय ही मूल रूप से सम्भव है। इतना अवश्य है कि घटपनबाह्याय में मत्स्य की प्रजापति का रूप कहा गया है। कथा का समय भी कथन महाभारत में बना रहता है। स्पष्ट ही इस कथा में अवतार का कोई भी संकेत नहीं है। भागवत-पुराण में जबकि हरि की कल्पना है तथा मत्स्य-रूप की माया कहा गया है। हृषीक हाथ वेदों का ब्रह्मप्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण पौराणिक कल्पना है जो जना मात ही समस्त कथा को विष्णु के अवतार से संबन्ध कर देती है क्योंकि वेद वर्म हैं। जनका हरम वर्म का जोप होना है। हरि हाथ हृषीक का जब और वेदों को के भाग, दुष्टों का हस्त और वर्म की संस्थापना का संकेत है। मत्स्यावतार की पौराणिक कल्पना का आधार ऋग्वेद में भी खोजा जा सकता है। वेद में वर्णित नारायण का सम्बन्ध नार से है तथा समस्त कमभय सृष्टि में जो सृष्टि का पूर्वरूप कहा जा सकता है प्राच-रूप में केवल एक ही नारायण का अस्तित्व अवलोक करने के कारण मत्स्य को विष्णु का अवतार मान लिया गया, क्योंकि विष्णु ने भी सृष्टि को मानव के रहने योग्य बनाया था। मनु द्वारा सृष्टि की रचना और मत्स्य द्वारा उन्हें बचाने में भी पुराणकार सरलता से नारायण और ब्रह्मा की कल्पना कर लेते हैं। अवतार की कल्पना पौराणिक काल की सृष्टि है और पुराण है। सृष्टि। अतः उनमें निहित कल्पनाएँ प्राचीन मान्यताओं पर आधारित हैं। 'बोस्च टेस्टामेन्ट तथा मिस और अरब के कथा-साहित्य में कमकावन की कथा तथा सेमेटिक लोगों में देवता मनुष्य पशु और वनस्पति के एक समाज की कल्पना' जाति-सृष्टि सम्बन्धी कई प्राचीन विस्वास साम्य की संकेत है। पौराण-वर्म के अनन्तर वर्णित अवतार की कल्पना भी इसी विचाररूप का समर्पण करती है। पहले कहा जा चुका है कि असीरिया बाबा के अनुसार जोनीय एक मत्स्य देवता है जो त्रिमुखी की प्रथम के विषय में पहले से ही संकेत कर देता है।^१ भारत में मत्स्य देवों की तिप्पा करते हैं तथा जहाँनि प्रार्थना की है—'हमें देवों से बचाओ। वे हमें मारना चाहते हैं।'^२ इतना ही नहीं परवर्ती काल में मत्स्य राज्य का भी उल्लेख मिलता है।^३ स्पष्ट ही मत्स्य देव जाति वर्णाश्रम जायों के समुह है। अतः मत्स्यावतार की कल्पना में भारतीय विस्वातों का समावेश प्रतीत होता है।

प्राचीन सेमेटिक जायों में वैश्व, मनुष्य पशु एवं वनस्पति के एक समाज की स्थापना एवं जातिरूप में मत्स्य देवता जोनीय की कल्पना तथा ऋग्वेद^४ में मत्स्यों द्वारा देवों की तिप्पा से प्रतीत होता है कि मत्स्यावतार की कल्पना जायों की

सेमेटिक प्रमाण

जाति मान्यताओं पर आधारित न होकर सेमेटिक कल्पनाओं

१ ई. आर. ई. पृ० १४१।

२ प्राचीन भारतीय कल्पना और दृष्टिकोण पृ० १४५।

३ अमेरिकन कन्फेडरल ऑफ़ द डि-विनियरिड ईस्ट-१, पृ० १२०-२१।

४ भा० अ० कल्पना और दृष्टिकोण पृ० १४१।

५ अमेरिकन कन्फेडरल ऑफ़ द डि-विनियरिड ईस्ट-१, पृ० १२०-२१।

ये प्रभावित हैं, क्योंकि पुराणों के रचना-काल तक भारत पश्चिमी देशों के सम्पर्क में था।
 बुना या अत कदाचित् भारतीय विचारधारा पर पाश्चात्य विचारों का प्रभाव पड़ा हो।
 इसी सम्भावना को स्वीकार करते हुए डॉ० भांडारकर ने गोपाल-हृष्य को आभीर देवता कह
 कर उनमें ईसा मसीह का प्रभाव देखा है।^१ यद्यपि यह सत्य है कि पुराणों में विभिन्न
 विचारधाराओं को आत्मसात् करते वैष्णव धर्म को व्यापक रूप देने की प्रबल प्रवृत्ति दृष्टि
 पोषित होती है तथापि इस सम्भववाद में पुराणकारों का कार्य-क्षेत्र केवल भारतीय धार्मिक
 विचारधाराओं तक ही सीमित रहा है। अतः महासाधारण की कल्पना में धैमेदिक प्रभाव
 देवता मुक्तिमुक्त नहीं जान पड़ता। मत्स्य की कल्पना पौराणिक काल की ही कल्पना नहीं है,
 जो बिदेसी कही जा सके वरन् उसकी कथा पौराणिक काल से बहुत पहले उत्पन्न ब्राह्मण में
 मिलती है। उत्पन्न ब्राह्मण से भी पहले प्राचीनविद्याकाशीन मोहिनबोदको-संस्कृति के ज्योतिष
 शास्त्र में मत्स्य आठ ग्रंथों में से एक था तथा उसे परमेश्वर का भेद माना जाता था।^२
 मोहिनबोदको के एक शिलालेख के अनुसार नागपुर देवता जिसका छिर शीर्षोष्मानी मछली
 का और पक्ष मेरु ना था परमेश्वर का रूप माना जाता था।^३ एक शिलालेख में दिव का
 'मीमासा' कहकर वर्णन किया गया है तथा एक अन्य लेख में 'मीमासाय' द्वारा दिव को
 स्रष्टा रूप से परमेश्वर के रूप में सम्बोधित किया गया है।^४

मोहिनबोदको की सम्प्रदाय आयों से भी प्राचीन भारतीय सम्प्रदाय मानी जाती है।
 अतः उपर्युक्त आधारों से सिद्ध होता है कि आयों से पहले मोहिनबोदकोकाशीन ब्राह्मणार्थ
 दिव की उपासक भीषासनकी धार्मिक कल्पनाओं में मत्स्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जूहने
 काल में देवानुर-संज्ञान में भारत के मही व्यापिवासी ब्राह्मण असुर ब्रह्मा नाम रहें होंगे जि
 पर विजय प्राप्त करने के लिए वैदिक कार्य समय-समय पर देवताओं की स्तुति करते हुए
 दिखाई देते हैं। इन देवता आदिवासियों के प्रति विरोध एवं द्वेष के कारण ही इन जनों को
 काकाष्ठर में आयों द्वारा 'दानव' अथवा असुर' सम्बोधन मिले। इन दो विभिन्न सम्प्रदायों
 के धार्मिक विरोध के बर्धन महाभारत-काल तक होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि महा
 भारत-काल के कालनैमि अष्टावक्र धिनुपास कंस आदि दिव के उपासक थे। हृष्य और कंस
 का परस्पर सम्बन्ध महाभारत के बहुत पूर्व इन दो सम्प्रदायों के एकीकरण का प्रतीक प्रतीत
 होता है, यद्यपि धार्मिक भाग्यताएँ आज के बीच और वैष्णव मत की यथि तब भी बनी हुई
 थीं। भीष्म में कृष्ण का अपने को छत्रों में संकर कहना इसी महाभारत के अस्तित्व की पुष्टि
 करता है।^५ महाभारत में मत्स्यराज और मछली के धर्म से मत्स्यगणा की उत्पत्ति भी इन
 दोनों सम्प्रदायों के आपस में कुछमिल जाने की प्रतीति है।^६ पौराणिककाल तक आकर यह
 धार्मिक विभिन्नता भी मिश्रित धर्म-ही प्रतीत होती है क्योंकि स्कन्द-पुराण में दिव और

१ डॉ० टी. भांडारकर, पृ० १६।

२ दि. ऐतिहासिक धर्म-विद्या ७ भी० कर-रकर, पृष्ठ १, पृ० १५६।

३ धर्म।

४ धर्म।

५ पृष्ठ १०१६।

६ महाभारत भाष्यार्थ, पृ० १०।

७ स्कन्द-पुराण, महाभारत पृष्ठ, पृ० १०।

मत्स्य ग्रह का बहुत ही विघट्ट का सम्मिश्र भाग माना गया है तथा सिध को मीन या 'मीनाधिपति' कहकर सम्बोधित किया गया है। जामम-पुराण में सभी शाग्रों वेशों देवताओं एवं ब्राह्मणों के आवासों में जो मत्स्यों का होना माना गया है।^१ काचिका-पुराण में पुनर्जीवित होने पर काम द्वारा मानिकृत पर्वत पर मत्स्यरूप सिध की मूर्ति की स्थापना का वर्णन है।^२ स्कन्द-पुराण में बताया मत्स्य के जब भी विघट्टान होने का उल्लेख है।^३ विष्णुसमोत्तर पुराण में कहा गया है कि कपरीर तथा सत्य देश में मत्स्य की पूजा होती है।^४

उपर्युक्त उल्लेखों से सिद्ध होता है कि पौराणिक काल की मत्स्यावतार की कल्पना विदेशी मान्यताओं की नहीं है अपितु कथा का स्रोत भारत की ही प्राचीन मान्यताओं में उपलब्ध होता है। पतञ्ज ब्राह्मण में वर्णित बल-कावच-कथा में प्राचीन देवत्व मान्यता को स्वीकार करके मत्स्य द्वारा मनु की रक्षा कराई गई है। पर स्पष्ट ही समस्त कथा में मत्स्य का महत्त्व दीव्य रखकर मनु को ही प्रजापति के रूप में महत्त्व दिया गया है। महाभारत में मत्स्य पर जो पूर्णस्त्रोत्र अनार्य कल्पना की आर्य देवता प्रजापति का संस्कार करके आर्य पूर्व प्राचीन वंशों की धार्मिक कल्पना को मान्यता दी गई-ती प्रतीत होती है तथा इस मान्यता में दीव्य रूप से आर्यों एवं अनाथों का धार्मिक समझौता प्रतीत होता है। महाभारत के प्राचीन अंशों में ब्रह्म-सिद्धान्तों का समावेश तथा परवर्ती अंशों में शास्त्रमय के साथ सिध का महत्त्व दीव्य एवं ब्राह्मण मतों के आरम्भिक विरोध एवं परवर्ती समाधान का समर्पण करता है। पौराणिक-काल तक जाकर यह धार्मिक समन्वय पूर्णस्त्रोत्र धुल्ल-मिश्र जाता है तथा विष्णु की परमेश्वर पद पर स्थापना से प्राचीन मत्स्य में अनार्य विश्वास के आरोपण के फलस्वरूप मत्स्य को विष्णु का ही अग्र्य रूप मान लिया जाता है। इस मान्यता में फिर एक बार आर्य-देवताओं में अनार्य-कल्पनाओं को समाविष्ट करने का प्रयत्न अभिव्यक्त होता है। यह प्रयत्न किसी पापकाय परवर्ती मत से प्रभावित नहीं है बरन् इसी देश में परम्परा से बनी आई दो विभिन्न विचारधाराओं के एकीकरण का अस्थिर चरण प्रतीत होता है। इस तरह हम देखते हैं कि पतञ्ज ब्राह्मण में वर्णित मत्स्य-कथा की कल्पना आर्यों से पूर्व ब्रह्म के आदिवासियों के मत्स्य देवता से सम्बन्धित है।^५ बौद्ध एवं जैन-धर्मों में मकर की मान्यता भी मत्स्य की कल्पना का विदेशी न होकर भारतीय होना सिद्ध करती है तथा महाभारत में स्वर्णर के समय अर्जुन द्वारा मत्स्य-देव भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है।

मत्स्यावतार की कल्पना में मत्स्य-सम्बन्धी प्राचीन विश्वास विशेष रूप से सहायक हुए हैं। मोहम्मदशरीफ के एक शिष्टांश में बल्लभ जगु के मत्स्य का उल्लेख है। जादर ईरात के मतानुसार यह सम्बोधन परमेश्वर की प्रजनन-शक्ति का प्रतीक है जो मुख्यतः बल्लभ जगु में व्यक्त होती है।^६ मत्स्य का उदराल का प्रतीक होता एलोप के कैलास-मन्दिर और कम्बड़ देश की एक गाँव में प्रवर्णित प्रजा से भी विदित होता है। इस प्रजा के अनुसार

१ जामम-पुराण अ० ५, ५६।

२ काचिका-पुराण, अ० ८२, ५०-५५।

३ स्कन्द-पुराण, अ० २, अ० ५३५, २ ६२।

४ विष्णु-समोत्तर-पुराण पृथिवी कण्ड, अ० १२७ ६।

५ विवेचिकान्तर्गत ब्रह्म विद्वान् पृ ५० अथर्ववेद पृ ६२०।

६ शरी, १ ६२१।

बर-बनु विवाह होते ही नदी के किनारे पाते हैं। वनु अपना गुना गुना बाक नदी में शानकर मछली पकड़ती है तथा दोनों उसे चूमकर छोड़ देते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से सम्मान पैदा होती है।^१ अतः हम देखते हैं कि प्राचीन विरासतों के अनुसार उत्पत्ति से मत्स्य का विशेष सम्बन्ध रहा है। मायों के विष्णु भी उर्बच्छा से सम्बन्धित देवता हैं—वीरन के देवता हैं। इस प्रकार मत्स्य और विष्णु दोनों का सम्बन्ध उत्पत्ति से है। मेकडोनेस क मतानुसार मत्स्य लोगों का जाति-नाम मीन उनकी अनधिक समुद्र-मात्राओं के कारण पड़ा था तथा उनका चिह्न भी मत्स्य या मीन ही था।^२ सम्भवतः प्राचीन मत्स्य लोगों की इस विशिष्टता से ही पौराणिक अमृत-मन्थन कथा सम्बन्धित है। मत्स्य-जाति के समुद्र-यात्रा में पारंपर्य होने के कारण ही वैदिक आर्य अमृत-मन्थन के समय उनका सहयोग प्राप्त करते हैं तथा समुद्र-यात्रा द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं को प्राप्त करके नारद को मीन समुद्रि से परिपूर्ण कर देते हैं। देवताओं का अमृत-पान विष्णु का लक्ष्मी को बंगीकार करना और सिद्ध का शिव पी पाना अमृत-मन्थन के पश्चात् आर्यों के हावों धनार्थ जादियों के पराजित होने का प्रतीक मान पड़ता है।

कूर्म की कथा सतपथ और वेदिकीय शास्त्रों में मिलती है।^३ इस कथा में सृष्टि रचना के लिए उद्यन प्रजापति जल में विचरन करने वाले कूर्म का रूप धारण कर बैठे हैं।^४ यही कूर्म पुराणों में विष्णु का अवतार मान लिया जाता है तथा उसकी स्थापना प्रलय में कोई हुई वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए की जाती है। समुद्र-मन्थन के समय मछनी मेघ पर्वत है जो एक दृष्टि से सृष्टि की कुटी है। रस्ती के अनन्त-रूप वायुकी ओ नारायण का रूप है।^५ जिस वस्तु पर मंदराचल अथवा मेघ प्राधारित है वह है कूर्म अथवा विष्णु। इस प्रकार कूर्म सृष्टि का केन्द्र है। अन्य विश्वासों के अनुसार यही पृथ्वी को वहन करने का रूप है।^६ मन्थन से प्राप्त वस्तुओं की संख्या निर्दिष्ट नहीं है पर जगमें से मुख्य हैं—पद्म लक्ष्मी सुरा भूत उष्ण यथा कौस्तुभ पारिवात अप्सरा सुरभि धम्मस्तुति, अमृत ऐरावत चक्र कुण्डल। स्पष्ट ही यह कथा सृष्टि-रचना का करक है। कूर्म जो मेघ का आधार है कपाकार में पृथ्वी का प्रतीक है। सृष्टि रचना में सर्वप्रथम पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी की उत्पत्ति पर ही अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति आधारित है। अतः रत्न समुद्रि के प्रतीक हैं। दूसरी बात यह है कि कूर्म जल और जल लोगों पर रहने वाला प्राणी है। इस दृष्टि से भी कूर्म में सृष्टि के विकास का संकेत मिलता है।^७ स्वयं याज्ञवल्क्य ने भी कूर्म का अर्थ रस आक्षिप और प्राण माना है।^८ रस जल का प्रतीक आदित्य आकाश का और प्राण जो वायु-रूप है जल रस का प्रतीक है। अतः यह समस्त सृष्टि कूर्म-रूप है। उपर्युक्तों में कूर्म के लोगों कपाल

१ कि रेसिक्किन्स बौद्ध इतिहास पृ० पी १८२८८, ४ १२९।
२ श्री ४ १२९।
३ रत्नम ३१/११३ बेसिन्स ३१२७९।
४ वैदिक व्याख्यानोमी मैकडोनेस, पृ० ४१।
५ महाभारत, ११/८१२२।
६ एनेबल्ल बौद्ध धर्म विष्णुसमय ४ गाथा पृ० १९८।
७ धर्म का विकास, ४ ३४३।

पृथ्वी और सुरोक्त हैं बितके बीच है अन्तरिक्ष । इस प्रकार कूर्म सहायक का कष्ट रूप है । मार्कण्डेय पुराण में कूर्म को मनुष्य के लिए आदर्श माना गया है जो अपनी समस्त इन्द्रियों को मृष्टि-स्वापाय से समुचित करके आत्मगत्य में जीन रखता है । कूर्म का यह स्वभाव भी कूर्मवितार की क्षमता से सहायक होता है क्योंकि मयवान् वासुदेव प्राणिमात्र में व्यक्त होकर भी सबसे उत्कृष्ट है ।^१ समुद्र-मन्थन की कथा और रत्नों की प्राप्ति में देव-सृष्टि के नाश के पश्चात् समुद्र की पुनः प्राप्ति की स्थापना है । विष्णु का मोहिनी रूप इसी समुद्र के सम्मोहन का प्रतीक है तथा अमृत में सृष्टि के पोषण-तत्त्व का समावेश है । कूर्म सृष्टि स्वरूप है और विष्णु में सृष्टि का अविनाश है । शाश्वतत्व के अर्जुनगार कूर्म रस आश्रित्य और प्राण है जो कर्म-बन्ध आकाश और अन्तरिक्ष के सूचक है । ये तीनों लोक वैदिक विष्णु के विपाद में माप लिए थे । अतः प्राचीन साहित्य में कूर्मवितार का संकेत म होते हुए भी कहनाओं में साम्य होने के कारण कूर्म को विष्णु का अवतार मान लिया गया ।

अमृत-मन्थन की पौराणिक कथा एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक घटना का प्रतीक है । अमृत कार्योत्तर जातिवादी है । आर्य जबका वेद तथा असुरों का मिलकर समुद्र-मन्थन करना सुख के देवों का पर्यटन एवं उन पर विजय प्राप्त करने का समुद्र-मन्थन की कथा प्रतीक है । अमृत-मन्थन की कथा से सम्बन्धित कूर्म की कल्पना में पृथ्वी के कूर्मकार होने के विषय में मनुष्य द्वारा उपलब्ध होय प्रकट होता है । समुद्र-मन्थन से समुद्र की प्राप्ति तथा देवों का उसे आपस में बाँटकर अमर बन जाना प्रक्रम के पश्चात् भारत में आर्यों का वेदक जातिवादी पर प्रभुत्व प्राप्त करके भारत में अक्षय्य रूप से बस जाने का संकेत है ।^२ समुद्र-मन्थन के पश्चात् अमृत के विभाजन में लिए देव-असुर-मुद्र इसी सार्वभौम प्रभुता की अभिव्यक्ति कर देने का प्रयत्न है । वैशाख-मुद्र में असुर देवों द्वारा मारे जाते हैं तथा वेप असुर भाग जाते हैं । राहु के समुद्र-भाग तथा अमर होकर सूर्य को घटने में भी एक ऐतिहासिक अस्तित्व का दर्शन होता है । सूर्य अनि नाश कार्य-देवता है । असुरों के पराजित होने पर भी सम्भवतः एक अत्यन्त बलशाली असुर जाति बच गई थी जो आर्यों के विस्तार में बाधा बनी हुई थी । कामन-अवतार में बलि की कथा इसी असुर जाति के अस्तित्व का समर्पण करती है जिसका फिर एक बार ब्रह्म कामन के हाथों होता है । समुद्र-मन्थन के पश्चात् देव-असुर-मुद्र में देवों के हाथों असुरों की पराजय एवं आर्यों की स्थापना में अवतारवाद की सत्ता के दर्शन होते हैं । सम्भवतः इसी लिए समुद्र-मन्थन से सम्बन्धित कूर्म में जो पूर्वोक्त पृथ्वी से सम्बन्धित वा विष्णु का संस्कार समाविष्ट करके पौराणिक-काव्य में कूर्मवितार की कल्पना कर ली गई ।

सृष्टि के विनाश की दृष्टि से तीसरा क्रम है वराहावतार । वराह मूकता स्वयं का बासी है तथा कल्प-मूसावि बलवति काकर निर्वाह करता है । मत्स्य-कल्प का निवासी है, अतः ब्रह्मण्य सृष्टि में बलवत् के रूप में आदि-जीव की उत्पत्ति वराह का प्रतीक है । कूर्म में बल के पश्चात् बल का संकेत है तथा वराह की कहाना में पृथ्वी के बल से बाहर निकल जाने तथा उस पर

१ शतैक्य बौद्ध भनी विष्णुराम, खे० प्रोग, ४ १२० ।

२ शतैक्य बौद्ध भनी विष्णुराम, खे० प्रोग, ४ १२० ।

घटवर्तों की उत्पत्ति की स्थापना है।^१ विद्वानों का मत है कि बिष्णु के बराह-रूप धारण करने का बीच उत्तपन्न ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में विद्यमान है।^२ ऋग्वेद में बिष्णु ने क्षीरपाक तथा एक ही महिषों को ग्रहण किया था जो बस्तुतः एमुष नामक बराह की सम्पत्ति थे।^३ उत्तपन्न ब्राह्मण में यही एमुष नामक बराह पृथ्वी को ऊपर उठा लेता है। तैत्तिरीय संहिता में पृथ्वी को ऊपर उठाने वाला बराह प्रजापति का रूप है। पुराणों में यही प्रजापति बिष्णु का रूप बन जाता है।^४

विद्वेज् सा बिष्णु रामरघुवज्रमस्तथेति

उत्तं महिषम् क्षीरपाकं मोक्षं बराहमित्र एमुषम् ॥^५

के अनुसार बिष्णु बीसों के प्रेम से प्रेरित होकर मनुष्य के लिए क्षीरपाक, मोक्ष तथा सैकड़ों महिष नाम के पशु जाति जन्मवा बड़ी-बूढ़ियाँ उत्पन्न में भर देते हैं। स्पष्ट ही इस मन्त्र में न तो कहीं बराह अवतार है और न ही उसमें पौराणिक कथा का कोई संकेत मिलता है।^६

उत्तपन्न ब्राह्मण में वैदिक 'एमुष' शब्द का विग्रह करके बर्ण किया गया है तथा यज्ञ के लिए बराह द्वारा जोड़ी हुई मिट्टी को लाने का वर्णन है। इसी ब्राह्मण में यह भी वर्णन किया गया है कि यज्ञ में से निकली हुई पृथ्वी परिमाण में उत्पत्ती ही थी जिसकी पृथ्वी जोड़ने वाले सूकर के घुंफे पर होती है।^७ यहाँ स्पष्ट रूप से यज्ञ में से निकली हुई पृथ्वी को बराह के घुंफे पर बिपकी हुई मिट्टी के रूपक द्वारा समझाने का प्रयत्न समित होता है।^८ उत्तपन्न ब्राह्मण में यज्ञ के लिए तीन प्रकार की मिट्टी पवित्र मानी गई है—वस्मीक-यवा बराहबात एवं क्षमिबात तथा इन्हीं से यज्ञ के लिए पिष्ट बनाए जाते हैं।^९ इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तपन्न ब्राह्मण में बराह-अवतार का कोई भी संकेत नहीं है। वैदिक साहित्य एवं ब्राह्मण-ग्रन्थ में सूकर के उल्लेख से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि बराह की कल्पना वेदों से भी प्राचीन है एवं अगार्ब विम्बासों को सूचित करती है।^{१०} छीमेक का कथना है कि मोहेनजोदड़ो की खुदाई में निके हुए कंकाल भारतीय सूकर के ही कंकाल हैं। मत छीमेक का अनुमान है कि भारत के आदिवासी प्रागैतिहासिक-जन कुत्तों की सहायता से सूकर का धिक्कार करने उसका नास करते थे।^{११} छीमेक का अनुमान बिष्णु-कल्पना-या प्रतीत होता है। सूकर के प्राचीन कंकाल उत्पत्तीन बाह्य पर प्रकाश न डालकर सूकर के महत्त्व की ओर संकेत करते हैं। सूकर के इस प्राचीन महत्त्व के कारण ही सम्भवतः तैत्तिरीय

१ अग्नि का विकास डॉ० सुप्रसन्न शर्मा, पृ० १४६।

२ उत्तपन्नब्राह्मण ३।१।१।१२, तैत्तिरीय संहिता, ३।१।१।१२।

३ ऋ० ८।१०।१।

४ अथर्ववेद पर्व ४०।१०।१०, पृ० ८३।

५ ऋ० ८।१०।१०।

६ अग्नि का विकास, पृ० १४६।

७ अग्नि का विकास, पृ० १४६।

८ यही।

९ यही।

१० एथर्ववेद पर्व ४०।१०।१०, यो० मोक्षा पृ० १३६।

११ दि वैदिकविम्व डॉ० छीमेका, यो० पी० करमकर, पृ० १२५।

संहिता में बराह को प्रजापति का रूप कहकर सूकर-सम्बन्धी विस्वासें को मान्यता दी गई। समुद्र द्वारा मधुर में झंका की बराह मूर्ति की स्थापना बराह-सम्बन्धी इसी प्राचीन विश्वास की पुष्टि करती है।^१ भारत की मानेर जातियों में आज भी सूकर पवित्र माना जाता है। बम्बई की प्रसु जाति बनसी सूकर को देवता समझकर वर्ष में एक बार उसका मांस खाती है।^२ पश्चिम भारत के कबारी लोगों की मान्यताओं के अनुसार सूकर का मांस खाने तथा घर में छटकाने से मृत-बाधा का भय नहीं रहता।^३ यंया के किनारे सूकर क्षेत्र आज भी नाया का केन्द्र बना हुआ है वहाँ विष्णु की बराह-मूर्ति की प्रतिष्ठापना होती है।^४ राजपूताना में बसन्तोत्सव के अवसर पर सूकर को मारने की प्रथा भी क्योंकि वह पीरी का समु समझा जाता था।^५ गोंड जाति में बसुदेव के सामने सूकर को काटने की प्रथा है। मध्य प्रदेश के हिन्दू क्रसक की रक्षा के लिए अपने ग्राम-देवता मैसापुर पर सूकर-जलि चढ़ाते हैं।^६ अलीबाबाद की राजगोंड नामक जाति में भी पृथ्वी-देवता पर घुघर की बलि चढ़ाने की प्रथा विद्यमान है। नाया जातियाँ बम्बई क्रसक होने के लिए अब भी सूकर का मांस खाती है।^७ बारिया सोन क्रसक का एक मान अपने इष्टदेव बारिया के लिए छोड़ देते हैं जो बराह है।^८

अथर्ववेद परिशिष्ट के अनुसार सूकर वर्षा का शुभक है।^९ ऋग्वेद में भी सूकर और सोम का सम्बन्ध है।^{१०} अथर्ववेद में भी पृथ्वी और सूकर का निकट का सम्बन्ध है।^{११}

सूकर-सम्बन्धी पवित्र मानना का दर्शन घसर की अन्य कई प्राचीन जातियों में होता है। मध्य और उत्तर यूरोप की लोक-कथाओं में डकारकर उन्हें खोद्यता हुआ सूकर बतझोग वर्षा समझा तुझान का शुभक माना जाता था तथा उसके दाँत बराह में अनाम-प्राप्ति विष्णु या ब्रह्म के प्रतीक थे।^{१२} सूकर के विभिन्न अर्थ जीपवि जातियों के पवित्र सूकर जीवनानुसार तथा उत्पत्ति के लिए प्रयोग में लाने की प्रथा थी।

की कल्पना प्राचीन अमेरन लोगों में बराह का सम्बन्ध कृषि तथा बछेदेवताओं से माना जाता था तथा बम्बई क्रसक इन पर निर्भर मानी जाती थी। इसी जाति में सूकर के सिर की क्षपण खाने की भी प्रथा थी।^{१३} वेस्टिक (बायरलैण्ड)

सोन सूकरों का सम्बन्ध पृथ्वी-देवता से मानते थे।^{१४} प्राचीन बुनानी खेतों में सूकर कृषि

१ दि डिक्विस्त ऑफ़ रीक्विग, प पी कट्टरकर, पृ० १८३।

२ यी।

३ यी।

४ यी।

५ दार एवेस्त, भाग १ पृ० ३३६।

६ एवेस्त ऑफ़ भागी विष्णुसम पृ० १३४।

७ यी, पृ० १३३।

८ दि डिक्विस्त ऑफ़ सी० राज एवक बार० सी० राज, पृ० ४४४।

९ अथर्ववेद परिशिष्ट, ३३।१।७।

१० अ० ३।३।७।

११ अथर्ववेद ११।१।७४।

१२ एवेस्त ऑफ़ भागी विष्णुसम, के गोवा पृ० १२६।

१३ यी, पृ० १३।

१४ यी।

देवताओं से सम्बन्धित माना जाता था ^१ तथा धूकर की रूप-रूप जाने की भी प्रथा थी।
 ग्रीक भाषा में डीमेटर (Demeter) नामक कृषि-देवता से सम्बन्धित स्थियों का थैसमोफोरिया
 (Thesmophoria) नामक एक वार्षिक त्योहार होता था जिसमें तब धूकरों को जमीन में
 गड़बे सोकर जगमें छोड़ने की प्रथा थी। धूकरों के साथ साथ एकड़ी भाषि से बनाई हुई
 धूकरों के शिर के आकार की वस्तुएँ बनाकर छोड़ने की प्रथा थी। उत्पन्न हुए मर्दों में से
 धूकरों का प्रत्येक मांस निकालकर खेतों में डाला जाता था। उन लोगों का विश्वास था कि
 ऐसा करने से प्रसन्न बरगी होती है।^२ प्राचीन मिस्री लोगों में यद्यपि बार्मिक क्षेत्र में धूकर
 अपवित्र माना जाता था तथापि वहाँ भी किसी काष्ठ में धूकर मांस का छक्षण माना जाता
 था तथा उसका सम्बन्ध इलीस (Isis) तथा मातृदेवता नट (Nut) से माना जाता था।
 रोमियों में सन्तान की उत्पत्ति के लिए नव-व्यसि के शरीर पर धूकर का रक्त मजने की
 प्रथा थी।^३ इन्डोनेशिया के सावू (Savu) द्वीप तथा सेंडविच द्वीप एवं गिनी में भी धूकर
 सम्बन्धी ऐसे ही कई प्राचीन विश्वास वस्तित्व में हैं।^४ महाभारत में भी कई स्थानों पर
 धूकरने वाले धूकर का उल्लेख मिलता है तथा कहीं-कहीं उसकी तुलना बादलों के गर्जन
 से की गई है।^५ विष्णु भी बादलों की तरह वरषते हुए कासे बराह का रूप धारण करते
 हुए अंकित किये गए हैं।

उपर्युक्त आचारों से स्पष्ट हो जाता है कि संसार की प्रायः सभी प्राचीन भाषियों में
 धूकर पवित्र समझा जाता था तथा उसका सम्बन्ध पृथ्वी कृषि तथा उत्पत्ति से था। सम्भवतः
 धूकर के भूमि कोने से ही उसका सम्बन्ध पृथ्वी की उत्पादन-शक्ति से माना गया हो। सम्भवतः
 भूमि का अनुमान है कि धूकर के इसी स्वभाव से मनुष्य ने जमीन कोतना सीखा है।^६
 जर्मन खोद-नयाकों के अन्तर्गत हम विश्वासों के विश्व नम्य भी उपलब्ध होते हैं वहाँ भूमि
 को धृष्टि का गेट बयबा गर्भ कहा गया है।^७ जर्मन में भी सोमरस निकालने के लिए
 व्यवहार को प्रस्तर-मर्दों की (आकार-विशेष एवं परिमाण की दृष्टि से) धूकर के शिर एवं
 स्त्री की योनि से तुलना की गई है।^८ संस्कृत भाषा में 'जेन सख्य भूमि, गर्भ एवं पत्नी का
 स्त्री की योनि से तुलना की गई है। अतः हम देखते हैं कि पवित्र धूकर की कल्पना आर्य प्राचीन
 भाषियों की कल्पना है तथा भारत में भी इस कल्पना का सम्बन्ध यहाँ के आदिवासियों से
 रहा है। जर्मन के अनुसार 'एमुप' का पर्वत के इस पार रहना तथा वैदिकीय संहिता के
 अनुसार उसका सप्त-पर्वतों के उस पार अमुरों का कोप विधाए रखना 'एमुप' या बराह

१ परमेश्वर बौद्ध भर्ती विष्णुसम जे० पृष्ठा, पृ० ११ ।
 २ वही, पृ० १११ ।
 ३ वही, पृ० ११२ ।
 ४ वही ।

५ व्यासपत्र १, २७२ २४ ।
 ६ एलेक्जेंडर बौद्ध भर्ती विष्णुसम, पृ० १११ ।
 ७ वही ।
 ८ जर्मन १/२०११ ।
 ९ जर्मन १/११, ७ पृ०, ७७, १ ।
 १० वैदिकीय संहिता, १, १ ४, १ ।

नामक किसी आत्मा अधिपति की ओर संकेत करता-सा प्रतीत होता है, जिसका मन एवं सम्बोधन देव प्राप्त कर लेते हैं। अर्धबैबल में ओवन को समूह कहा गया है।^१ इस प्रकार दोनों को समूह भी मिल जाता है तथा पृथ्वी पर उनका आधिपत्य भी स्थापित हो जाता है। इस कथा से स्पष्ट होता है कि आर्यों के आने के पूर्व भारत की पृथ्वी पर यहाँ के आदिवासियों का आधिपत्य था जिनका अधिपति कोई एमुप नामक व्यक्ति रहा होगा तथा आर्यों के आगमन में प्रवेश के समय वह दक्षिण की ओर बसा पड़ा होगा। बकि का जर्मन के लठ पर दब करना^२ बकि की पत्नी का 'विष्णुबकि' नामकरण एवं अत्यन्त ऋषि के सम्मुख विष्णुबकि के नतमस्तक होने की कथा वादि इस बात की पुष्टि करती है कि प्राचीन काल में आर्यों को केवल विष्णुबकि तक की भूमि का ज्ञान था तथा दक्षिण में वात्सी अथवा असुरों का आधिपत्य था। आदिवासियों के आधिपत्य के कारण ही सायब लठपथ ब्राह्मण में एमुप को पृथ्वी का उद्धारिता तथा प्रजापति कहा गया है।^३ ऐतिहासिक धारणा^४ में सहस्रबाहु बराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार भी व्यक्ति की अपेक्षा बात का ही सूचक प्रतीत होता है। निश्चय ही ये कथाएँ आर्यों के प्राचीन विश्वासों को सूचित करती हैं।

महाभारत^५ में असुरों के भार से पृथ्वी लुई पृथ्वी के विष्णु द्वारा उद्धार की कथा पौराणिक बराहकृतार की कल्पना के निकट प्रतीत होती है।^६

प्राचीन आदिवासी विश्वासों के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति में सम्मिलित है। वह पृथ्वी का पति है तथा मोहन या समूह रूप में बल-शक्ती बीजोपयोगी शक्ति का अधिपति भी है। वैदिक एवं ब्राह्मण कल्पनाओं के अनुसार विष्णु का भी पृथ्वी है एवं बीजोपयोगी सोम से सम्बन्ध है। प्राचीन आदिवासी मोम-आख्य के अनुसार बराह रूप विष्णु पृथ्वी की ओर में बिठा कर उसके घात सम्मोह करते हैं।^७ इसी प्रकार मत्स्या की कथानुसार बराह-विष्णु पृथ्वी के अन्तर्ग प्रवेश कर के एक प्रासाद बेघरे हैं तथा राक्षस का रूप धारण करके पृथ्वी के घात सम्मोह करते हैं।^८ ये दोनों कथाएँ पृथ्वी-नियंत्रक उत्पत्ति की सूचक हैं तथा प्राचीन कल्पनाओं पर आधारित हैं। प्राचीन बराह एवं वैदिक-विष्णु में उपर्युक्त साम्य होने के कारण ही पुराणकारों ने तत्कालीन प्रचलित विश्वासों को मान्यता देते हुए बराह में विष्णु का आरोपण करके बराहकृतार में उन विश्वासों का वैष्णवीकरण कर रखा है।

सृष्टि कथार की कथा विभिन्न पुराणों में उपलब्ध होती है। विष्णु-सुख के अनुसार विरूपकसिंधु बराह हजार पाँच सौ वर्ष उपलब्ध करके ब्रह्मा से अधस्तन प्राप्त कर लेता है तथा उसके आसन-काल में ऋषि ब्राह्मण आदि नष्ट हो जाते हैं।^९ ब्रह्म तथा हरिश्च

१. अर्धबैबल, १२, २, ४।

२. प्राचीन अदिन को विष्णु साहसी ('बकि' राज्य देखिय)।

३. अन्तर्गकृतार, १४ १, २, ११।

४. ऐतिहासिक धारणा, १, १ =।

५. महाभारत, १, १४२, २३।

६. अन्तर्गकृतार और बकि विष्णुसूक्त, १० १४।

७. अन्तर्गकृतार और बकि विष्णुसूक्त, १० १४, १० १४२।

८. वही।

९. विष्णु-सुख, १, १८-१०।

पुराणों के अनुसार हिरण्यकशिपु का अत्याचार ही तब आकर बैवठा बिष्णु से अवतार मारण करने के लिए प्रार्थना करते हैं।^१ नृसिंह और मायवत-पुराणों में

नृसिंह नृसिंह प्रह्लाद की रक्षा के लिए अम्भ में उ प्रकट होते हैं।^२

मागवत तथा ब्रह्मपुराणों में नृसिंह का आभा क्षीर सिंहा तथा आभा मनुष्य का था।^३ देवी-भागवत नृसिंह-अवतार का समय भीमे युग में मानता है।^४ भागवत पुराण इसे चौहत्तीस अवतार कहता है।^५ मागवत हरिवंश छिन्न, मत्स्य, पद्म आदि पुराणों में बिष्णु हिरण्यकशिपु का सारंगकाल के समय वध करते हैं।^६ छिन्न-पुराण में कहा गया है कि हिरण्यकशिपु का वध करण के वाण जब नृसिंह अपने आने में नहीं खुदते तब छिन्न धरम का अवतार मारण करके नृसिंह का वध करते हैं।^७ महाभारत हरिवंश मत्स्य ब्रह्माण्ड, वायु आदि पुराणों में हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद पर अत्याचार तथा नृसिंह की अम्भे से उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है।^८ ब्रह्म-पुराण में नृसिंह हिरण्यकशिपु का वध करके दक्षिण की गोमती (गोदावरी) के तीर पर आकर दण्डकाधिपति अम्बर का वध करते हैं।^९

इससे पता चलता है कि पौराणिक-काल में नृसिंह की कथा प्रचलित थी तथा उपलब्ध पुराणों के रचना-काल से पहले नृसिंह और बिष्णु का घटबगटन नहीं हो पाया था। महाभारत हरिवंश मत्स्य ब्रह्माण्ड वायु आदि पुराणों में हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद पर किये गए अत्याचार एवं नृसिंह की अम्भे से उत्पत्ति के उल्लेख का अभाव। इसी बात की पुष्टि करता है। इतना ही नहीं, नृसिंह और बिष्णु का घटबगटन करने वाला एकमात्र सूत्र प्रह्लाद प्रतीत होता है।

पुराण-काल से पहले नृसिंह की कल्पना मत्स्य, बराह कूर्म आदि की ही भाँति अत्यन्त प्राचीन विद्वानों को लेकर प्रचलित थी तथा उसका कोई भी सम्बन्ध बिष्णु से नहीं था। हबल मोहम्मद के समय 'यागुथ' (Yaguth) नामक सिंह-देव की उपासना प्रचलित थी।^{१०} निश्चय ही 'यागुथ' की कल्पना भारतीय नृसिंह की कल्पना से बहुत भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है तथा स्पष्ट ही नृसिंह-निपणक कल्पना की प्राचीनता एवं व्यापकता सिद्ध करती है।^{११} इससे भी पहले 'अवेस्ता' में 'नर्वोसिंह' नामक देवता का उल्लेख मिलता

१. मत्स्यपुराण, २. ११। हरिवंश, १. ४२।

२. नृसिंह-पुराण, ४४. १६। भागवत-पुराण, अ. ८।

३. भागवत-पुराण, अ. ८, मत्स्य-पुराण, १४३। १२३, ३३-३४।

४. देवी-भागवत, ४. १६।

५. भागवत-पुराण, १. ३।

६. भागवत, १. ७। हरिवंश, १. ४२। छिन्न, १. ३४। मत्स्य, ४०. ४३। पद्म, २. ३५।

७. छिन्न-पुराण, १. २३।

८. महाभारत, समाख्य, ४६. १३। १०३। १००. १०, ११. ४०। मत्स्य, १३१. १३५। ब्रह्माण्ड, ६. ३३। वायु, २. ६. ३३।

९. मत्स्यपुराण, १४०।

१०. महाभारत, समाख्य ४३. १३। १०३। हरिवंश, १. ४२-४३, भागवत १३१. १३५। ब्रह्माण्ड, ६. ३३। वायु, २. ६. ३३।

११. ई. भारत ६०, ६०. १२३।

१२. महाभारत भाग कोण, महाभारत भाग, ६०। १२३-१२४।

है।^१ सम्भवतः सर्वोत्तम नृसिंह का ही अपभ्रंश हो।

नृसिंह को लेकर एक स्वतन्त्र पुराण की रचना भी नृसिंह-विषयक माध्यमों की प्राचीनता सिद्ध करती है जिसका समर्पण मत्स्य-पुराण से होता है, जिससे अनुसार नृसिंह पुराण की दशोक्त-संख्या अठारह हजार है।^२ अपभ्रंश में इस पुराण का सम्बन्ध बारहवीं शताब्दी में किया है^३ तथा इस पुराण का मूल-संहिता में चौधरा स्वाग माना है। हेमाद्रि ने तथा ठेगड़ी शताब्दी के आरम्भ में महाराष्ट्र में महानुभाव-यंत्र व प्रवर्तक स्वामी पद्मधर ने नृसिंह का उल्लेख किया है। हेमाद्रि एवं बृह हरित द्वारा उल्लिखित विष्णु के बीवीस नामों में जिनका पठन आज भी प्रत्येक ईदिक किया के आरम्भ में होता है। नृसिंह उन्नीसवाँ नाम है।^४ स्वामी पद्मधर ने नृसिंह का उल्लेख करते हुए भी नृसिंह को हेमाद्रि यादिक की मूर्ति विष्णुवाचक न मानकर उनका सम्बन्ध अष्ट मीरवों में त्रिशास्त्रिक भुज विष्णु से माना है। महानुभाव-यंत्र में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या शास्त्र के अनुसार अष्ट मीरवों का क्रम देवता-विधान में बीषा है।^५ इस तरह विष्णु का सम्बन्ध पौराणिक ब्रह्म के अविच्छिन्नता विष्णु से न होकर इससे दो कोटि ऊपर भुज शास्त्रिक रूप अष्ट मीरव से है।^६ नृसिंह-विषयक ठेगड़ी शताब्दी के इस मतांतर तथा पौराणिक उल्लेखों में असमानता से प्रतीत होता है कि नृसिंह की कल्पना अत्यन्त प्राचीन थी तथा उसकी प्राचीनता के कारण ही पुराण-काळ में संस्कृत कथाओं को उसका स्पष्ट रूप विहित नहीं था। एक प्राचीन सिक्के से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि गुप्त-वर्ष के समय में नृसिंह की उपासना का प्रचलन था तथा उन्हें विष्णु का अवतार माना जाता था^७ तथा उत्काशीन मूर्तिकला में नृसिंह का उग्र रूप ही व्यक्त करने की प्रथा थी यद्यपि विष्णु को पुरुषस्त्रेय शास्त्रिक एवं सांतिप्रिय देवता के रूप में ही माना जाता था। मत्स्य-पुराण में नृसिंह-हिरण्यकशिपु-मुद्र की मूर्ति के निर्माण के विषय में उल्लेख उपलब्ध होता है जिसमें नृसिंह व उग्र रूप हिरण्यकशिपु के हाथ में बाण-तलवार का उल्लेख आता है। चित्रा प्लन अम्बिपुराण विष्णु चमोत्तर रूप-संज्ञक आदि में भी नृसिंह का यही उग्र रूप प्रतिपादित है तथा अधिकतर प्राचीन मूर्तियों में अनेक नृसिंह की मूर्ति की अपेक्षा नृसिंह हिरण्यकशिपु मुद्र ही अधिक किया हुआ मिलता है। इसके ठीक विपरीत मैलानसगम में नृसिंह को शांति एवं योगी के रूप में व्यक्त किया गया है।^८ नृसिंह-मूर्ति का वह नाम गुप्त-काशीन एक मुद्रा में भी व्यक्त हुआ उपलब्ध होता है। देवगढ़ के गुप्तकाशीन मन्दिर में नृसिंह को संस कक यथा यथा कारण किन्ही क्रमशः पर आसीन चित्रित किया गया है।^९ महाश्व की कदमी-नृसिंह काश्य-मूर्ति में कदमी का समालोचन एवं नृसिंह की शांति मुद्रा नृसिंह

१ मरी, १ (२०) २३।

२. महाराष्ट्र वन कोष, मराठाका कवय, वर्ष प्रकाश ६० (२०) २३।

३ मरी।

४ ३० टी. मोंटगमरी, १ ५७।

५. बौद्धजोना गुप्त-संभवक, वसिष्ठकवय मेने, ५ १।

६. लाल अम्बिया राय व लोचनकर, १ ५२।

७. डेवले-१२ आठ सिन्धु आलोचनीय, ६० का. १ वर्षों ६० २००।

८. मरी, (मिनी संस्करण) १ ४१६, ४१७।

९. मरी।

की आरम्भिक उन्नता को विष्णु की सार्विकता में परिणत करती-सी प्रतीत होती है।

इससे प्रतीत होता है कि नृसिंह की कल्पना मूक रूप में आर्यों की अपनी कल्पना न होकर अन्य जनो के प्राचीन विश्वासों पर आधारित थी तथा उसमें उन्नता की स्थापना हिंस्र कृति की प्रतीक थी। मोहनजोदड़ो सम्प्रदाय के अन्तर्गत सिंह की अभियों का समाहार 'पार्वती के वाहन के रूप में स्थापना' सिंह के इसी हिंस्र गुण की मान्यता को चरितार्थ करती है, यद्यपि उस समय भी सिंह का पृथक् अस्तित्व पुनर्नीय नहीं था। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'नृसिंह' में नर और सिंह का योग दो विभिन्न गुणों एवं मत्तों के यत्नजन्य का प्रतीक है। सिंह स्वभावतः हिंस्र जन्तु है अतः यह हिंस्र का दामनी शक्ति का प्रतीक है और कुछ सीमाओं में हिंस्र अभियों का धर्म है। अतः सिंह अभिय यातियों का शक्ति का सत्ता का प्रतीक है। अग्नि तथा ब्राह्मण अथवा हिंस्र एवं सार्विक कृतियों के योग से ही आदस मनुष्य की स्थापना तथा कुष्टों का नाश सम्भव हो सकता था। इसी तरह के आधार पर सम्भवतः नृसिंह की कल्पना का विकास हुआ। इस प्रकार नृसिंह की कल्पना में जहाँ एक ओर अभिय तथा ब्राह्मणों में विद्यमान प्राचीन विरोध के निराकरण का दर्शन होते हैं, वहीं दूसरी ओर परम्परा से प्रचलित अत्यन्त प्राचीन पशु-पुत्र-सम्बन्धी स्वामीय लोक-विश्वासों का भी समावेश है। यही नहीं उसमें पाद्ययिकता के मान्यता की ओर सृष्टि-विकास के चरण की मान्यता भी अन्तर्निहित है।

उपर्युक्त विवेचनाओं के कारण ही पौराणिक युग में नृसिंह की प्राचीन कल्पना को लेकर नृसिंह-अवतार की कल्पना प्रतिष्ठित हुई। इस अवतार की पौराणिक कल्पना में 'अग्नेद' में कथित नमूनि की कथा अत्यन्त सहायक प्रतीत होती है तथा पौराणिक नृसिंह कथा का मूक भी वैदिक नमूनि-इन्द्र-युद्ध की कथा में अभिलेखित होना है।^१ वैदिक नमूनि दानवपुत्र है इन्द्र का पुत्र है। हिरण्यकशिपु भी दानव है विष्णु का शत्रु है। नमूनि देवों पर आक्रमण करने वाली दानव सेना का सेनापति है।^२ हिरण्यकशिपु भी दानव शक्ति का अभिपति है।^३ नमूनि का इन्द्र बर देता है कि वह किसी भी आर्त अथवा दुःख सूर्य से नहीं मारा जा सकता। तभी तो इन्द्र समुद्र के कोन से उसका शिरच्छेद करता है। नमूनि का शिर इन्द्र का पीछा करता है तथा ब्रह्मा के कहने पर जब इन्द्र अपना नामक तीर्थ में स्नान करता है तब तीर्थ में गिरकर अमरत्व प्राप्त करता है।^४ पौराणिक हिरण्यकशिपु भी ब्रह्मा को प्रसन्न करके अमरत्व प्राप्त करता है तथा उसकी छाती नृसिंह अपने गलों से चीरते हैं।

अतः हम देखते हैं कि प्राचीन वैदिक नमूनि की कथा किञ्चित् रूपान्तरित होकर हिरण्यकशिपु की कथा के रूप में पौराणिक काल में नृसिंह-अवतार को जन्म देती है तथा वैष्णव-धर्म को व्यापकता प्रदान करके उसके अन्तर्गत ब्राह्मणेतर अभिय एवं अन्य आसियों

१. नि. वैदिक-ग्रन्थों की शिखरा, पृ० १०-११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००।

२. पृ० २१४/१६।

३. प्राचीन अग्नि कोष, विशाल शाली, पृ० २८०।

४. महाभारत, सभाष्य, २१।

५. विष्णु-पुत्र, ११०-१२०।

६. महाभारत, शल्य-पर्व ४४।

क विश्वासों को समाविष्ट करके समस्त कल्पना को ब्राह्मण विश्वासों की पारबन्धन पर प्रतिष्ठित कर देती है।

मूर्तिस्मरणकार की भाँति विष्णु के वस्त्रावतार में वामन का भी समावेश कर लिया गया है। वैदिक मन्त्र 'इदं विष्णु विश्वम् जेधामिदमे पदम् समुद्रमस्य पांसुरे'^१ के अनुसार विष्णु ने अपने तीन पदों में समस्त ससार को माप लिया था।

वामन वस्तुतः ब्राह्मण में यही 'इदं विष्णु विश्वम् जेधामिदमे पदम् वामन रूपेण वनं वाते हूँ' तथा पौराणिक काव्य में अवतार की धेमी में वा

वाते है। वैदिक एवं ब्राह्मण साहित्य में वर्णित विष्णु के कार्यों की विशेषता ही पौराणिक काल में वामन अवतार की कल्पना को जन्म देती है क्योंकि वामन में अवतारवाद की सभी विशेषताएँ सरलता से देखी जा सकती हैं। इसका ही नहीं वामन मूलतः विष्णु ही ने तथा अपने मूल रूप में एक ओर बड़ी समृद्धि अथवा पुष्टी छीन ली थी वहीं दूसरी ओर बलि की पाताल में बँधकर वातुर्बन्धों की प्रतिष्ठापना भी की थी।

वामन मूलतः बद्ध-रूप है, ब्राह्मण है, वान का पात्र है तथा बलि की कथा से उसका निकट का सम्बन्ध है। इसी कथा में वामनावतार का महत्त्व अन्तर्निहित है जिसका वाकार लेकर पौराणिक काव्य में वामनावतार की कल्पना परिपुष्ट हुई है।

वस्तुसर्वपण की प्रतिष्ठापना बलि के शासन-काल में ब्राह्मण तथा मूर्ति को कष्ट होने के कारण ही विष्णु ब्राह्मणों को वामन-अवतार देने का आश्वासन देते हैं।^२

बलि विष्णु का मित्रक है अतः ब्राह्मण से छाप पाकर विष्णु की शरण जाता है^३ तथा वान होता है।^४ बलि की कथा में कोश की विपत्ति का निवारण ब्राह्मणों का ईश्वर के कर्म में स्वीकार तथा वान की महिमा ही वामनावतार की पौराणिक कल्पना को जन्म देती है।

इस प्रकार ब्राह्मण-रूप वामन की कल्पना में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा जय वषों की निष्कण्टका वनावस ही प्रतिष्ठित हो जाती है।

वामनावतार की कल्पना तथा विष्णु के वस्त्रावतार में उसका कम विकासवाद की दृष्टि से भी सहायक प्रतीत होता है, क्योंकि मूर्ति के बाद बद्ध-रूप वामन की कल्पना में मनुष्यता के धर्म विकास का बीज बोना जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि पौराणिक काल के पहले वामन विष्णु के रूप-मात्र के अथवा स्वयं विष्णु के। अवतार के रूप में उनकी मान्यता नहीं थी। पौराणिक काल में विष्णु का वामन रूप विविध होते हुए भी जय वस्तुतः की भाँति वामन को विष्णु का अवतार मानना स्पष्ट ही तत्काशीन धार्मिक समर्थानों के समर्थनार्थ प्राचीन मान्यताओं की एक नये ढंग से पुनरुत्पत्ति है। पौराणिक काल में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बनाए रखने में वामनावतार की कल्पना विशेष सहायक प्रतीत होती है।

१. ऋ. १।१५।१५।

२. उपनिषद्, १. २. ५।

३. मनुस्मृति ५६।

४. अमर-सुख, ७७।

५. परमपुण्य प्रत्यक्ष कथन, १३।

परशुराम का उत्सव सर्वप्रथम महाभारत में उपलब्ध होता है।^१ राम और इन्द्र की भीति आरम्भ में परशुराम का भी विष्णु से कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता।^२ न ही महाभारत में वर्णित परशुराम की कथा का विष्णु से कोई सम्बन्ध है। रामायण में जबकि परशुराम के पास विष्णु का मनुष्य जन्मों का निपात होने तथा राम द्वारा विष-मनुष्य छोड़कर उनके वनप्रस्थ को बुर करने का वर्णन है पर महाभारत का यह अंश सम्भवतः बाद में जोड़ा हुआ है।^३ रामायण में वर्णित राम और परशुराम में सीता स्वयंवर के समय विरोध भी इसी बात की पुष्टि करता है। निश्चय ही उस काल तक परशुराम का विष्णु के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ पाया था, क्योंकि किसी परवर्ती काल में जन्मों के विरोधी एक ब्राह्मणों के संघर्षक होने के कारण परशुराम को विष्णु का अवतार मान लिया गया है। विष्णु-पूराण तथा वायु-पूराण में देव, ऋषि भक्त तथा मानवों का कर्तवीर्य के राज से तम जाकर विष्णु से अवतार-भारण के लिए प्रार्थना करना परशुराम को पूर्वजन्म विष्णु-अवतार की कोटि में ले आता है।

कर्तवीर्य की कथा में मृत्यु के बरबाद से उनकी पुनर्जन्म सत्यवती को जमदग्नि नामक पुत्र और परशुराम नामक पुत्र का होना उत्काशीन ब्राह्मण तथा जन्मों के बीच विद्यमान परस्पर विरोध एवं विरोध से सम्बन्धित है। इसी विरोध का निदान कर्तवीर्य की कथा कर्तवीर्य की कथा से होता है। कर्तवीर्य द्वारा जमदग्नि की होम विधु के बड़े का अपहरण तथा उसने पुत्रों द्वारा जमदग्नि का वध ब्राह्मण धर्म में जन्मों के हस्तक्षेप तथा उन पर अत्याचार को सुचित करता है। इसी प्रकार परशुराम द्वारा इसकीष्ट बार पृथ्वी को जन्महीन करना जन्मों के जन्म तथा ब्राह्मणों के वर्चस्व की स्थापना का प्रयत्न है। महर्षि ऋषीक का साक्षात् प्रकट होकर परशुराम को जन्म निपात से रोकना एवं परशुराम का समस्त पृथ्वी ब्राह्मणों को शान्त कर देना इसी परिस्थिति की पुष्टि करता है।

स्पष्ट ही परशुराम की कथा में कंस, राजन आदि की भीति किसी शान्त-शक्ति के अधिपति का बन्ध नहीं है। न ही कहीं धर्म की प्रतिष्ठापना का चिह्न मिलता है जो उन्हें अवतार की कोटि में ला सके। तथापि परशुराम का विष्णु के अवतारों में समावेश इस बात को सुचित करता है कि पौराणिक काल की अवतार-कल्पना में ब्राह्मण-धर्म में विघ्न उपस्थित करने वाला प्रत्येक व्यक्ति शान्त-मुख्य ही समझा जाता था तथा ब्राह्मणों के रक्षक विष्णु का ही अन्य प्रकार माना जाने लगा था।

दाशरथी राम का स्पष्ट उत्सव महाभारत में उपलब्ध होता है तथा वाल्मीकीय रामायण में उनकी कथा विस्तार से दी गई है। डॉ० याकोबी के मतानुसार राम इन्द्र के ही अन्य रूप हैं। याकोबी का अनुमान है कि इन्द्र का यही रूप पश्चिम-भारत में बलराम एवं पूर्वी भारत में दाशरथी राम में

रामायण

१ महाभारत, कनक १।

२ ई० आर० ई०, १० १४५।

३ वही।

विकसित हुआ।^१ स्पष्ट ही माकोबी का अनुमान असम्भव नहीं है, क्योंकि बभ्राराम-विषयक उपासना अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन प्रतीत होती है तथा दोनों के चरित्रों में किसी भी प्रकार का साम्य इतिहासकार नहीं होता। केवल 'राम' शब्द की साम्यता की देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचना भ्रमक है।

प्रचलित परम्पराओं के आधार पर वीर-गाथाओं में यम-राज बुद्ध को राम का पुनरवतार माना गया है। जैन पुराणों में राम का महत्त्व स्पष्ट रूप से वर्णित है। वीर एवं जैन ग्रन्थों से जहाँ राम-सम्बन्धी प्राचीन लोक-विश्वासों का प्रचलन प्रतीत होता है, वहीं वास्तीकीय रामायण की कथा से यह सिद्ध होता है कि राम की महत्ता विशेषतः उनके त्याग एवं मर्यादा तथा शौर्य पर ही आधारित थी तथा वे धारम्भ में वासुदेव कृष्ण की तरह उपास्य नहीं माने जाते थे और न ही उन्होंने कृष्ण की तरह कोई दिव्य छन्देष्ट किया था।^२ पार्श्वरत्निक के महाभारत में भी राम के छन्देष्ट के बभाव से प्रकट होता है कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक राम कोई वैवी पुत्र नहीं समझे जाते थे।^३ अमरसिंह की बाह्यग-देवताओं की सूची में राम का समावेश न होना इसी मत की पुष्टि करता है।^४ वास्तीकीय रामायण में भी राम का चरित्र अनुप्य का में ही वर्णित हुआ है। भबभूति ने राम के इस रूप को और भी श्रेष्ठ कर दिया है जिससे राम-सम्बन्धी प्रचलित गाथनाएँ और भी विकसित हो गई हैं। राम चरित्र विषयक मान्यताओं का यही विकास वीर तथा जैन ग्रन्थों के रचना-काल तक राम को पूजनीय बना देता है। इन ग्रन्थों एवं लोक-विश्वासों के उत्तरोत्तर विकास द्वारा रामचरित के परिष्कार के कारण राम को अवतार की कोटि में समाविष्ट कर दिया गया है। राम के अवतार कोटि में समावेश का जन्म भागवत-पुराण में स्पष्ट रूप से अभिलिखित होता है। भागवत के नवम स्कन्ध में राम को साक्षात् अवतार की कोटि में न रखकर स्वस्वावेश अवतार ही स्वीकार किया गया है।^५ वास्तीकीय रामायण के ज्योत्स्ना-काण्ड में राम को विष्णु का अवतार माना गया है।^६ इसी मत का समर्थन महाभारत से भी होता है।^७ हरिवंश तो राम सन्मय भव्य और समृद्ध चारों को विष्णु के चार रूप मानता है।^८ इन्हीं मान्यताओं के आधार पर आप्यात्मरामायण में भी सन्मय वर सोमहरी शताब्दी की रचना है, रामचरि चारों माइनों को पाँचराज संहिताओं के अनुकरण पर विष्णु छेप खंड तथा सुदर्शन का अवतार माना गया है।^९ यही सीता को मूक प्रकृति तथा मांग माना^{१०} तथा राम को परब्रह्म अक्षय को खेव तथा अश्विन शंख के पाँचवें

१. तुम्बे, 'उपकथा' पृ० १०४।

२. देवनागरी पृ० ३४।

३. तो वे० भागवत, पृ० ४०।

४. यही।

५. भक्ति का विकास डॉ० मोरियाम शर्मा पृ० ३३।

६. ज्योत्स्ना-काण्ड १-४०।

७. महाभारत अरण्यपर्व ३ १४७-७३ ३ २३३ ७८।

८. हरिवंश ४१ १२३।

९. भक्ति का विकास पृ० ३२६।

अध्याय में परम्परा का आयोजन करके राम द्वारा लक्ष्मण को ज्ञान का उपदेश दिसवाकर राम को कृष्ण के स्तर पर लाकर विष्णु का अवतार सिद्ध करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है।

अतः हम देखते हैं कि राम के शौर्य एवं मर्यादा-सम्बन्धी प्राचीन लोक-विश्वास कालान्तर में उन्हें देवता कोटि तक पहुँचा देते हैं तथा इस प्रकार उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया जाता है। और यद्यपि अवतार के रूप में राम की उपासना का प्रचार ईसा की पचीस शताब्दी से ही आरम्भ होता है तथापि दक्षिण के कुछ क्षेत्रों में आसबाग की रचनाओं में भी राममूर्ति का आरम्भिक रूप स्पष्ट हुआ है।^१ जो हो सम्प्रदाय के रूप में राममूर्ति का प्रचलन देखी शताब्दी में ही माना जा सकता है।^२ राम में रावण-जैसे योद्धा की पराजित करने वाली अविनाशनीय शक्ति के साथ-साथ जावर्ध पुत्र पति भ्राता तथा लोकपाल के चिह्न एवं मन्त्र में विष्णु के प्रभाव से राम की उत्पत्ति ही ऐसे दो कारण प्रतीत होते हैं जो उनका सामान्य विष्णु के साथ स्थापित करते हैं। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से स्पष्ट विदित होता है कि उनका रचना-काल तक राम लोकपालक तथा मर्यादा पुण्योत्तम के ही रूप में प्रख्यात थे तथा आरम्भ में उनका सम्बन्ध किसी अवतार से न होते हुए भी वे देवत्व कोटि तक पहुँचने लगे थे। हेमाद्रि तथा बृहत्संहिता की रचना सूची में^३ 'पुण्योत्तम' का समावेश जहाँ एक ओर उनका सम्बन्ध विष्णु से जोड़ता हुआ-सा प्रतीत होता है वहीं इस बात की भी पुष्टि करता है कि प्राचीन काल में राम के मूल पुण्योत्तम रूप को ही मान्यता मिली हुई थी। इसी पुण्योत्तम रूप के कारण सम्प्रदाय के रूप में राममूर्ति कृष्ण के पश्चात् ही अधिष्ठित होती है।

अतः कहा जा सकता है कि पौराणिक युग में जावर्ध पुत्र राम-सम्बन्धी उच्च मान पाएँ राम को विष्णु का अवतार स्वीकार करने के काफ़ी पहले से ही लोक में प्रचलित थी पर बौद्ध एवं जैन धर्मों की गंभीर धार्मिक विचारधारामें के सम्मुख कृष्ण के पहले पर उनका विकास कठिना हो गया। इन्हीं निरीस्वरमादी धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में बाद विचारधारामें की प्रतिभिया-स्वरूप पौराणिक युग में जब वैष्णव धर्म, प्रथम राम मूर्ति धर्म ने व्यापक रूप आरम्भ करना आरम्भ किया तो अन्य प्राचीन लोक-विश्वासों की भाँति राम को भी सामान्य विष्णु का अवतार माना जाने लगा तथापि सम्प्रदाय के रूप में राममूर्ति का प्रचार पौराणिक काल में नहीं हो सका। सम्भवतः इसका मुख्य कारण राम के चरित्र में किसी उच्च धार्मिक सम्बन्ध का अभाव था। स्पष्ट ही पौराणिक युग की धार्मिक राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में वैष्णव धर्म का विकास एवं जनता को गंभीर निरीस्वरमादी धर्मों की ओर से परावृत्त करके वैष्णव धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए केवल ऐसे ही सम्प्रदायों को स्वीकार किया जा सकता था, जिनके प्रवर्तकों में अद्वितीय सौन्दर्य के साथ-साथ वैष्णव-धर्मानुरूप कलात्मक विद्यमान हों। मत्स्य कूर्म बराह वामन परशुराम आदि की अपेक्षा वासुदेव-कृष्ण में इन लक्षणों का अत्यधिक विकास अभिलक्षित होता है इसीलिए कृष्ण को विष्णु का पूर्णवितार मान लिया गया तथा

१. बर्नस कोडरि जी वेकटेलर ओरियेंटल इंस्टीट्यूट, डिम्पलिया या १ (१९४९), पृ० १२२।

२. टी० वे० मास्टरकर, पृ० ४०।

३. गरी।

पौराणिक काल से ही कृष्ण-भक्ति और भी व्यापक रूप धारण करने लगी। पौराणिक काल से इसी सम्बन्धी १०वीं शताब्दी तक का इतिहास सम्पन्नता का इतिहास था। भूज आदि बर्बर जातिओं के आक्रमण होते भी ये तो भारतीय शासन-शक्ति उनका सामना करने में समर्थ थी। अतः शान्ति के इस युग में वहाँ राजाधिराजों ने नकारा अपने चरम विकास को पहुँच रही थी वहाँ संस्कृत साहित्य में लोकरंजन के लिए भूगार का निष्पन्न भी नानाविध होने लगा था। आवश्यक था कि मास काव्यास बाण आदि भूगार प्रधान कवियों के काव्य तथा लोक-गीत का प्रभाव पार्थिव क्षेत्र पर भी पड़ता। सम्भवतः इन्हीं परिस्थितियों के परिणामस्वरूप शासक या भागवत वर्गों के प्रवर्तक योगेश्वर कृष्ण में जो अब विष्णु से अमिन्न समझे जाने लगे वे भूगारिक लीलाओं का समावेश होने के कारण कृष्ण भक्ति को एक नया मोड़ मिला और बहु लोकरंजन का रूप धारण करने लगी। पर वसन्ती शताब्दी का काल विदेशी आक्रमणों का काल था जब दो विभिन्न पार्थिव विचारधाराओं की गुठलेड़ हो रही थी। सघटित हिन्दू शासन-सत्ता अन्तिम सीम के रही थी। इसी बीच मुसलमानों के भारत पर आक्रमण एवं मुस्लिमों के अन्धता का देवदार होताच भारतीय जनता वर्ग की रक्षा के लिए एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करने लगी जो तत्कालीन विपदाओं में उसका मार्गदर्शन और धर्म की रक्षा कर सके। ऐसा व्यक्ति किरी जीवित हिन्दू राजा में न होने के कारण लोक को कटीत की ओर टाकना पड़ा। बहु व्यक्तिगत रूप में होने के कारण उन्हें लोकनायक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। निरक्षर ही राम में वे सभी गुण विद्यमान थे जिनकी तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यकता थी। डॉ० माण्डारकर के मतानुसार वेल्हवी धाराधारी में जानम्ब जीर्ण द्वारा ब्रिक्राधम से विविधवर्गीय राम की मूर्ति छाना तथा जगमम प्यारद्वी शताब्दी में राम सम्प्रदाय की स्थापना^१ एवं परवर्ती काल में उसका अत्यधिक प्रचार इसी ऐतिहासिक पार्श्व भूमि का समर्पण करता है। सोलहवीं शताब्दी में तुलसीदास द्वारा राम को उपास्य मानकर रामचरितमानस जैसे लोक-ग्रन्थ की रचना के पीछे भी मुख्यतः यही उद्देश्य अन्तर्निहित था।

पहले कहा जा चुका है कि महाभारत के प्राचीन अंशों के रचना-काल तक वासुदेव कृष्ण शासक या भागवत वर्ग के प्रवर्तक देवाधिदेव के रूप में माने जाते थे तथा वासुदेव का यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन काल से ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में था। वासुदेव-भक्ति का प्रचार भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेस तक ही सीमित था जबकि सप्तसिंधु एवं उत्तरांचल में ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्ड का बोलबाबा था। इस प्रदेस में वासुदेव-भक्ति का प्रचार न होने के कारण ही बौद्ध एवं जैन जैसे गिरिस्वरवादी धर्मों की स्थापना वहाँ सरलता से हो सकी। बौद्ध जैन तथा कपिल के गिरिस्वरवादी सिद्धान्तों से अब वैदिक-धर्म को बचना पहुँचने लगा तो वैदिक-धर्म में नई चेतना उत्पन्न करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह काल ब्राह्मणों के प्राणाय का काल था तथा वैदिक-धर्म को व्यापकता प्रदान करने के लिए आवश्यक था कि वैदिक धर्मों पर आभासित तत्कालीन विभिन्न सम्प्रदायों को सूचबद्ध करके संश्लिष्ट कर के गिरिस्वरवादी भूगण धर्म-स्थापना का विरोध किया जाय। इसी आवश्यकता की पूर्ति के एकरूपता मुद्र-काल तक आकर वासुदेव विष्णु का एकीकरण हुआ

तथा विष्णु देवादिदेव और कृष्ण उनके पूर्वावतार मान लिये गए।^१ विद्वान् इसी काल को पुराणों की रचना का काल मानते हैं। पुराणकारों द्वारा कृष्ण को विष्णु का पूर्वावतार तथा राम को अंशवतार मानना तरकामीन समाज में बासुदेव-कृष्ण की ओझा ही छिड़ करना है।

विष्णु और बासुदेव-कृष्ण के इस एकीकरण के परिणामस्वरूप कृष्ण को विष्णु का आठवाँ अवतार मान लिया गया तथा सत्त्व की कल्पना के अनुरूप रामा की कल्पना प्रस्तुति हुई। प्राचीन मातहत या सात्वत धर्म में रामा का सर्वथा अभाव इस बात को प्रमाणित करता है कि रामा की कल्पना विष्णु और कृष्ण के एकीकरण का ही परिणाम है जिसका समर्थन रामा-विषयक पौराणिक उल्लेखों से भी होता है। रामा की पौराणिक कल्पना प्राचीन बासुदेव-कृष्ण के जीवन पर वैष्णव संस्कार करके बासुदेव-कृष्ण को वैष्णव-रूप प्रदान करती है तथा साथ-ही-साथ कृष्ण भक्ति को प्राचीन माम्यता से मिला एक अभिनव दिशा में प्रवाहित करने में सहायक होती है।

कृष्ण और विष्णु की श्रिष्टता का उत्पन्न गोवर्धन की कथा में भी उपलब्ध होता है। गोवर्धन की कथा से कृष्ण के प्राचीन चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। विष्णु-पुराण

में कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाकर इन्द्र के कोप से गोप-जनों की रक्षा
गोवर्धन-कथा करते हैं, क्योंकि कृष्ण के कहने पर उन्होंने प्रचलित इन्द्र महो-
त्सव का विरोध करके गोवर्धन की पूजा की थी। कथा में वर्णित

यह विरोध सूक्ष्म विवेचन की अपेक्षा रखता है। इन्द्र-पूजा का विरोध कृष्ण इसलिए करते हैं कि इन्द्र का गोपों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे वैश्य अथवा क्षत्रिय न होकर वन में स्वतन्त्रता से विचरण करने वाले जन हैं तथा वनों में न रहकर समूहों में रहते हैं। इन्द्र भापों का पुत्र-देवता है अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति सम्प्रतिष्ठाकी वषों का रक्षक होने के नाते पूजनीय हो सकता है पर किनकी सम्प्रति केवल गोवर्धन है वे इन्द्र की पूजा क्यों करें? गोपों की जीविका का एकमात्र साधन गोवर्धन है और वारों का निर्वाह चरगाहों से होना है। वही चरगाह गोवर्धन है जो गोपों के लिए पूजनीय है। मैदान में चरने वाली गायों एवं घोषाओं के लिए वर्षा काल में प्रायः पहाड़ है इसलिए यह भी पूजनीय है। निश्चय ही कथा में अन्तर्निहित उत्पन्न कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना न होकर कृष्ण द्वारा आशीरवादि में प्रचलित विस्वासाँ का अन्वय एवं उनके वास्तविक धर्म का निरूपण है। कृष्ण इन्द्र-बुद्ध तथा उसमें इन्द्र का पराजित होकर कृष्ण को सप्रेम की उपासि से विभूयित करना जो विभिन्न संस्कृतिपों के अस्तित्व एवं संघि का प्रतीक है। अतः गोवर्धन की कथा से स्पष्ट प्रतीति होता है कि कृष्ण प्राचीन आशीरवादि ने नेता के भित्तकी जीविका गोपालन पर निर्भर थी। ये जन वनों अथवा नगरों में न रहकर घासों के साथ जंगलों एवं मैदानों में भ्रमण किया करते थे। कृष्ण का त्रजवासी रूप को सभी प्राचीन मूर्तियों में अंकित हुआ है इस सत्य का समर्थन करता है। वैदिक देवताओं में गोपों की आस्था सूचित करती है कि ये जन माया के आदिवासियों से थे वे^२ किसी परमार्थी काल में भारत में आकर नहीं बसे थे

१ वैष्णव धर्म, रासुपान चतुर्वेदी, पृ० ४४।

२ दि विविक्तन्त अर्थक शक्तिवा, पृ० १०० अथवा, पृ० १००।

येही कि कुछ विद्वानों ने संकाएँ उठाई हैं।^१ सम्भवतः कृष्ण की जन्म-कथा के अन्तर्गत कृष्ण का विष्णु-अवस्था में ही जाभीरों के अग्रगण्य तन्त्र के यहाँ पहुँचाया जाना वह महत्त्वपूर्ण कल्पना है जो कृष्ण का प्रादुर्भाव आदिवासी जाभीर जातियों के देवता होने के धार्य पर आधारित होकर उनका सम्मान समायोज ही जायों से स्थापित करके विष्णु के कृष्णवतार की प्रतिष्ठापना में आत्यर्थजनक योग देती है।

अविचलित विद्वानों का मत है कि जाभीर जातियाँ भारत में विदेश से आई थीं।^२ जों संश्लेषकर तो उनके जाने का समय ईसा की पहली शताब्दी मानते हैं।^३ पर यह मत निराधार प्रतीत होता है क्योंकि जाभीरों के विषय में कोई प्राचीन साक्ष्य सभिषों का उल्लेख उपलब्ध होते हैं। 'ऐतरेयब्राह्मण' में यथा शब्द का प्रयोग गोप-देवता माय के लिए किया करता था यद्यपि परवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग 'उमाद' होने लगा था।^४ महाभारत में जाभीरों द्वारा कृष्णो त्रिवर्गो सहित द्वारका से कुक्षेत्र को छोड़ते समय यजुर्ग पर आक्रमण का उल्लेख मिलता है।^५ विष्णुपुराण में अथर्वत यजुषा वर्तमान कौकिल और सोपायु को जाभीर देव माना गया है जिसकी पुष्टि बराहमिहिर ने भी की है।^६ 'हरिवंश' उनका स्थान मधुवन से द्वारका के समीप तक का प्रवेश मानता है।^७ ब्रह्मसूत्र में, जो अत्यन्त प्राचीन रचना है जाभीरों को दक्षिणवासी कहा गया है तथा ब्रह्मसूत्र के रचनाकाल तक उनका आवास भारत के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश में था।^८ पद्म-पुराण में उल्लेख आता है कि विष्णु जाभीरों से कहते हैं कि वे मधुप में आठवाँ बसतार चारण करेंगे।^९ इसी पुराण में जाभीरों को स्पष्ट सात्विक कहा गया है।^{१०}

उपर्युक्त जाधारों एवं धोक्कन-कथा में अन्तर्निहित तथ्यों से कृष्ण का गोप देवता होना ही सिद्ध नहीं होता बल्कि उनकी प्राचीनता तथा ब्राह्मण-धर्म के सिद्धेय में एक विशेष उत्पन्न की स्थापना भी सिद्ध होती है। कृष्ण के अस्तित्व एवं उनके सिद्धांतों की प्राचीनता की पुष्टि छात्रोग्य उपनिषद् तथा पुराणों में भी अभिलिखित होती है। असरद्विहू द्वारा वर्णित पुराणों के लिए आत्मिक कभी तत्त्व विष्णु-पुराण में उपलब्ध होने के कारण इस पुराण की जन्म उल्लेख पुराणों की अपेक्षा प्राचीन माना जा सकता है। 'विष्णु-पुराण में दत्त-पूजा का प्रतिकार उत्तमासीन यज्ञ-मया का विरोध सूचित करता है जिसकी पुष्टि 'हरि वंश' से भी होती है।^{११} इसी पुराणों में कृष्ण को बहुकोपीय माना गया है।^{१२} 'हरिवंश' में

१ डी० सी० मांडलकर, पृ० ३६।

२ सि० रिडिकल्स जोड दक्षिण, पृ० पी० कदमकर, पृ० १०२।

३ डी० सी० मांडलकर, पृ० ३६।

४ सि० रिडिकल्स जोड दक्षिण, पृ० पी० कदमकर, पृ० १०२।

५ महाभारत, मध्यम पर्व अध्याय ७।

६ डी० सी० मांडलकर, पृ० ३७।

७ हरिवंश २१११-१२।

८ मध्यम १५।१२-१३।

९ पद्मपुराण सवि-सप्त १७. १३।

१० बर्हि, १७-१।

११ हरिवंश १, १७, ४१।

१२ हरिवंश २१११-१२।

मथुरा एवं उसके आस-पास के प्रदेश में आभीरों के राज्य के अस्तित्व का भी उल्लेख मिलता है।^१

इसा से समग्र बार चौ बर्य पूर्व मेगास्थनीज के उल्लेख से हरिश्चंद्र के कथन का समर्थन होकर बाभुवन एवं कृष्ण तथा मथुरा में आभीरों के राज्य का पता चलता है। उपर्युक्त सभी

उल्लेख आभीर जाति की प्राचीनता उसका भारतीय आदि-जाति मेगास्थनीज द्वारा उल्लेख होना तथा कृष्ण का सात्वत क्षत्रियों का गोप-देवता होना सिद्ध करते हैं। डॉ० मांडारकर का यह अनुमान कि वैदिक कृष्ण-व्रपस

और परवर्ती कृष्ण एक ही विभूति थे, ठीक मान लिया जाय तो कृष्ण एवं उनके उत्पन्न का काव ऋग्वेद का समकालीन सिद्ध होता है। वस्तुतः डॉ० मांडारकर का अनुमान निरावार नहीं प्रतीत होता क्योंकि ऋग्वेद^२ में जहाँ इन्द्र और कृष्ण-व्रपस के युद्ध का उल्लेख है, वहीं अंशुमती बयबा यमुना के तीर पर कृष्ण की सेनाओं के एकत्रित होने तथा इन्द्र द्वारा देवताओं को न मानने वाले उस सैन्य समूह से युद्ध करने के लिए मार्गों का आवाहन भी वर्णित है। उपर्युक्त मन्त्रों में अंशुमती तथा इन्द्र राज्ञों की देवताओं में अनास्था का उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है और सात्वत-वर्म के उत्पन्न तथा सात्वतों के राज्य के सीमा-प्राप्त को स्पष्ट रूप से सूचित करता है। इस प्रकार कृष्ण की प्राचीनता ऋग्वेद के समान ही प्राचीन सिद्ध होती है।

कृष्ण की प्राचीनता उनकी काम-भीकाओं तथा रविमयी-कृष्ण-विवाह से भी परिपुष्ट होती है। पहले कहा गया है कि 'महाभारत में कृष्ण का चरित्र उनके पाण्डवों के सम्पर्क में जाने के बाद का चरित्र है तथा 'विष्णु-पुराण' में उसके रविमयी तथा बहु पूर्व के चरित्र की विषय व्याख्या उपलब्ध होती है। 'विष्णु-पुराण' पत्नीत्व, पूष-विवाह में वर्णित रविमयी-स्वयंवर के अनुष्ठान कृष्ण और रविमयी का विवाह राजसूय पद्धति से होता है यानी कृष्ण रविमयी का हरण करते हैं उत्पन्नवायु उससे विवाह करते हैं।^३ राजसूय-विवाह-पद्धति मनु द्वारा वर्णित वैदिक विवाह पद्धति के आठ प्रकारों में से ही एक है^४ तथा विवाह की ये आठ पद्धतियाँ वैदिक काल में प्रचलित थीं। इसी प्रकार बहुपत्नीत्व की प्रथा भी ऋग्वेदकालीन समाज में मान्य थी।^५ इन प्रथाओं के अनुरूप कृष्ण का 'विष्णु-पुराण' में वर्णित रविमयी आदि पिताकर छोड़ हठार एक ही मातृ स्त्रियों से विवाह करना जहाँ एक ओर तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप सिद्ध होता है वहीं गोपियों के साथ केवल भीड़ाएँ तत्कालीन समाज व्यवस्था की विरोधी प्रतीत होती हैं।^६ कृष्ण और गोपियों की केसि-भीड़ाएँ तार्किक दृष्टि से वृष-विवाह-सम्बन्धी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत आ सकती हैं। ऋग्वेद-पूर्वकालीन समाज में वृष-विवाह की मान्यता थी।^७ 'महाभारत में उत्तर कुण्ड-देश में वृष-विवाह बयबा यो

१ हरिश्चंद्र, ५१६१-६२।

२ ऋग्वेद, ८.५२.१६-१७।

३ विष्णु-पुराण, चरित्र, अध्याय २३।

४ वैदिक संस्कृति का विकास, वर्तनी के अक्षरों द्वारा बोली, पृ. १९।

५ वही।

६ विष्णु-पुराण, चरित्र, अध्याय २३।

७ वैदिक संस्कृति का विकास, पृ. १००।

धर्म के प्रचलन का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि ऋग्वेद-काल से भी पूर्व निगूढ़ प्रतीत में यून-विवाह को मान्यता थी। इस दृष्टि से यदि कृष्ण-गोपी केन्द्र-क्रीड़ाओं को इस प्रथा का प्रतीक मान लिया जाय तो कृष्ण का समय ऋग्वेद से भी पहले का प्रतीत होता है। कृष्ण की प्राचीनता विषयक इस अनुमान की पुष्टि 'आश्विनोप' उपनिषद् से भी होती है जहाँ कृष्ण को देवकी-पुत्र कहा गया है। 'देवकी-पुत्र' में देवकी का समावेश मातृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था को सूचित करता है जो निश्चय ही वैदिक पैतृक-सत्ता से पूर्व की मानी जा सकती है तथा जिसका समर्पण मोहेनजोदड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यता से भी होता है। आदिम ऐमेरिक जातियों में भी धारम्भ में मातृसत्ता को ही मान्यता थी तथा पुत्र के समय मरठा ही अपने जन की प्रधान हुमा करती थी।^१ इस प्रकार योपाल-कृष्ण तथा गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं का पुन भी सरलता से मिला जाता है तथा योपाल-कृष्ण को डॉ० मांडार कर ने अनुसार ईसा के बाद की कल्पना समझने की आवश्यकता नहीं रहती।

पाणिनि के विषय में पाश्चात्तिक द्वारा प्रयुक्त 'वाली-पुत्र' शब्द को देखते हुए कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन काल में बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित होने के कारण माता के शोध के लिए तथा माता और पुत्र के सम्मानार्थ मातृवाची नाम का प्रयोग होता था।^२ पर यह मत अस्मिन्व नहीं मान पड़ता क्योंकि एक ओर वहाँ विद्वानों द्वारा निर्धारित आश्विनो-काल तक एकपत्नीत्व की प्रथा प्रचलन में था कुकी भी वहाँ दूसरी ओर कृष्ण-देवकी के एक-मात्र पुत्र होने के कारण उपर्युक्त सुविधा की दृष्टि से नामकरण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यदि कृष्ण की केन्द्र-क्रीड़ाओं को प्राचीन मान लिया जाय तो वे सत्काशीन समाज के विकृत प्रतीक नहीं होतीं क्योंकि त्रिसुपाक द्वारा कृष्ण की मित्रा में केन्द्र-क्रीड़ा-विषयक भावों का अभाव इस मान्यता की स्वीकार करता हुआ-सा दृष्टिकोण होता है। दूसरी सम्भावना यह है कि त्रिसुपाक के समय वाली महाभारत के रचना-काल तक कृष्ण की लीला-सम्बन्धी कल्पनाएँ अस्तित्व में ही नहीं थीं वे काष्मण्डर में विकसित हुईं। यदि रातकीजा के मतसे तब इन क्रीड़ाओं का यून-विवाह का प्रतीक न माना जाय तो त्रिपु-पुराण से लेकर आधुनिक साहित्य तक वर्णित प्रतिपादित एवं परिवर्धित क्रीड़ाओं का एक ही समाजालंकारक तथा साधारण उत्तर उपलब्ध होता है और वह है त्रिपु और कृष्ण के एकीकरण के फलस्वरूप त्रिपु की काम-विशेषताओं का कृष्ण पर आरोपण को महाभारत और त्रिपु-पुराण में अन्तर्गत कृष्ण चरित्र की मिश्रता का निराकरण कर सकता है। सम्भवतः कृष्ण की प्राचीनता ही वह उत्पन्न रही है जिससे कृष्ण की लीला-सम्बन्धी परवर्ती कल्पनाएँ प्रभावित हुई थीं तथा काष्मण्डर में त्रिपु की काम-क्रीड़ाओं से सम्मान होकर उन्होंने उदात्त रूप धारण कर लिया।

वैदिक साहित्य में त्रिपु के सम्भोग-सम्बन्धी कई उल्लेख मिलते हैं जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। त्रिपु के प्राचीन चरित्र के विषय में सबसे महत्वपूर्ण शब्द 'तृपिपिपि' है जो ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है।^३ जगद्गुरु ऋषिओं ने इस शब्द की व्याख्या में विशेष १ ई मर १ बार ७ १ ५१२।
१ प्राचीन चरित्र को विनाशकारी है कि, 'कृष्ण'।
२ ५ १ १ ५ २०० १५१।

संस्कृत के काम लिया है। माया विज्ञान की दृष्टि से इसका अर्थ पुरुष का परिवर्तनशील स्वरूप होता है जो विकसित तथा संकुचित होता है।^१ विष्णु के इस रूप की पुष्टि निरुक्त है भी होती है वही उनके विषय में कुत्तिरार्थीय पूर्व भवति कहा गया है।^२ इसी प्रकार वैदिक आद्य-क्रिया में विष्णु-मन्त्रोच्चार के साथ-साथ पितरों को अर्पण की जाने वाली सामग्री में अंगुष्ठप्रोष की क्रिया में अंगुष्ठ स्वरूप का प्रतीक है।^३ परवर्ती साहित्य में अंगुष्ठप्रोष को अर्पण विष्णु पर्यटन महीन कहकर अंगुष्ठ को ही विष्णु मान लिया गया है।^४ ऐतिहासिक साहित्य में विष्णु का अनुमाता में प्रविष्ट होगा उत्पत्ति का ही प्रतीक है।^५

प्राचीन जाति के जीवन-काल में विष्णु का साधनमयी पृथ्वी देवी पर आश्रित होने का तथा बराह-रूप में अपने ही कुटुम्बों पर विराजित रहकर साधन सम्पन्न करने का उल्लेख मिलता है।^६ महाभाष्य में भी बराह-रूप विष्णु के पृथ्वी नीरकर अक्षर जाने तथा वही एक आश्रय देकर राक्षस रूप धारण करके पृथ्वी देवी के साथ सम्पन्न करने की कथनाद्य प्रचलित है।^७ ऐतिहासिक साहित्य में 'तमसावृद्धमाह' शब्द भी विष्णु की केन्द्र-क्रियाओं को वर्णित करता है।^८ अथर्ववेद में वर्णित शीर्ष क्रियन् वाली छीनी वाली देवी से विष्णु का सम्बन्ध समझाकर वर्णित प्रकाश वास्तव है।^९ 'आद्यायन-सूक्त-सुक्त' के 'विष्णुमौनिकस्यमनु' मन्त्र के अनुसार विष्णु यम के रक्षक हैं। अथर्ववेद में विष्णु का सम्बन्ध काम-क्रियाओं से माना गया है तथा उन्हें शीर्ष का रक्षक मानी 'विपिक्रिया' और 'सुमज्जालि' कहा गया है।^{१०} 'विष्णुसहस्रनाम' में ब्रह्मविष्णु का नाम है। यही ब्रह्मविष्णु एक विद्यालय ज्ञान के रूप में पौरुषहीन इन्द्र को एक अधिपति देता है जिससे इन्द्र पुनः पुरुषत्व प्राप्त कर लेता है।^{११} ब्रह्मपुराण में विष्णु का उपरानी रूप धारण करके वास्तव्य की पत्नी कृष्ण के सतीत्व हारण की कथा है।^{१२} देवी भावना में विष्णु द्वारा अंबाबुध का रूप धारण करके उसकी पत्नी तुलसी का प्रतिरूप मन्द करने का उल्लेख है।^{१३} 'अद्वैत-पुराण' में विष्णु ब्रह्मा और शिव के साथ सती-श्रीमती अनुसूया के पास जाते हैं तथा उत्तिष्ठान मंत्रों पर उनके साथ वे वास्तव्य कर लेते हैं।^{१४}—ऐसा वर्णन है।

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आश्वेय से लेकर पौषादिक साहित्य

१ विष्णु स्त वैराज, भाग० पञ्च० दशमेक, पृ० १००।

२ विष्णु, १००।

३ विष्णु स्त वैराज, दशमेक, पृ० १००।

४ देवप्रति, १११००।

५ ऐतिहासिक साहित्य, ११५१।

६ बरहस्पत्य श्रौत सूत्री विष्णुसूक्त, वे० पृ०, पृ० १५१।

७ श्री।

८ विष्णु स्त वैराज, भाग० पञ्च० दशमेक, पृ० १००-१०१।

९ श्री।

१० श्री।

११ श्री।

१२ ब्रह्मपुराण, अर्ध० भा० ११।

१३ देवी भावना, अर्ध० भा० १५।

१४ अद्वैत-पुराण, भा० पञ्च० अर्ध० भा० १३।

एक विष्णु में काम की बहुलता बहुल रूप से व्यक्त मिलती है। परवर्ती-काल में कृष्ण और विष्णु के एकीकरण के फलस्वरूप विष्णु की इस विशेषता का कृष्ण पर आरोपण होता है, जिसका भाव्यत राधा की कल्पना बन जाती है। राधा पूर्णरूपेण पौराणिक उपलब्धि है तथा कल्पी की प्रतिरूपिणी है। उसका शीघ्रा सम्बन्ध विष्णु के आठवें अवतार से दृष्टिगोचर होता है। 'विष्णु-पुराण' में राधा के लक्षण का वर्णन राधा की कल्पना का सर्वाधिक होना सिद्ध किया है। आदि-पुराण के अनुसार विष्णु की पृथ्वी पर अवतार धारण करने की इच्छा जानकर ही राधा मृत्यु-शोक में अवतरित होती है।^१ 'पद्मपुराण' में वृषभानु राजा की पत्नी के किए मृगि दुःख कष्टों समय राधा मिलती है तथा उसका आत्म-यात्म बहू अपनी कल्पा समझकर करता है।^२ अन्य पुराणों में राधा की उत्पत्ति के विषय में और भी कई कारण बताए गए हैं जिनमें विष्णु के विरवा नामक घोड़े के साथ रासमण्डल में जाने और राधा के खोजने पर अहस्य हो जाने तथा दुरासा और राधा के बीच शायों का आदान-प्रदान आदि कई कारण दृष्टिगोचर होते हैं।^३ 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' राधा की उत्पत्ति कृष्ण के आत्म-से मानता है।^४ आदि तथा ब्रह्मवैवर्त-पुराणों एवं ऐसी मायवत् में राधा को कल्पी का ही रूप कल्पना कहा गया है। कल्पी स्वर्ग में विष्णु के साथ वास करती है और राधा कृष्ण के साथ मृत्युशोक में। अतः उसे कृष्ण की पत्नी माना गया है।^५ उपर्युक्त आधारों से कृष्ण-सम्बन्धी मूल विवाह की कल्पनाओं पर ही प्रकाश नहीं पड़ता अपितु ये कल्पनाएँ कृष्ण के आश्रय से ही प्राचीन होने तथा आर्यतर होने की सम्भावना की ओर इंगित करती हैं जिसकी पुष्टि ग्रीक तथा सीरियन लिखितयुग कालों की ऐसी कल्पनाओं में उपलब्ध साम्य से भी होती है।

बलराम का इच्छा होना एक पहेली है जो अभी तक नहीं सुलझ सकी है। स्पष्ट ही एक कृषि का प्रतीक है तथा बलराम का उसे धारण करना बलराम का कृषि-देवता होना सूचित करता है। बलराम का वृद्धावस्था मूल मूल भी कृषि का ही कृषि-देवता बलराम प्रतीक है। कृषि-देवताओं की कल्पनाएँ यद्यपि प्राचीन राष्ट्रीय विचारों में नहीं मिलती तथापि ऐसी अनेक कल्पनाएँ प्राचीन ग्रीक एवं ईरानी धर्मों में उपलब्ध होती हैं। स्पष्ट ही एक मूल्य और मुरली का योग बनना कृष्ण और बलराम का लक्ष्यमान आश्रित आदि की बीचिकोपादान की कल्पना की अवस्थाओं का योग का प्रतीक है। इस तरह आर्यधर्म में पीढ़ी पर आश्रित रहने वाली आदिनी कृषि की ओर अवसर होती हुई-सी दिखाई देती है।

इसी प्रकार भारतीय कृष्ण और यूनानी अदिनीस में साम्य ही नहीं मिलता बल्कि हारका के समुद्र में समा जाने एवं प्राचीन विदेशी आदिनी कल्पनाओं में भी साम्य दृष्टिगोचर

१. आदि-पुराण अध्याय ११।

२. पद्मपुराण अध्याय ७।

३. प्राचीन आदिनी काव्य, विद्या ब. शास्त्री पृ. २४।

४. ब्रह्मवैवर्त पुराण, १२।

५. ब्रह्मवैवर्त १.३३।

देवी-भागवत ३.१।

आदि-पुराण २.१।

होता है। यूनानी देवता अकिसीस प्राचीन यूनानी जाति में सबसे लोकप्रिय देवता माना जाता था तथा उसकी लोकप्रियता मध्य एशिया में बसे हुए यूनानी कृष्ण और अकिसीस लोगों तक में फैली हुई थी।^१ अकिसीस के मन्दिर समुद्र किनारे की धूल में साम्य पर थे तथा उसे मार्गदर्शक के रूप में माना जाता था। भारतीय कृष्ण की लोकप्रियता भी विशेषतः गीता पर ही आधारित है, जो मार्गदर्शन का प्रतीक-संकेत नहीं था। कृष्ण की ही भाँति अकिसीस भी सबसे बड़ा अत्यन्त स्वर्णवान् एवं तेजस्वी देवता था।^२ इतिहास के आधार पर अकिसीस का काकस-पान्थन उसकी याता ने उसका पथरे भाई पेट्रोक्लस के साथ किया था तथा अकिसीस के गुरु भी वो थे।^३ कृष्ण भी बलराम के साथ बड़े हुए थे तथा उनके भी चोर मंगिरस और चांदीपनी नामक दो पुत्र थे। इतिहास के सिवाय अन्य प्रचलित गाथाओं में अकिसीस के विषय में कई लोक-कथाएँ प्रचलित हैं जैसी कि कृष्ण के बारे में पाई जाती हैं। स्मूक द्वीप में अकिसीस का मन्दिर प्राचीन काल में नाविकों का मार्गदर्शक माना जाता था। लोगों का विश्वास था कि उस मन्दिर में रात को अकिसीस हूकन से अभिवादन करता है। अतः प्राचीन काल में उस मन्दिर में ठहरना निषिद्ध था।^४

अकिसीस एवं कृष्ण के अन्त और मृत्यु में भी अद्भुत साम्य इष्टिगोचर होता है। प्राचीन यूनानी पौराणिक कथाओं के अनुसार अकिसीस की माँ ने अपने सात बालकों को अमरत्व प्रदान करने हेतु अग्नि पर रख दिया। विनम्र से अकेला अकिसीस बचा तथा एड़ी को छोड़कर उसका सारा शरीर अमर बन गया। अग्नि में लटकते समय अकिसीस की एड़ी माँ के हाथ में होने के कारण उसकी एड़ी उसका मर्मस्पर्श बनकर अन्त में उसकी मृत्यु का कारण बनी।^५ इसी एड़ी में विपाकत बाण भनकर अकिसीस का अन्त हुआ।^६ कृष्ण के भी सात भाई-बहनों का कंस के हाथ भन होता है। वे अकेले बच जाते हैं। पौराणिक कथाओं के अनुसार उनका अन्त भी एड़ी में बरा नामक व्याघ्र का विपाकत बाण लगने से होता है।

हारका के समुद्र में समा जाने और वेस्तेलम की कथा में भी ऐतिहासिक इष्टि से साम्य इष्टिगोचर होता है। वेस्तेलम का प्राचीन नगर कई बार विध्वंस हुआ था तथा इसा पूर्व पाँच सौ वर्ष पूर्व में इस नगर की बीमारों का निर्माण हुआ।^७ हारका और वेस्तेलम आरम्भ हुआ।^८ यद्यपि वेस्तेलम नगर के विध्वंस का मुख्य ही कथा में साम्य कारण बाह्य आक्रमण थे, तथापि इन आक्रमणों से वहाँ इसा-पूर्व ३१२ में एक सुचारवादी नाविक बेतना का प्राबुध्वंस हुआ। प्राचीन वेस्तेलम में मूर्ति-पूजा का कथन एवं एकेस्मरनाथ की स्थापना ही यह नई बेतना

१ ई० आर० ई०, पृ० ७२।

२ एन्सायक्लोपीडिया ऑफ़ आरिया १० (१९२-१९२)।

३ वही।

४ ई० आर० ई०, पृ० ७३।

५ विप्राज्जरी ऑफ़ ग्रीक एंड रोमन सांख्यिकी एवं सांख्यिकी, पृष्ठ १ (अकिसीस)।

६ विप्राज्जरी, ऑफ़ एकेस्मोर, पृ० ७।

७ ई० आर० ई०, पृष्ठ ४, पृ० ४५४।

८ ई० आर० ई०, पृष्ठ ४, पृ० ४५४।

नी। यद्यपि द्वारका पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुआ था पर उसके समुद्र में समा जाने विषयक लोक विश्वासों एवं कृष्ण के योग-मार्ग की स्थापना तथा वैशेषिक-विषयक षट्पदाओं में काफ़ी साम्य दृष्टिगोचर होता है क्योंकि वहाँ एक ओर कृष्ण द्वारा वैदिक धर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्ड के विरोध में एकेश्वरवाद तथा योग-मार्ग की माय्यता मिली और वैयक्तिक आचरण पर जोर दिया गया वहाँ दूसरी ओर द्वारका के समुद्र में समा जाने एवं माद्यों के नाश के पीछे भी वास्तविक धर्म और आचार का ह्रास ही दृष्टिगोचर होता है। 'विष्णु-पुराण' में बलिबल माद्यों के संहार का कारण विस्वामित्र कृष्ण तथा नारद आदि ऋषियों का साधन^१ अर्थात् में बाह्य तथा ऋषियों के महत्त्व का ही प्रतिपादन करता-सा प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि भारतीय और विदेशी पौराणिक-कल्पनाओं में साम्य तथा समानांतर कथाएँ अतीव क किसी निगूढ़ सत्य की सूचक हों तथा वर्तमान काल-गणना से बहुत प्राचीन हों। कल्पनासाम्य के इसी आचार पर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि कृष्ण की कल्पना विदेशी कल्पनाओं से अत्यधिक प्रभावित हुई है। इसका ही नहीं डॉ० सांडारकर ने तो मोपाकृष्ण की कल्पना को पूर्वकाल ईसाई धर्म से प्रभावित माना है।^२

कई विद्वान् ब्रह्म जीव और ईश्वर-विषयक साधनाचार्य के निरूपण में भी ईसाई तथा इस्लाम धर्मों का प्रभाव देखते हैं। प्रो० ह्यूमार्ड कबीर तो यहाँ तक साधनाचार्य का मत कहते हैं कि दक्षिण भारत में आचार्यों द्वारा निरूपित एवं प्रतिष्ठित-कई जीव और पित एकेश्वरवाद में इस्लाम धर्म का विशेष रूप से ह्रास रहा है ईश्वर की कल्पना क्योंकि वैदिक धर्म मूलतः बहुदेववादी धर्म था।^३

विद्वानों का यह आक्षेप विशेष रूप से तत्त्वज्ञान पर आधारित है—दक्षिण भारत में ईसा की सप्तवी सताब्दी के आसपास वेदान्त-निरूपण तथा एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठापना आक्रमण परमेश्वर जगत्वात्मक-कृष्ण की स्थापना प्रकृति के रूप में अन्तःमाना की प्रतिष्ठापना साधनाचार्य का ईश्वरवाद एवं भक्ति-आन्वाकन तथा मध्यमि ब्रह्मम और यूनानी देवता धैकिनस से साम्य। भारतीय धर्म-निरूपण पर पारश्चात्य प्रभाव के परीक्षण के लिए उपयुक्त तत्त्वों का प्राचीन भारतीय रूप देवता विराट् आवश्यक है।

वहते कहा गया है कि ऋग्वेद के संश्लेषित ऋषि वास्तव में प्रकृति के कवि थे तथा प्रकृति के साहचर्य में ही उन्होंने उसकी विभिन्न शक्तियों में विविध देवताओं की कल्पना की थी जिसका मुख्य आधार सृष्टि-कर्मकार की अनुभूति तथा उसकी पुनरावृत्ति ही थी। प्रकृति की शक्तिमी जनक होने के कारण ही ऋग्वेद में अनेक देवताओं का विमान ग्रामिभित्त होता है। इन देवताओं के नामों से स्पष्ट विहित होता है कि उनमें अधिकतर देवताओं का सम्बन्ध पृथ्वी से था तथा वायु आदि सृष्टि-तत्त्वों से है।^४ तथापि प्रकृति के इन विभिन्न तत्त्वों के अविच्छिन्न देवताओं से भी परे एक निष्कारण शक्ति के वर्णन होते हैं जिसका स्पष्ट निरूपण ऋग्वेद में हुआ है।^५

१ विष्णु-पुराण पंचांग, पृ० १०।

२ डी० ए० सांडारकर, पृ० १२, १३।

३ रिचर्डन हेरिडन इण्डियन क्वार्टर, पृ० २००।

४ मोरारजिदास जट्टीर विज्ञान केन्द्र, पृ० १।

५ ऋग्वेद, १। १०८-१०९।

आग्नेय का देवता-विमान कमजोर हीम अवस्थाओं से संभरता करता दृष्टिगोचर होता है—एक व्यक्ति का एक ही समय अनेक देवताओं में विश्वास विभिन्न व्यक्तिओं द्वारा एक ही देवता में विश्वास तथा एकेस्वरत्व की कल्पना की प्रतिष्ठापना विवेकी प्रभाव और सर्वसाधारण जनता द्वारा उसका स्वीकार।^१ वैदिक एकेस्वरत्व का अर्थ हीम की कल्पना तथा विवेकी एकेस्वरत्वाव की स्थापना में तात्त्विक दृष्टि से बहुत बड़ा अन्तर है। जर्मन विद्वान् हायसेन के अनुसार मिस्र में एकेस्वरत्वाव की प्रतिष्ठापना के लिए बड़ी कृशिमता से अनेक छोटे-बड़े देवताओं का भौतिक एकीकरण किया गया। इसी प्रकार क्रिस्तस्तीन में भी येशूवा की प्रतिष्ठापना के लिए अन्य सभी देवताओं का बहुष्कार करके उनके उपासकों पर अनेक व्यापार किये गए। पर भारत में बड़ी बात वैदिक ऋषियों द्वारा अनेक में एकत्व को करने से बिना किसी संघर्ष के सिद्ध हुई।^२ पुन्य सूक्त तथा उपनिषदों में भी एकेस्वरत्व के रूप में परब्रह्म का विस्तारपूर्ण निरूपण मिलता है^३ तथा एकेस्वरत्व की बड़ी स्थापना गीता का आचार्यमुख सिद्धान्त है। गीता^४ में अनेक देवताओं का सम्मेलन करते हुए भी एकेश्वर के रूप में परब्रह्म-रूप वासुदेव को ही सर्वत्र स्वीकार किया है। ऐतिहासिक आचार पर भी ईसा-पूर्व दूसरी सताब्दी तक वासुदेव की उपासना इसी एकेस्वरत्व का समर्पण करती है, पांचरात्र-वर्म के मारापण, चैतन्य वर्म के सिद्ध साधनों की शक्ति तथा आचार्यों के मत प्रदान वर्म के विष्णु इसी एकेस्वरत्व के प्रतीक हैं। इस प्रकार एकेस्वरत्व की कल्पना वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक बहुल रूप से विद्यमान थी। अन्तर केवल इतना था कि विभिन्न सम्प्रदायों के प्राधुर्भाव से भारतीय उपासना-व्यक्ति विभिन्न मार्गों पर प्रवर्तित होकर स्थितिप्राप्त होने लगी थी जिसके फलस्वरूप वैदिक वर्म-वर्धन के ही चरित्र पर बौद्ध एवं जैन जैसे निरीस्वरवादी विचार धाराओं का आधिपत्य तथा विकास हो सका। इन्हीं निरीस्वरवादी विचारधाराओं के अत्यधिक प्रचार की प्रतिधियात्वरूप वैदिक वर्म-वर्धन के पुनरुत्थान की आवश्यकता प्रतीत हुई। बलिष्ठ भारत में आचार्यों की शक्ति तथा संकराचार्य का अद्वैतवाद इसी आवश्यकता-पूर्ति का प्रथम कर्म अभिलक्षित होता है। इतिहास बताता है कि संकराचार्य के काल तक भारतीय वर्म-वैतना अत्यन्त मार्गों में अद्वैत विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में प्रतिफलित हो रही थी तथा इन सम्प्रदायों के आचार्य के रूप में अनेक छोटे-बड़े देवताओं की स्वतंत्र रूप से उपासना होने लगी थी। इस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य का बहुनिरूपण निःसंप्रदाय होने लगा था। संकराचार्य का अद्वैतवाद तथा मायावाद वैदिक-वर्धन का ही पुनरुत्थान था। उनमें प्राचीन उपनिषदों की व्याख्या तथा बौद्ध-वर्म के कतिपय सिद्धान्तों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार संकराचार्य ने ज्ञान-मात्र को ही स्वीकार किया। उनका यह ज्ञान मार्ग उपनिषदों पर आधारित होते हुए भी प्राचीन पांचरात्र तथा ज्ञानमत धर्मों में निरूपित भक्ति का विरोधी था। अन्तर्भाव की ब्रह्म, जीम तथा ब्रह्म-विपक्ष वर्मभेद की कल्पना^५

१ भारतीय उपनिषद् : मरिचिह किन्दाय कैलकट, पृ० २१।

२ भारतीय उपनिषद् : ज० वि० कैलकट, पृ० २४ २५।

३ का०, पृ० २६।

४ गीता, अ० ७, श्लोक २३।

५ भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास : देवदास, पृ० ४११।

न और ब्रह्म के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करती हुई प्राचीन^१ भक्ति मार्ग को पुनः
 सिद्धांतित करती है जिसका लक्ष्यक पाणिनि द्वारा वासुदेव के विषय में किया हुआ भिन्नता
 ।^२ दक्षिण मार्ग में इसी सदी के अवसर्ग भक्ति के इस प्रकार को कई विद्वान् बिदेसी
 मानते हैं । डॉ० वियर्सन इसे ईसाई धर्म की प्रेरणा मानते हैं । डॉ० वाराचन्ड अपनी
 तत्क 'इम्प्लूएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर' में इसे इस्लाम का प्रभाव कहते हैं ।
 मिटर साइड की कल्पना अत्यन्त प्रामाण्य प्रतीक होती है क्योंकि भक्ति का यह निरूपण
 निवारित संकरमाध्य के विरोध में हुआ था तथा लोकमत-संघर्ष के लिए आवश्यक था कि
 वे केवल वैदिक तत्त्वों से ही सम्बन्ध होता । अतः मध्वाचार्य का ईश्वर-निरूपण एवं ब्रह्म
 साई प्रथमा इस्लामी धर्मों से प्रभावित न होकर पूर्णरूपेण भारतीय परम्परा प्रतीत होती है ।
 सीरिया के ईसाई लोगों में Child God with an unknown father की
 गहिरा कल्पना तथा ई० सन् की कृष्ण-कल्पना में अवश्य कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है ।

पर वस्तुतः इस साम्य के आधार पर कृष्ण की कल्पना पर धिम्बु
 आइरल मास विर
 एम धार्मिक कल्पना
 लीकाओं का पता चला है जो भारत में ईसाई धर्म के प्रचार से
 हुए पहले की है ।^३ इसी प्रकार ईसा पूर्व पड़की घटावरी की मधुरा की तीन चित्र कला में
 ही कृष्ण-विषयक प्राचीन लोक-कथाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं ।^४ अतः वाच-कृष्ण की कल्पना
 ने अहस्त-विषयक ईसाई आख्यानों से प्रभावित मानना वस्तुस्थिति को ईसाई धर्म से देखना
 गलत है । वास्तविकता इसके ठीक विपरीत प्रतीत होती है । सीरिया-निवासी केवल वैभव
 मानता है कि आर्मीनिया देश में ईसा-पूर्व तीसरी घटावरी में केवल कृष्णोपासना ही प्रचलित
 नहीं की वरन् बान झील के किनारे मत्तियों में कृष्ण की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ भी अस्तित्व में
 थी जो बाद में ईसाईयों द्वारा तुड़वा दी गई ।^५ उसका कहना है कि ईसाई सन् की चौथी
 घटावरी के आरम्भ में बड़ी संख्या में पाँच हजार कृष्णोपासक विद्यमान थे । जैन और मूल
 राजपूत मोगलानीय के कथन से यह बात पूर्णतः सिद्ध होती है कि ईसा से सत्रह सत्रह
 घटावरी पूर्व परिचामी देशों की जनता कृष्ण को जानती ही नहीं थी वरन् कृष्णोपासना से प्रती
 गति परिचित एवं प्रभावित भी थी । इसी वधा में कृष्ण पर अहस्त का प्रभाव पड़ने की
 अपेक्षा आहस्त पर ही कृष्ण का प्रभाव पड़ने की अधिक सम्भावना हो सकती है । प्रारम्भिक
 ईसाई धर्म में अहस्त के मुख-मण्डल के चारों ओर जकाकार छेदोमण्डल एवं कुमारी मैरी के
 अनेक बाहु हाथ की कल्पना^६ क्या इसी प्रभाव को सूचित नहीं करती ? एम० एस०
 रामस्वामी अम्बर का तो मत है कि क्रिस्तीन को भारतीयों से बड़ाया था तथा ईसा समक

१ कनेटिंग स्टोन इन वेल्शियन एवम क्रिस्चियनिटी—सीड १०२ ।

२ जर्मी विन्डर की ६ पृष्ठ १०२, एम्बर्गरी, १०१४० ।

३ वे पार १० १० १८०० १००१११ ।

४ मिटरसाइड—१०१४ की ६ विषय मिटरसाइड (ईश्वर कृष्णोपासना) काल २ पृष्ठ ।

५ मिटरसाइड १०१४ की ६ विषय मिटरसाइड १०१४० ।

६ ईश्वर १०१४ १००१ १००१११ ।

देखायी दे।^१ बायुनिक स्वीकृत धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में यह एक अस्पष्ट साहसपूर्ण मत है तथा स्वतंत्र रूप से सूक्ष्म गवेषणा की अपेक्षा रखता है। यदि रामस्वामी का मत प्रामाणिक सिद्ध हो सका तो दूसरा प्रश्न यह होगा कि अद्वैत की पावपात्य कल्पना नहीं कल्प के व्यक्तित्व पर ही तो आधारित नहीं? वास्तव में कल्प की मृत्यु के विषय में पौराणिक कथाएँ रहस्यमय तथा प्रतीक-भाषा हैं। विष्णु-पुराण के अनुसार ऋषियों के शाप से उत्पन्न हुए लोह-मूषक के अवशिष्ट टुकड़े से बना हुआ बाण दुर्वासा के वचनानुसार कल्प के समाप्ति होने पर उनकी एड़ी में समाने से कल्प की मृत्यु होती है।^२ स्पष्ट ही बाह्यात्मिक के शाप से यादवों के नाश तथा कल्प के देह-रूपाय के विषय में मंत्रों द्वारा पुछने पर ही उपर्युक्त कथा का आयोजन हुआ है। विष्णु-पुराण की कथा से केवल दो तर्कों का निरूपण होता है— एक बाह्यात्मिक के सामर्थ्य तथा व्योमता का समर्पण तथा दूसरा कल्प का विष्णु का ही पूर्ण रूप होना जो केवल साम्प्रदायिक धारणा प्रतीत होती है। कथा से यदि इन दोनों तर्कों को निकाल दिया जाय तो कल्प की मृत्यु पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

महामारुत के अनुसार श्रीकृष्ण शक्ति-व्यक्त्य और पुत्र रहित होकर महामारुत-मुक्त के छत्तीस वर्ष पश्चात् बंगल में विचरण करते हुए कुत्सित उपाय से स्वर्ग जाते हैं।^३ महा-मारुत में वर्णित यह कुत्सित उपाय समस्या को रहस्यमय ही छोड़ देता है। भामवत-पुराण विष्णु-पुराण की कथा का ही अनुकरण करता प्रतीत होता है तथा कल्प की मृत्यु के विषय में कोई अतिरिक्त सामग्री प्रस्तुत नहीं करता।^४ देवर्षी शताम्बी के आरम्भ में महामारुत के महानुभाव उत्पन्न के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का निवन 'कर्पूरकज्जस्रवत्' माना गया है^५ तथा उसमें बर नामक व्यास के बाण मारने की पौराणिक कल्पना का सर्वथा अभाव है। 'बरा' का एक अर्थ बन्धन कल्पनानुसंग किसी व्यास-विशेष का नाम न होकर 'कालावधि' का भी सूचक हो सकता है।^६ बर नामक व्यास की पौराणिक कल्पना राम और शक्ति की कथा के उपसंहार के रूप में कल्पित हुई प्रतीत होती है। जो हो, इतना निश्चित है कि श्रीकृष्ण के निवन के बारे में सभी प्राचीन जल्लेख रहस्यमय हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि एशिया के पूर्वी देशों में रामोपासना तथा बौद्ध धर्म का प्रचार होते हुए भी इन दोनों का प्रचार पश्चिमी देशों में न हो सका बीसा कि ऐसा ही समय बार ही वर्ष पूर्व कृष्णोपासना का हो पाया। केवल प्रचार ही नहीं प्राचीन यूनानी देवता अकिलीस (Achilles) डायोनिसस (Dionysus) सेकिनस (Sikinos) तथा कल्प और बरराम विषयक भारतीय कल्पनाओं में

१ यम० पत्र० रामस्वामी अय्यर, पञ्चसह ब्रह्म वेदाय अमम 'ब्रह्म' इत्यादिनाम्, १-२ १९४१।

२ विष्णु-पुराण, पंचमहा अष्टाध्याय ३०।

३ समुद्रमंथन के वरं ब्रह्मिरो यजुर्महान्।

इत्यस्मिन्मयातो इत्युचो बनेवर ॥

कुत्सितेकाम्बुपदेन निर्वर्त समग्रमपि ॥ महामारुत, स्त्री-पदं, २५ १४।

वर्तितोक्तं ज्ञेयं कृष्णनाम्नो महात्मा।

मन्त्रोर्ध्वं पुनर्ब्रह्मेण विष्णुः कावचोदितः ॥ महामारुत, मूलतर्क, १-२।

४ डॉ० देवदत्त त्रिवेद 'महामारुत पुत्रकण्ठ', अग्रजिका।

५ पञ्चसह : ३ इतिव्यासच येने, विचार ३३।

६ श्रीकृष्ण, विजयारण्य एवम ईश्वर्यु, श्री यम० पत्र, (इतिव्यासच)।

साम्प्रत एम्बरवार की स्थापना तथा ईसा का उत्पन्न पश्चिमी देशों में कृष्ण के प्रमाण का स्पष्ट होता है। बहुत सम्भव है कि कृष्ण की भारतीय कल्पनाओं के समानांतर इन पाश्चात्य कल्पनाओं का सर्वांग कृष्ण ही रहे हों तथा कृष्ण का अस्तित्व माधुनिक कारुण्यता से बहुत पहले रहा हो और यह साम्प्रत किसी निपुण अतीत में एक समाज अथवा राष्ट्र, पूर्व और पश्चिम के निकट सम्पर्क या एक ही देश का सूचक हो।

यूनान के डायनिसस (Dionysus) और कृष्ण में कई बातों में आश्चर्यजनक साम्य इन्फिरोवर होता है। डायनिसस वनस्पति का (Vegetation) संगीतप्रिय मानवमय तथा कमलाकरी देवता है^१ तथा उसका स्वकर्म स्त्री सुखम व्यक्त किया गया है।^२ मित्र-निवासी अपने ओरिसस तथा रोमन लोग अपने लिबर (Liber) अथवा बैकस (Bacchus) को डायनिसस का ही रूप मानते हैं।^३ डायनिसस के बारे में कहा जाता है कि उसने कई पुरुष और स्त्रियों के साथ कई देशों में भ्रमण किया था तथा वह भारत में भी जाया था। भारत में वह तीन अथवा सात वर्ष रहा तथा भारतवासियों को पराजित करके उसने उन्हें मदिरा बनाना तथा फल उगाने के साथ-साथ देवताओं की उपासना भी सिखाई। वहाँ पर उसने कई नगर भी बसाए तथा भारतवासियों का कई नियम सिखाए। भारतवासी उसे देवता मानकर पूजते थे।^४

डायनिसस और सेलिनस का कृष्ण और बजराम की भाँति बहुत गठबन्धन दिखाया गया है। यूनानी देवता सेलिनस (Silenus) और बजराम-विषयक प्राचीन कल्पनाएँ बहुत कुछ समानांतर प्रतीत होती हैं। सेलिनस डायनिसस का केवल बजराम और सेलिनस सहचर ही नहीं है, बल्कि उसीके समान देवता है तथा कई स्त्रियों का बजराम की तरह वध भी करता है। वह मद्यप्रिय है और संगीत का प्रेमी होते हुए बंसी का आविष्कार करता है तथा बंसी बजा-बजाकर प्रायः मृत्यु करता रहता है। उसकी इन मृमप्रियता के ही कारण एक मृत्यु-विशेष का नाम सेलिनस (Silenus) पड़ा था। सेलिनस की मद्यप्रियता को सूचित करने वाला एक्लि (Eclis) में उसका एक मन्दिर भी है जिसमें मदिरा-प्रेमी उसे मदिरा का प्याला देती हुई चित्रित की गई है।^५ 'विष्णु-पुराण' में भी बजराम के विषय में ऐसी ही कल्पना इन्फिरोवर होती है। बजराम की ही भाँति परवर्ती काल में सेलिनस के भी मन्दिर नहीं मिलते।

अब हम देखते हैं कि डायनिसस और सेलिनस तथा कृष्ण और बजराम-विषयक लोक-विश्वासों में कई ऐसी आश्चर्यजनक समानांतर कल्पनाएँ हैं जो एक सामान्य सङ्ग्रह को ही सूचित नहीं करतीं बल्कि उनका आदृष्ट से बहुत प्राचीन होना भी सिद्ध करती हैं।

कई पाश्चात्य पंडितों ने तो गाराबन्धीय में वर्णित ब्लैक-डीप को भी बिबेधी देस मान कर एम्बरवार के आचार पर उसे ईसाई धर्म का ज्ञानी मानने का दाव्य किया है।^६

१. जॉन्सोर्न कम्प्लिक्स टू क्लासिकल मिथोलॉजी, १५४०।

२. वही।

३. वही।

४. डियॉसोर्टी की ५०० वर्ष पूर्व ईसा पूर्व काव्यकाल में भारत आने की बात, १५४०।

५. डियॉसोर्टी की ५०० वर्ष पूर्व ईसा पूर्व काव्यकाल में भारत आने की बात, १५४०।

६. डी. डी. १५४०, १५४०, १५४०।

मास्तन में इस भ्रामक मत के प्रवर्तकों के पास कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है। देखा जाय तो वैदिक दर्शन की तुलना में वही ईसाई धर्म में किसी भी आकर्षक तत्त्वज्ञान के दर्शन नहीं होते वही दूसरी ओर उस धर्म में प्रतिपादित कृपासु ईश्वर की कल्पना तथा भक्ति की स्थापना वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक भारतीय धार्मिक साहित्य में असंख्य रूप से दृष्टि योग्य होती है, जिसका स्पष्ट निरूपण ईसा से बहुत पहले प्रचलित वासुदेव-सम्प्रदाय में हो चुका था। इसी प्रकार ब्राह्मण यात्र विर एन अम्बोन कावर की कल्पनाएँ भी सर्वप्रथम केवल ब्राह्मण से ही सम्बन्धित नहीं थीं बल्कि उनका अस्तित्व ब्राह्मण से भी पहले संसार की विभिन्न जातियों में विद्यमान था। प्राचीन सेमेटिक जातियों में महापुरुषों की देवताओं से उत्पत्ति विषयक कल्पनाएँ इसी बात की पुष्टि करती हैं। भारतीय कथाओं में पंच-नाभों की देवताओं से तथा राम लक्ष्मण भरत और लक्ष्मण की देवता प्रसाद से उत्पत्ति कुछ ऐसी ही प्राचीन समानान्तर कल्पनाएँ हैं जो ठारिफिक दृष्टि से अज्ञात या ईवी पिता वाली सम्मान सम्बन्धी कल्पनाओं को सूचित करती हैं।

बाळ-कृष्ण पर ब्राह्मण के प्रभाव-विषयक दूसरा आक्षेप है ब्रह्म-महोदय के अनुसार पर बाळ-कृष्ण के साथ माता देवकी की पूजा। वेबर^१ का कहना है कि माता देवकी का स्तन पान करते हुए बाळ-कृष्ण की कल्पना ईसाई धर्म की 'मेडोना महामाता की पूजा' एम्ब वि ब्राह्मण^२ की कल्पना से प्रभावित है। वेबर का अनुमान पक्षपातरहित नहीं है क्योंकि एक ओर जहाँ केन्डी^३ स्पष्ट रूप से कहता है कि ईसा की दसवीं शताब्दी तक ईसाई धर्म में स्तन-पान करने वाली माता की कल्पना ही नहीं थी तथा उसे प्राचीन हिन्दू धर्म में देवता है वही दूसरी ओर वामपर^४ कहता है कि कुनापी मेरी की पूजा का प्रकार ईसा की चौथी शताब्दी तक नहीं हो पाया था। सत्य तो यह है कि ऐसी कल्पनाएँ हिन्दू धर्म के लिए नवीन नहीं थी अपितु वे प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुलता से मिलती हैं। उदाहरणार्थ रामायण में जिसे विद्वान् ईसा-पूर्व की रचना मानते हैं बाळक राम को कौषल्या की पोष भ सेता हुआ विधित किया गया है।^५ विमर्शन का कहना है कि स्तन-पान कराने वाली माता की पूजा बौद्ध धर्म के अन्तर्गत हारिदि की पूजा पर आधारित है जिसे 'बीड मेडोना' भी कहा जाता है।^६

अतः बाळ-कृष्ण-सहित माता देवकी की पूजा की कल्पना ईसाई धर्म का प्रभाव न होकर छान्दोग्य उपनिषद् के 'देवकी-पुत्र' शब्द में निहित अर्ध-परम्परा का ही अनुशीलन करनी प्रतीत होती है।

परमेश्वर के बाळ-रूप की उपासना की ही भाँति (Mother Goddess) की उपासना भी ईसाई धर्म की रीति न होकर अत्यन्त प्राचीन कल्पना सिद्ध होती है। महामाता की उपासना का प्रचलन संसार की लगभग सभी प्राचीन जातियों में था तथा मुख्यतः उसका सम्बन्ध घृष्टि की उत्पत्ति तथा संसार से अभिव्यक्ति होता है। बिब्लियोग्राफ में मयर योहेस की

१ इंडियन एथिक्सेस १८७४, पृ. ५१।

२. जे. मार १०। ३. १६, ७, १५ ४५४।

३ इण्ड ५५४ ५० ४०।

४. मेडोमेड-संस्कृत मिट्रेफर, १० १००-१०।

५. एन बीपी अर्द्ध विद्वान् बीड मेडोना सेक, ५ १५०-४५।

उपासना इस्तर (Ishtar) की कल्पना में इष्टिबोधर होती है तथा उसका सम्बन्ध जल, वनस्पति वस्तु, यौन विबाह, घन्तानोत्पत्ति तथा संहार आदि से ही रहा है।^१ साथ ही वह पुरुषों की स्वामिनी संहारक ज्ञानवाणी प्रकट एवं युद्ध की सेवता मानी जाती थी। मरुत में जहाँ का जीवन बल है वह पञ्चासय की सेवता के रूप में पूजनीय थी।^२ इस्तर की कल्पना सुमेरियन अथवा सेमेटिक बैबिलोनिया के लोगों की न होकर आश-सेमेटिक जाति की कल्पना थी^३ तथा इस्तर प्रकृति की रचनात्मक तथा संहारक शक्ति का मूर्त रूप मानी जाती थी। आश-सेमेटिक जातियों में युद्ध के समय माता अपने कुन्ने की मुक्ति एवं अनुबा होने के कारण ही कशाचित् इस्तर युद्ध-सेवता मानी जाने लगी।^४ प्राचीन फिनिश्टीन में भी मरुत मोरेश की उपासना का प्रचलन था।^५ इसी प्रकार कन्नान मेसोपोटामिया सबूरी अरब तथा एशियमिया में भी आरम्भ में इस्तर की उपासना को मान्यता मिली हुई थी।^६

इस्तर और दुर्गा में इसका साम्य इष्टिबोधर होता है कि उसे केवल संयोज नहीं कहा जा सकता।^७ सीरियन बेबी कारेश (Kadesh) सिंह की पीठ पर खड़ी दिखाई गई है।^८ बाबीलोन काकदी का अनुमान है कि जिस समय आर्य मेसोपोटामिया में थे उस समय यहा माता की उपासना उन्होंने बैबिलोनिया से ली थी।^९ क्योंकि बैबिलोनिया के चन्द्र-देवता का नाम सिन (Sinn) और कुर्म-पुरुष में^{१०} दुर्गा के सहस्रनामों में 'सिनीबन्नी नाम परस्पर सम्मिश्रित इष्टिबोधर होते हैं।^{११} यही चन्द्र-देवता जापान में यदो (Yodo) कहा जाता है तथा उसकी मोति के रूप में पूजा होती है।^{१२}

माछ में महाभारता की उपासना आर्यों के भारत में आकर बसने से भी पहले विद्यमान थी। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई से पता चला है कि आर्य-पूर्व भारत की आर्य जालियों की उपासना-प्रकृति में शिव आत्मा तथा मुख्य की उपासना का प्रचलन था।^{१३} प्रागैतिहासिक विवेकता की बड़ी प्राचीन कल्पना ऐतिहासिक शिव बुद्धाध्य या कार्तिकेय और पार्वती में कल्पित होती है।^{१४} इन विद्वानों की ओर श्रुत्वे^{१५} में स्पष्ट उचित निष्कर्ष है जहाँ इन्हें पुमान स्त्री तथा महदेव कहा गया है। यही स्त्री को तन्त्र अथवा मामा में पारंपर्य कहा

१ दि मर मोरेश कामाख्या बैबीलोन काकदी, पृ ३३।

२ ई. मर ई०, खण्ड ७, पृ ४२३, ४३२।

३ ली, पृ ४२०।

४ ली, पृ ४३१।

५ आन मीन बीन एन्स करोड पृ २२१।

६ ई० मर ई. खण्ड ७, पृ ४२०।

७ मेसोपोटामिया एश-रिय २३४० पृ ३-२४।

८ आन मीन बीन एन्स करोड पृ २२२।

९ दि मर मोरेश कामाख्या बाबीलोन काकदी, पृ ३३।

१० कुर्म पुरुष, ११२९।

११ ली।

१२ ली।

१३ मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा दि एन्स डिमिनाइजेशन, जॉन मार्शल खण्ड १, पृ ४४५।

१४ दि विविधत चर्च इतिहास : पृ ५० की कल्पना पृ २ पृ ३३।

१५ आन मीन, १०४, १०५।

यथा है। प्राचीन 'आत्मा' का यही तत्त्व अथवा माया आर्य-देव विभाग में परब्रह्म की माया उक्ति अथवा 'पुरुष और प्रकृति' में 'प्रकृति-तत्त्व' का रूप निरूपण करती है। प्रागैतिहासिक काल में भी आत्मा उत्पत्ति की देवता तथा शिव की पत्नी मानी जाती थी तथा उसकी पूजा योनि-पूजा के रूप में प्रचलित थी। योनि-तत्त्व में योनि को उत्पत्ति का ही प्रतीक माना गया है।^१ इतना ही नहीं योनि-तत्त्व में कासी स्पष्ट रूप से ब्रह्मा से योनि का स्मरण करके सृष्टि निर्माण करने के लिए कहती है।^२ बोहाटी से तीन मील दूर कामाख्या देवी का मन्दिर तथा उसमें मूर्ति के स्थान पर पत्थर में उत्कीर्ण योनि महाभाता अथवा कासी की उत्पत्ति-शक्ति का ही प्रतीक है।^३ इस प्रकार की उपासना केवल प्राचीन भारत में ही नहीं बल्कि जापान तथा चीन में भी विद्यमान थी। महाभारत में वर्णित वैष्णवों की माता अदिति की कल्पना इसी प्राचीन मायाता पर आधारित है।^४

महाभाता की कल्पना को 'योनिता' की कल्पना से प्रभावित मानना केवल प्रभाव ही नहीं है बल्कि ऐतिहासिक तत्त्व को बान-बुझकर अस्वीकार करना है। वस्तुतः शिव की पत्नी कया आत्मा की प्राचीन कल्पना ही वैदिक की और पौराणिक तत्त्वों की कल्पना में विकसित हुई है।

अतः हम देखते हैं कि प्राचीन आनुवंश-सम्प्रदाय की विद्येयता^५ पौराणिक काल में विष्णु और कृष्ण के एकीकरण से सम्पन्न होकर कृष्ण विपक्ष वर्तमान कल्पनाओं में उद्भूत हुई तथा वे किसी भी प्रकार ईसाई धर्म से प्रभावित नहीं हैं।

विष्णु के दशकठारों में शीतल बुद्ध के समावेश का बीच बौद्ध धर्म के प्राकृमांस एवं उसके विकास में ही अविकसित होता है। स्पष्ट ही इस गई विचारधारा का प्राकृमांस शास्त्र-धर्म के अन्तर्गत शिक्षा, अधिभान तथा आनुवंश के धर्म बुद्धत्वतः विकास की प्रतिधिया के रूप में आगम तथा धर्म धर्मों की भाँति हुआ।^६ अतएव बौद्ध-तत्त्ववाद प्राचीन आगम-धर्म के अधिक निकट

होते हुए भी साम्य की अपेक्षा प्राचीन वेदांग से सम्बन्धित प्रतीत होता है।^७ वस्तुतः बौद्ध धर्म निरान्धवादी होते हुए भी उपनिषदों की वैचारिक प्रभावी पर आधारित है। अन्तर केवल इतना है कि उपनिषदों का तत्त्ववाद एवं तर्क-साक्षात्कार की अनुभूति एवं मिथ्या पर आधारित होने के कारण पूर्णतः ईश्वरवादी या, पर बौद्ध-धर्म वैचारिक अथवा आत्मा में अनात्मा होने के कारण निरीश्वरवादी। मैकडिक (Macnicol) तथा सीमार्ट (Schart) दो बौद्ध धर्म का उद्गम प्राचीन कृष्ण-उपासना के आतावरण में ही मानते हैं।^८

बुद्ध का निरान्धवाद ब्रह्म-वैयक्तिक होने के कारण सामान्य जनता की उपासना बुद्ध को प्राप्त करने में असमर्थ या अथवा वैदिक धर्मकाण्ड और आनुवंश की विपत्तियों

१. वि. मर मोडेस कामाख्या, प्राचीन काली, पृ० ३०।

२. योनि-तत्त्व, अथवा माया अथवा २५।

३. वि. मर मोडेस कामाख्या, पृ० ३५।

४. महाभारत (उपनिषद) अध्याय १०, पृ० ३१।

५. एन. सीमार्ट, पृ० ३। अधिभान (विष्णु), धर्म, पृ० ३२३।

६. सी।

७. अधिभान अध्याय, पृ० ३३।

से प्रसिद्ध जनता में उसके प्रति जाबर खास का बनाव कभी भी नहीं था। अतः बुद्ध-निर्वाण के बाद बुद्ध के अनुयायी सन्तों की लोकजाहिरता के लिए बौद्ध धर्म में ऐसे तत्त्वों का समावेश करना लगे जो वेदव्यवसाधारण की उपासना के लिए ही सुकम न थे। बल्कि खास ही जिन्हें जनता में मान्यता भी मिली हुई थी। इन तत्त्वों में से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व था भक्तिवाद। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ध्यान-योग अथवा एवं उपास्य के प्रति अनन्य भाव में भक्ति का निरूपण बौद्ध धर्म के प्राबुर्वाह से बहुत पहले हो चुका था तथा वह साक्षरता की दृष्टि से लोकप्रिय भी होने लगा था। ब्राह्मण-सम्प्रदाय ने इसी भक्ति को सामना का एकमात्र मार्ग मान कर प्राबुर्वाह की सीमाओं का उल्लंघन करके व्यवसाधारण के लिए उपासना का सरल उपाय अत्यन्त भक्ति बोधित करके भक्ति-मार्ग को और भी सुदृढ़ बना दिया। बौद्ध-नैष्ठिकवाद के प्राबुर्वाह के पहले यह सामना प्रजापति अत्यन्त लोकप्रिय बन चुकी थी। अतः वह आवश्यक था कि वह किमी-न किसी रूप में बौद्ध धर्म की नैष्ठिकवारी चेतना को प्रभावित करती।

परमत्त्व के बारे में स्वयं मौलम बुद्ध का मौन^१ विज्ञानु साधक की बौद्धिक क्षुधा शान्त कर सकने में असमर्थ था। यद्यपि परमत्त्व की विवेचना के विषय में बुद्ध का मौन इन्द्रियों की भांति मानसिक व्यवहार को रोकने मात्र के लिए ही प्रतीत होता है तथापि अन्तिम तत्त्व-विषयक लोक-विज्ञाता का समाधान न करने के कारण ही बौद्ध धर्म में परम तत्त्व के विषय में भक्ति अथवा अथवा ध्यान जैसी अनुभूतिपरक मानसिक व्यवस्थाओं के लिए बनायास ही स्वांग बना रहा।

मौलम बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करते ही महाभाग सम्प्रदाय की स्थापना में इन्हें स्वीकार किया गया तथा बौद्ध-तत्त्ववाद व्यवसाधारण सुकम न होने के कारण ही बुद्ध के अनुयायियों ने निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा वैदिक भक्ति के सरल मार्ग का अनुकरण करके बुद्ध को परमेश्वर मानकर सम्मनन उन्हें 'स्वर्ग्यु वा अनाद्यन्त पुण्योत्तम'^२ का रूप प्रदान किया।^३ इस सम्ना बना का समर्पण बौद्ध ग्रन्थों से होता है जिनमें बुद्ध को अव्यय-पिता और जीवन को बाहक माना गया है तथा बुद्ध के समदृष्टि-सङ्गर्भ का ह्रास होते ही बुद्ध के पुनराविर्भाव में आत्मा प्रकट की गई है। यही नहीं बुद्ध की भक्ति बौद्ध ग्रन्थों की पूजा स्तुतियों के सम्मुख कीर्तन तथा कमल अर्पण करने से अनुप्य के सम्मति प्राप्त करने का भी प्रतिपादन किया गया है।^४ भिक्षु पञ्च में तो गीता^५ की तरह अन्तिम समय में बुद्ध की शरण जाने से जीव को स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी बनाया गया है। इस प्रकार बुद्ध का नैराश्रमीय तत्त्ववाद जो अपने मूल रूप में निवृत्ति-मार्ग बुद्धवाद तथा जीव-वधावाद आदि वैदिक धर्म की विभिन्न प्राचीन धर्म चेतनाओं व स्थापनाओं को आरमभत् किन्हे हुए था। कालान्तर में स्वयं बुद्ध को परमेश्वर के रूप में समर्पण करके तथा अवतार-तत्त्व को मान्यता देकर वैदिक धर्म-तत्त्वों के सामान्य घरायश पर उतर आया। बौद्ध धर्म में वैदिक तत्त्वों का यही समावेश तथा परवर्ती-काष्ठ में उस धर्म का ह्रास और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान बुद्ध का विष्णु के वधावतार की कोटि में लाने में अमर्थ हुआ। वैष्णव-धर्म-रीति में बुद्ध का महत्त्व जीव-वधावाद के प्रतिपादन तथा

१ परमत्त्व तत्त्वान्, य वि० वेदव्यास, १, १८०।

२ अनाद्यन्त पुण्योत्तम य वि० वेदव्यास, १, १८०।

३ गीता।

४ गीता, १०।

विभिन्न प्राचीन उपासना-प्रथाओं के समन्वय में ही दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन धर्म सम्प्रदायों में निक्षिप्त इन दो महत्त्वपूर्ण तत्त्वों में वैदिक आत्मवाद के बीच-ब्याबाह सम्मिश्रण के कारण ही गौतम-बुद्ध को निरीक्षरवादी धर्म के प्रवर्तक होते हुए भी वैष्णव-धर्म में स्थान मिल सका। बुद्ध और विष्णु के इस एकीकरण में दूसरा सहायक तत्व बौद्ध धर्म के अन्तर्गत संघों की स्थापना है। गौतम बुद्ध ने प्रचलित वर्णायम तथा जाति भेद का तो खण्डन किया पर साथ ही केवल मित्रुति-मार्ग को ही निर्वाण का सच्चा मार्ग मानकर जनमानस ही वैदिक वर्णायम के समानांतर संघ-संस्था को बरम दिया। बौद्धों के संघ यद्यपि नीति मानवता तथा आचरण पर आधारित अपने विशिष्ट ध्येय को लेकर ही अस्तित्व में आए, तथापि वैचारिक स्वतन्त्रता के प्रतिरोध तथा संघर्ष के विषय में कट्टरता के कारण वे वास्तविक निर्वाण से परावृत्त होकर केवल संघ मात्र रह गए। इस तरह वर्णायम का खण्डन करते हुए भी बौद्ध धर्म ने जनता को एक ऐसा समान प्रबल किया जो वर्णायम का ही एक दूसरा रूप था।^१

पौराणिक काल में विष्णु के उपासकों में बुद्ध का समावेश प्राचीन भारतीय विभिन्न धर्म-वैतनाओं का समन्वय सूचित करता है तथा इस प्रकार वैदिक धर्म में बीच-ब्याबाह अथवा बहिष्ठा के महत्त्व की प्रतिष्ठापना करके वैष्णव धर्म को और भी व्यापक तथा कोकसाही स्वरूप प्रदान करता है। यही कारण है कि मामवत-पुराण में गौतम-बुद्ध को देवताओं के यन्त्रियों के ताल के लिए अवतार माना गया है। नीति में प्रतिपादित धर्म की संस्थापना के लिए नहीं।^२ यह पौराणिक मान्यता गौतम बुद्ध को धर्म संस्थापक के रूप में महत्त्व न देकर उपरोक्त बहिष्ठा तथा मानवता के कारण ही देवत्व की कोटि में रखती है।

विष्णु के उपासकों में से अन्तिम अवतार भविष्य से सम्बन्धित है। पुराणों में इसे कल्कि-अवतार कहा गया है। महाभारत कल्कि को विष्णु का बसवा अवतार तथा उसका जन्म 'विष्णुयुग' नामक शास्त्र के धर मानता है।^३ पौराणिक

कल्कि-अवतार उल्लेखों के अनुसार कल्कियुग के अन्त में सम्मत्त याम में विष्णु कल्कि के रूप में अवतरित होकर म्लेच्छों तथा धूर्त राजाओं का

विनाश करके धर्म की संस्थापना करेगा तथा इसी अवतार के साथ-साथ कृत-युग का पुनः अन्त होगा।^४ वासु और मत्स्य-पुराणों के अनुसार प्रमाति पार्षव ही विष्णु के अवतार का कार्य करेंगे।^५ महाभारत वासु तथा मामवत-पुराणों का कहना है कि कल्कि अवतार म्लेच्छों को पराजित करके सार्वभौम शक्तियों तथा धर्म-विजयी राजा होगा तथा उसीके समय से कृत-युग का आरम्भ होगा।^६

विष्णु के इस भावी अवतार को पुराणों में 'कल्कि' कहा गया है तथा इस अवतार के

१ इन्डियन इन्स्टीट्यूट, पृ० १२३।

२ सभी विद्वत् श्री कृष्णपुराण, राजसीपरा, पृ० ७०।

३ महाभारत ब्रह्मपर्व भाग १०, पृ० १४४।

४ विष्णु का ६ बर्णनात्मक—पी० बी० कावे पृष्ठ ३, पृ० २२३।

५ वासु-पुराण, १० अ० २०, मत्स्य-पुराण १४४ पृ०-१४५।

६ कृष्ण-पुराण, १० पृ० ११, १२-१३-१४ का पञ्चम-पुराण, अ० १२, २, ११-१३। महाभारत, कनक-पर्व, ११० पृ० १३०।

हो चुकने तथा भविष्य में होने विषयक दोनों का सम्बन्ध मिलता है। महामहोपाध्याय कावे के मतानुसार यहाँ तक कल्कि-अवतार के हो चुकने के सम्बन्धों का सम्बन्ध है वे सम्भवतः भारतीय साहित्य में कल्प-कल्पान्तर्गत की पुनरावृत्ति को ही सूचित करते हैं तथा इस प्रकार मायी अवतार-विषयक अन्य पौराणिक सम्बन्धों के विरोधी नहीं हैं।^१ उनका अनुमान है कि कल्कि का विष्णुवत्सा-सम्बन्धी पौराणिक सम्बन्ध भी ऐतिहासिक ऋष्या पर कल्पित है। इस अनुमान की पुष्टि में मिहिरगुप्त नामक बर्बर हूजाधिपति की यशोधर्मन अथवा विष्णुवर्धन के हाथों ऐतिहासिक पराक्रम की उद्धृत करते हुए म० य० कावे ने 'विष्णुवत्सा' को इन दोनों नामों की संयुक्ति माना है।^२ महामहोपाध्याय कावे का अनुमान युक्तिमुक्त प्रतीत होता है क्योंकि कल्कि-काक आरम्भ होने के कुछ ही सताब्दियों पश्चात् मिहिरगुप्त जैसे बर्बर म्लेच्छाधिपति का भारत पर आक्रमण छाड़ों की संख्या में मर-मारियों का बन्ध तथा यशोधर्मन या विष्णुवर्धन के हाथों उसके समय में यदि पुराणकार विष्णुवत्सा के यहाँ कल्कि-अवतार होने की कल्पना कर लें तो वह सर्वथा अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती। इस सम्भावना को मान लेने पर विष्णुवत्सा के रूप में अवतार हो चुकने को सूचित करने वाले सम्बन्धों का भी एक हृत् तक समाधान हो जाता है।

कल्कि-अवतार का बीच भी अन्य अवतारों की भाँति पीता में ही द्रष्टव्य होता है। कल्किमुनि से दत्तित अन्न-बीजन वैदिक यमों की स्थिति निरीक्षरवासी नई-नई विचारधाराओं के उत्थन और दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए अनाचार को देखकर ही पुराणकारों ने जनसाधारण को निराशा-रूपी विमोक्ष के गह्वर से बचाने के लिए भगवद्-वाक्य^३ को प्रमाण रखकर मायी अवतार की कल्पना की होगी। इस सम्भावना का समर्थन अवतार के नामकरण से भी होता है। 'कल्कि' शब्द स्पष्ट ही कर्कश पाप कल्मस तथा कल्कियुग के पुन-वर्धन-विशेष अनाचार का प्रतीक होकर कल्कियुग में वर्धन के चरम विकास को सूचित करता है। अतः मायी अवतार को 'कल्कि' नाम प्रदान करने में कल्कियुग के कल्मस के चरम विकास का बोध करना ही अनिवार्य है।

शेडर ने 'कल्कि' शब्द का बड़े ही विविध ढंग से वर्ण किया है। उसका कहना है कि 'कल्कि' का अर्थ है 'पाप और कर्म' होता है सफ़ेद बोझ। अतः 'कल्कि' 'करंकी' का ही अन्य रूप है जिसका अर्थ 'सफ़ेद बोझें बाधा सवार' होता है।^४ इस प्रकार शेडर सीधे-तान कर कल्कि-अवतार-विषयक पौराणिक कल्पना का बीच ईसाइयों की कुछ ऑर्ड रेवेलेशन^५ में निरूपित कल्पना में बैठता है तथा इस प्रकार अनायास ही समस्या-समाधान को एक विपरीत दिशा में मोड़ देता है। शेडर का अर्थ-निर्णय कोरी कल्पना है, क्योंकि एक तो सफ़ेद बोझें पर आसक्त बैठता की कल्पना पूर्णरूपेण ईसाई अथवा हिन्दू दृष्टि से म्लेच्छ-वर्ण की मान्यता होने के कारण धर्मनिष्ठ पुराणकारों को ग्राह्य नहीं हो सकती थी और दूसरे धनकी दृष्टि में कल्कियुग वर्ण की रत्नानि का युग होने के कारण ही मायी अवतार की कल्पना की

^१ विष्णुवत्सा का-वत्साव्य वा० मी० कावे, पृ० ६२३-२४।

^२ वही।

^३ टीका, पृ० १।

^४ मल्लिका एम् १, शेडर, पृ० १०-२०।

^५ कुछ ऑर्ड रेवेलेशन अध्याय १६।

आवरणकृता प्रतीत हुई, जो पूर्ण रूप से तरङ्गातीत आत्मिक परिस्थितियों के अनुकूल प्रतीत होती है। समुद्र-मंथन में समुद्र में प्राप्त 'उज्ज्वल' अस्त्र भी खेत था।

बौद्ध धर्म के अन्तर्गत कृत्रिम अवतार की भाँति बौद्ध धर्म में भी तत्सम परिस्थितियों में भविष्यत बुद्ध-अवतार की कल्पना इष्टिगोचर होती है। बौद्ध विपवासों के अनुसार प्रत्येक

कल्प के आरम्भ में अस्त्र-निगमन पृथ्वी पर केवल उत्तरे ही कमल मैत्रेय बुद्ध भविष्यत फुलते हैं जितने बुद्ध अवतरित होंगे वैसे हों।^१ वर्तमान कल्प के आरम्भ में जिसे महाकल्प कहा गया है परवर्ती-काल में एक सहस्र कल्पों का प्रकट होना भागा गया है^२ तथा इस कल्प में चार बुद्धों

का हो चुकना स्वीकार करके गौतम के पाँचवें बुद्ध के रूप में मैत्रेय बुद्ध के अवतरित होने का निर्देश है।^३ हिन्दू धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में भी सधर्म की आग्नि होते ही उसकी संस्थापना के लिए बुद्ध अवतार ग्रहण करते हैं^४ तथा वर्तमान युग में इसी कार्य-पूर्ति के लिए भविष्यत मैत्रेय नामक बुद्ध-अवतार की कल्पना है। अस्मिन्विस्तार के अनुसार गौतम के बुद्ध बनने के लिए आठे समय यही मैत्रेय तुषित-स्वर्ग में बुद्ध के सिंहासन पर आसीन हुए थे।^५ महायान धर्मों के अनुसार बौद्ध निवेष्टना ने समय मैत्रेय बोधिसत्त्व के रूप में वहाँ उपस्थित थे।^६

हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों की भाँति भावी अवतार की कल्पना प्राचीन ईरानियों के अवेस्ता धर्म में भी उपलब्ध होती है। अवेस्ता धर्म के अनुसार जरथुश्त्र ने मरते समय अपने

तीन बीज संसार में छोड़े थे जो कासू मीड में सुरक्षित हैं तथा आगामी तीन सहस्राब्दियों में से प्रत्येक सहस्राब्दि में उनमें से एक एक बीज मीड में महाने बाबी कुमारियों के गर्भ में प्रवेश करके महापुरुषों के जन्म का कारण बनेगा जो दुर्दिन में अपने-आपको

प्रकट करके कुकाल का नाश करेंगे। इन तीन महापुरुषों में से अन्तिम महापुरुष किरिवास्प (Keresaspa) के हाथों अझही दहक (Azhi Dahaka) की मृत्यु होते ही प्रकट होगा तथा सबको पराजित करके संसार से समस्त पाप मिटा जाएगा।^७ एक जन्म विश्वास के अनुसार जोरॉस्टर (Zoroaster) से तीन हजार वर्ष बाद उसीके बीज से एक नये साउशियान्ट (Saoshyant) का जन्म होगा तथा उसके उत्पन्न होते ही मृत पुन जीवित होंगे और निष्कलंक-सृष्टि का आरम्भ होगा।^८

वस्तुतः भावी अवतार की कल्पना केवल हिन्दू धर्म में ही न होकर संसार के समस्त सभी धर्मों में किसी-न-किसी अंश या रूप में विद्यमान है तथा उसका मुख्य आधार है अथ-पवन से पुनर्जन्म में मनुष्य का विरम्भन विश्वास।

१ ई. आर० ई०, खण्ड १, पृ० १६०।

२ यही पृ० २२।

३ यही।

४ इन्डो-एशियाटिक सोसैटी ट्रान्झैक्शन्स ५ २२४।

५ यही।

६ यही।

७ रिक्सागर्न सोसैटी ट्रान्झैक्शन्स, ५ १२२५।

८ इन्डो-एशियाटिक सोसैटी ट्रान्झैक्शन्स, ५ २२६।

(इ) कालियमर्दन—नाग-संस्कृति के बर्धन का प्रतीक

कृष्ण की बाघ-सीमाओं के अन्तर्गत कालियमर्दन कथा का भी समावेश हुआ है। इस कथा का विषय वर्णम विष्णु-पुरुष और भागवत में मिलता है। भागवत में कथा इस प्रकार है—'कालिय काशवेय-कुलोत्पन्न एक नाग था। पहले वह रमणक द्वीप में रहा करता था। गङ्गा उस द्वीप में आकर नागों को बार-बार लाया करता था। इसलिये सब नागों ने मिलकर तय किया कि वे गङ्गा को नियमित रूप से भला सामग्री देते रहेंगे। उन्होंने अपना निर्णय गङ्गा को कह सुनाया तथा गङ्गा ने उसे स्वीकार कर लिया और नाग सुखी हुए। एक बार गङ्गा का भस्म सहे न लेकर कालिय स्वयं छा गया। परिणामस्वरूप गङ्गा ने उससे युद्ध किया और कालिय भागकर यमुना में जा लिया। उसे यमुना में ड्रिपा हुआ देखकर गङ्गा खोद गया क्योंकि सौमरि ऋषि के साथ के कारण वह स्थान गङ्गा के लिए बर्धन था और यह रहस्य कालिय जानता था इसीलिए वहाँ जाकर वह निर्मयता से ड्रिपा था। उसका विष इतना भयानक था कि पक्षी भी वहाँ की बकपायु के स्पर्श से मर जाता करते थे। कालिय के कारण यमुना का अन्ध विषमय हो गया था। कृष्ण के साथी गोपाल एक बार पूछ से वहाँ जा पहुँचे तथा वहाँ का सब पीकर मर गए। इस बात का पता चलते ही कृष्ण तत्काल वहाँ जा पहुँचे और एक ठोस बुल पर चढ़कर पानी में कूद पड़े। तत्पश्चात् कालिय के पास पहुँचकर उन्होंने अपनी जड़जुल शक्ति से उसे पकड़ लिया और उसका इतना मर्दन किया कि उसकी जान निकलने-सी लगी। कालिय को मरणासन्न देखकर उसकी पत्नियों ने कृष्ण से प्रार्थना की कि वे उसे प्राणवान दें। कृष्ण ने उसे प्राणवान दे दिया और यमुना का सब दूध करके बाघ-सीमाओं को मिलाकर उन्होंने कालिय को फिर से रमणक द्वीप की ओर भेजा दिया।'

भागवत की इस कथा से स्पष्ट होता है कि कृष्ण भक्त कवियों ने कालिय को परम्परा अनुसार एक विप्रेका साथ समझकर कृष्ण द्वारा उसके मर्दन की कथा कही है पर वस्तुतः कालिय कोई साँप न होकर नाग-संस्कृति का नेत्र है और कृष्ण द्वारा उसका मर्दन तथा समुद्र में जाने के लिए उसे विषय करना नाग-संस्कृति पर यादों की विषय का प्रतीक है। हमने पहले कहा है कि पुराणों के रचना-काल में कई ऐतिहासिक बदलाएँ पौराणिक कथाओं से बुल-मिल गई हैं। हमारी इस चारणा का समर्थन इस बात से भी होता है कि आपर बुध में नाम बाँटि विद्यमान थी। नागों के कई उल्लेख महाभारत में मिलते हैं। उदाहरणार्थ वैष्णवी के पासक करणम-नीध मण्ड से नागों का युद्ध हुआ था। दूसरी बार उन्होंने एक शिला जीतकर अपने बीमन की वृद्धि की थी। हस्तिनापुर में बाक्रमण करके परीक्षित द्वितीय को मार डाला था। धिधुनाय मयब के पासक थे। वे सुकर और बहुल्य थे तथा कस्मय कूडल पहनते थे। उनके राजा वामुकी और देव प्रमिद्ध थे।^१ लार्से ने उत्तर-पश्चिम भारत से मयय ठर भाषी से युद्ध किया था। उन्होंने पुबुतुरा से प्रार्थना की थी कि वह उन्हें १५५ बगवनों से बचावे जिन्होंने उन्हें उत्तर-पश्चिम भारत में पठा दिया था।^२ नाम

१. रामायण, दशम स्कन्ध अध्याय १६।

२. अमर उचित १० ६३।

परी।

भोवबती ये सिन्धु, सिन्धु से मध्य प्रदेश और फिर वहाँ से दक्षिण की ओर गये थे। कुम्भी के पिता सूरसेन का भावा सुमुख नामक नाम का पितामह तथा भिकुर नामक नाम का पिता था।^१ इन्द्र के चारबी माताकि ने अपनी पुत्री मुक्केशी के लिए सुमुख नाम को चुना था। महाभारत में नारद ने सुमुख का परिचय यह कहकर दिया है कि वह ऐरावत नाम के कुल में उत्पन्न हुआ है। उसका नाम सुमुख है, पिता का नाम भिकुर और पितामह का नामक तथा माना का नाम वामन है। कुछ दिन पहले बिगता के पुत्र गङ्ग ने भिकुर को मार डाला था।^२ समस्त नाग बंध के बासी थे।^३ नामकोक का केन्द्र पाताल था। वहाँ बहू बहुत था।^४ अर्जुन के पुत्र बभ्रुबाहन की माता नागकन्या ही थी। नागबन्ध का उल्लेख करते हुए राम चौधरी लिखते हैं कि यमपति नाम नागसेन और मन्दी नाग-राजपुत्र हैं। यमपति तो स्पष्ट ही मायराज थे। मथुरा में पाई हुई मुद्राओं से भी इसका समर्थन होता है।^५ वे माने करते हैं कि मङ्ग मुत्त राजाओं का राज-विह्वल था जिन्होंने नागों का दमन किया था। मुत्त बन्ध के राजाओं के आराध्य-देव कृष्ण थे और पुराणों में कृष्ण द्वारा कालिय नाग का मस्तक कुचलने की कथा है।^६ ज्ञान देने की बात है कि पुराणों में ईसा-पूर्व चौबी सताब्दी में यमुना के मैदान में और मध्य प्रदेश में नागों के राज्य का उल्लेख है। विष्णु-पुराण से पता चलता है कि पद्मावती और मथुरा में नाम-बन्ध का राज्य था।^७ कबाचित् विरिचा में भी नागों के ही किसी बन्ध का राज्य था।^८ वैदिक साहित्य में कालिय का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता यद्यपि नागों के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। वैदिक साहित्य के ये उल्लेख नाग जाति के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अधिक सुनिश्चित होगा कि कृष्ण ने यमुना में रहने वाले किसी सर्प को न मारकर यमुना के मैदान के अविपति कालिय नामक किसी नाग साम्राज्य को पराजित करके वहाँ से भगा दिया था। काळास्तर में यह ऐतिहासिक घटना सूत्र रूप से कालिय-मर्दन कीला में परिवर्तित हो गई, जिसका वर्णन हिन्दी और मराठी कवियों ने कीला के रूप में किया है।

(ई) वैष्णव धर्म और दक्षिण

महाभारत से पूर्व वैदिक साहित्य में 'सम्प्रदाय' का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत में भी केवल पाँच सम्प्रदायों की जर्ना की गई है—सांख्य, योग, वाचराज, वैद और पाशुपत। वाचराज मत वैष्णव मन्त्रि मन्त्र का प्रतिपादक था और पाशुपत योग मन्त्रि का,^९ तथापि ये 'सम्प्रदाय' की

१ शिवपुराण ५० १८२, १८०३, १८०४।

२ महाभारत, उपोद्घात अष्टमस्क १ १।

३ पण्डित नारदोत्तरी ५० ११।

४ वही।

५ ऐतिहासिक विह्वल ऑफ़ कलोट शिवदा, डॉ० राम चौधरी ५ १११-११२।

६ वही ५ १११।

७ वही, ५ १११।

८ वही पत्र, पण्डितोत्तरी, ५० ४६।

९ विष्णु, उपोद्घात योग, ५० १११।

सम्प्रदाय अपेक्षा 'मत' के ही रूप में विद्यमान थे।

वीराणिक युग से पूर्व मूल वैदिक धर्म मारायणीय भागवत पौराण्य भावि विभिन्न रूपों में निरूपित हो चुका था। इन निरूपणों में अतिम उत्पन्न-विषयक एकता होते हुए भी उपासना-मदति और उत्पन्न निरूपण में कतिपय भेद होने के कारण बीच-मध्य जैसे अनार्य और बौद्ध जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्मों के विरोध के लिए आवश्यक था कि वैदिक धर्म सुसंगठित रूप धारण करता। यह सम्भवतः वह काळ था जब वैदिक धर्म दो प्रमुख धर्मों में बँट चुका था। एक था ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड जिसके उपास्य देवता 'यज्ञोदेव' विष्णु^१ थे तथा जिसके अन्तर्गत ब्रह्म में हिंसा को प्रथम भिन्न हुआ था और दूसरा था वासुदेव द्वारा बनाया हुआ प्राचीन ब्रह्महत्या अथवा क्षत्रिय उपासना-धर्म जो भागवत-धर्म के नाम से प्रसिद्ध था तथा जिसमें हिंसा वर्म समझी जाती थी। आर्येतर धर्मों के प्रचार की प्रतिधिया-स्वरूप आवश्यक था कि ये दोनों मुख्य वैदिक विचारधाराएँ एकसूत्र होकर व्यापक रूप धारण करतीं। यह प्रयत्न महाभारत के नारायणीय उपास्यत्व की रूपरेखा में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है। महाभारत के अन्तिम-धर्म के नारायणीय उपास्यत्व में इस धर्म को जो भागवत-धर्म का ही पर्यायवाची माना जाना गया था वैष्णव यज्ञ कहा गया है तथा प्रधान वैदिक कर्मकाण्ड के प्रवृत्ति-मान के विपरीत इसे निरुक्ति-धर्म कहकर इन दोनों प्रमुख विचारधाराओं का पठनभवन सम्मिलन किया गया है। इस अन्ते का अनुपेक्षन करने के लिए ही वासुदेव को वैदिक देवता विष्णु से अभिन्न माना गया^२ तथा विष्णु परमेश्वर पर पर अभिष्टित हुए। इस समन्वय के फलस्वरूप पारस्परिक आदान प्रदान में बनायास ही ऐसे सभी उत्कासीन लोक-विस्वासों का समावेश हुआ जो किसी-न-किसी रूप में वैदिक धरातल पर अवलम्बित थे। पहले कहा गया है कि लौकिक विस्वासों के इस समावेश में ही विष्णु के दयावतार के बीच अन्तर्निहित है। इस प्रकार वीराणिक युग में आकर प्राचीन वैदिक धर्म ने सुसम्बद्ध होकर एक नया रूप धारण किया जिसके अभिव्यक्ति विष्णु माने जाने लगे। विष्णु के एकनाम आराध्य तथा सर्वश्रेष्ठ वैदिक देवता निर्धारित होते ही विष्णु-परागामी आचार-धर्म ने सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया और वह वैष्णव-धर्म बनना सम्प्रदाय कहलाने लगा। आगे चलकर इसी मूल सम्प्रदाय अथवा धर्म से समझी अनेक शाखा-उपशाखाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

सम्प्रदाय के रूप में वैष्णव-धर्म के प्रादुर्भाव के समय भारत में शिव-शक्ति-उपासना व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। यह धर्म भारत की प्राचीन वास्तव जातियों का धर्म था^३ और वास्तव में वे आर्यों के शत्रु। अतः स्वाभाविक था कि आर्य उनके शिव-मत का श्रेष्ठतम धर्म को अपना लें अथवा हीन समझकर उसका प्रतिकार करें।^४ द्वारा विरोध वैदिक धर्म आरम्भ से ही यज्ञ-मन्त्र धर्म था। उसकी वास्तव ईश्वर, अग्नि पूर्व उपास्य अनेक देवताओं पर भी तथा उसमें वासुदेव एवं शिव को विशेष महत्त्व मिला हुआ था। इसके विपरीत वास्तवों के शिव-शक्ति-धर्म में शिव आत्मा और मुख्यतः नामक विद्वेष्टों की स्थापना थी और अन्तिम से युक्त केवल शिव

१ हिन्दी साहित्य कोश, २, २६७।

२ इतिहास पौंड्र इतिहास, डॉ. ए० पी० कल्याणकर, १०, २६।

३ इतिहास विज्ञान, डॉ. ए० पी० कल्याणकर, १०, २६२।

को ही परमेश्वर माना जाता था जिसकी उपासना में बड़े बुझुप्सा-विधियों का प्रचलन था।^१ भिन्न-ही ऐसी ही कल्पना सुमेर की प्राचीन माग्यताओं में मिलती है तथा शिव-शक्ति की प्राचीनता को सिद्ध करती है।^२ प्राचीन शैव-धर्म के अन्तर्गत सिंगोपासना का अत्यधिक प्रचलन वह मुख्य कारण था जिसे कार्य-आरम्भ में स्वीकार नहीं कर सके। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि शिवशक्ति का रूप में शिव की अनन्तेश्वर की ही उपासना होती थी। इसीलिए शिव को अद्वितीय और अन्य वैदिक देवताओं से अलग माना गया था।^३ यद्यपि अनन्तेश्वरों का प्राचीन समय संसार में काफ़ी प्रचार था^४ फिर भी कार्य के लिए यह उपासना अप्राप्त थी। ऐसी दशा में विरोध स्वाभाविक था तथा वह सर्वप्रथम आग्नेय में अभिलक्षित होता है।^५ तथापि सिंगोपासना संसार में अधिक व्यापक और प्राचीन होने के कारण कार्य उसका सर्वथा समन करने में असमर्थ रहे। इसी ही नहीं कार्य-देवताओं में स्वयं का भी सर्वता के ही देवता से तथा उनके कर्मकाण्ड में उर्वरता-सम्बन्धी अपनी विधियाँ थीं। अतः सिंगोपासना का विरोध करते हुए भी कार्य उससे अछूते न रह सके तथा किञ्चित् परिवर्तित रूप में ही क्यों न हो, उन्हें उसे स्वीकार करना पड़ा। यह स्वीकृति सर्वप्रथम वैदिक 'रुद्र' और प्राचीन शिव के एकीकरण में दृष्टिगोचर होती है। वैदिक देवता का वस्तुतः संज्ञावाचक के प्रतीक थे। मैकडोनल्ड ने का को संज्ञावाचक के विनाशकारी विधुत् के विध्वंसक स्वस्व का प्रतीक माना है।^६ आम्बार्कर भी का को प्रकृति की विध्वंसक शक्ति का ही प्रतीक मानते हैं^७ और यही मत कीप का भी रहा है।^८ इस प्रकार का अन्य कार्य-देवताओं की भाँति एक प्राकृतिक तत्त्व के प्रतीक होने के कारण पूर्ण रूप से कार्य-देवता माने गए हैं तथा वे प्रकृति की अवावह शक्ति का रूप में ही आग्नेय के तीनों पूर्ण ध्रुवों में प्रस्तुत किये गए हैं।^९ तथापि का की कल्पना में प्राचीन शिव की छाप स्पष्ट दृष्टगोचर है तथा कार्य-देवताओं में का का समावेश आर्यों के प्राचीन शिव की कल्पना के समानान्तर प्रतीत होती है। यही कारण है कि संज्ञावाचक के कार्य-देवता पञ्चम्य ध्रुव के देवता अथवा और बजायारी इन्द्र के होते हुए भी कार्य को का की कल्पना करनी पड़ी। अतः इस कल्पना में प्राचीन शैव-धर्म का प्रभाव एवं विरोध स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है और यही कारण है कि काकान्तर में का और शिव का पूर्वस्व से अनेक स्थापित हो गया। आग्नेय-ध्रुव से बाज तक शिव और विष्णु को लेकर मतभेद की परम्परा भी इसी तात्त्विक भेद पर आधारित है। निगूढ़ अतीत में प्रचलित इस भेद के कारण ही उसका निराकरण भारतीय साहित्य में एक समय से अभिलक्षित होता है। इस निराकरण की पर्याप्तता पर्याप्तिक मुन में हुई है तथापि शैव मत में आगेतर उपासना

१ रिचर्ड्स और इन्डिया, डॉ० ए० की० करमरर १११।

२ शर्मा, १०११।

३ शैव मत, डॉ० बुझुप्सा, १०११।

४ विष्णुत, रामदास गौड़ १०११-११२।

५ का ७ १०४ १२।

६ वैदिक आग्नेयधर्म शैवधर्म, १०११।

७ शैवधर्म शैवधर्म आग्नेयधर्म, १०११।

८ रिचर्ड्स और रामदास गौड़ डॉ० काकान्तर कीप, ११११।

९ आग्नेय, ११११ १११ १११ १११।

पद्धति की परम्परा प्रमाणित करती है कि सैन्य धर्म में कुछ ऐसे तत्व थे जो इस प्रयत्न के समक्ष भी निजी अस्तित्व बनाए रहे तथा कार्य उन्हें स्वीकार नहीं कर सके। वैष्णव और सैन्यों ने पारस्परिक विरोध का मही रहस्य है। पुराणों में सैन्य-मत का व्यापक रूप में वर्णन है पर सम्प्रदाय के रूप में उसका वर्णन नहीं मिलता। 'शिव-पुराण' और 'स्कन्द-पुराण' में भी सैन्य-सम्प्रदायों का कहीं उल्लेख नहीं है। यही बात 'सिन्धु-पुराण' में भी अभिलिखित होती है। उसमें सिन्धु नारायण और पूजा की मद्धता होते हुए भी सम्प्रदायों का वर्णन नहीं है। अनुमानतः पुराणों के रचना-काल तक सैन्य-सम्प्रदायों की स्थापना नहीं हो पाई थी तथा शिवोपासक केवल सिन्धु ही नारायण किता करते थे।^१ महाभारत में माहेस्वरों के चार मत बतलाये गए हैं—सैन्य पाशुपत वासुदेवन और कापातिक। इनमें से कुछ वैदिक हैं और कुछ अवैदिक। इनमें से काकदमन और कापातिक वाममार्गी हैं तथा उनकी साधना में कई शीतल तत्व समाविष्ट हैं। पौराणिक का विकास हो जाने के पश्चात् तथा शंकराचार्य के अद्वैतवाद से प्रभावित होकर नवी सताब्दी में कश्मीर सैन्य मत का आविर्भाव हुआ तथा शिव रूप को प्रभाव मिलाकर सत्यं शिवं सुन्दरम् का धर्मव्यवस्थापित हुआ। कश्मीर सैन्य मत अद्वैतवाद ही है। अतएव केवल इतना ही है कि अद्वैतवाद के ज्ञान में कृतत्व का सर्वथा समावेश है पर कश्मीर सैन्य मत के परमेश्वर में वर्तमान माना गया है। इसी प्रकार अद्वैतवाद कोच ज्ञान मार्ग है जबकि कश्मीर सैन्य मत में ज्ञान और शक्ति का समन्वय है। कश्मीर सैन्य मत विवर्तवाद और परिवर्तनवाद को नहीं मानता अपितु स्वातन्त्र्यवाद या आभासवाद को मानता है।^२ अतः कश्मीर सैन्य मत पाशुपत सैन्य-सिद्धान्त और वीर-सैन्य-मत की अपेक्षा वैष्णव धर्म के अधिक निकट है तथा शिव और विष्णु के एकीकरण की एक निश्चित अवस्था को प्रमाणित करता है।

अतः हम देखते हैं कि प्राचीन जनार्ण शिव और वैदिक-विष्णु का समन्वय कमजोर अवस्थाओं में सम्पन्न हुआ है—आमों की श्रम-विषयक कल्पना तथा उसमें सिन्धुपासना का समावेश श्रम और शिव का एकीकरण तथा शिव में कल्याणकारी गुणों की स्थापना और पौराणिक काल में समान बरातक पर ज्ञान विष्णु और महेश को केन्द्र विमूर्ति की कल्पना। इस प्रकार जनार्ण और आर्यों के देवताओं को केन्द्र को विरोध अन्तर्गत से भी पहले से बल रहा था, पौराणिक काल में जाकर एक सौम्य रूप नारायण कर देता है तथा यही सौम्यता सहिष्णु रूप धारण करके हरिहर की कल्पना में प्रतिष्ठित होती है।

हरिहर मूर्ति विष्णु और शिव के एकत्व का प्रतीक है। इस कल्पना का आविर्भाव भी पौराणिक-युग में हुआ। शाङ्खायन-ग्रन्थों अथवा वेदों में 'हरिहर' का कहीं भी उल्लेख नहीं है तथापि उसका नामास महाभारत और पुराणों में होता है जहाँ ज्ञान विष्णु, सूर्य आदि कार्य-देवताओं के नामों का प्रयोग शिव के लिए हुआ है,^३ तथा शिव को विष्णु रूप माना गया है।^४ पुराणों

१ विष्णुस, उपपत्त टीका, पृ. ६६ ।

२ विष्णु टीका, पृ. ६, ७, ८ ।

३ विष्णुस टीका टीका टीका टीका, पृ. ६६ ।

४ महाभारत, टीका टीका, पृ. ६६ ।

में बलिष्ठ हरिहर-विषयक सभी कथाएँ विष्णु और शिव के एकीकरण की ओर हैं तथा इस कल्पना का मुख्य स्रोत है।

हरिहर का सर्वप्रथम उल्लेख 'हरिवंश' में मिलता है।^१ 'स्कन्द-पुराण' में कहा गया है कि हर और गौरी का विवाह होते ही हरि और हर में मुख विभक्त जाता है। ब्रह्मा बीच-बचाव करते हैं तथा दोनों को एकरूप होकर 'हरिहर' के रूप में विस्माय होने के लिए कहते हैं। इसीलिए रेवतक पर्वत पर दोनों की स्थापना हुई है।^२ 'सिंह-पुराण' के विष्णु के स्त्री रूप पारण करके एकरूप हो जाने की कथा है।^३ 'नारदीय-पुराण' में विष्णु के स्थान पर कृष्ण और शिव 'हरिहर' का रूप धारण करते हैं। यहीं शिव के पंथ और कृष्ण के केवल धार मुख बताए गए हैं।^४ आगे चलकर कहा गया है कि 'हरिहर पूज' नामक पूज की उत्पत्ति शिव और विष्णु से हुई है। शिव के अघनार या अघ्यप्यम देवता की उत्पत्ति भी इसी प्रकार शिव और विष्णु से मानी जाती है।^५ कहा है कि अमृतमंथन के समय विष्णु के मोहिनी रूप धारण करते ही शिव कामासक्त होकर उनके पीछे भागने लगे तथा मोहिनी और शिव से जो पुत्र हुआ वही अघनार या अघ्यप्यम कहलाया। इसी कथा से शिवजी के ज्योतिर्लिंग का भी उद्भव माना गया है। कहा जाता है कि विष्णु के मोहिनी रूप को देखकर जब शिव उस पर आसक्त हुए, तब मोहिनी दूर-दूर भागने लगी और कामासक्त होकर उसका पीछा करने लगे शिव का देह बहा-बहा स्तब्धित हुआ वहीं ज्योतिर्लिंग का निर्माण हुआ।^६ अवश्य ही यह कथा विष्णु से सम्बन्ध हो जाने के बाद शिवोपासना के व्यापक प्रचार की ओर इंगित करती है।

पहले कहा गया है कि शिव और विष्णु का ऐश्वर्य व्यावहारिक क्षेत्र में पीराजित काक में सम्मिलित हुआ है तथा यह स्पष्ट रूप से दो संस्कृतियों के दार्शनिक मिश्रण का प्रतीक है। उपर्युक्त कथाओं में यही ऐतिहासिक सत्य ध्वनित होता है। ध्यान देने की बात यह है कि हरिहर की कल्पना जितनी दक्षिण भारत में प्रचलित हुई उतनी उत्तरी-भारत में नहीं। सत्य तो यह है कि प्रारम्भिक काक में उसका आधिपत्य दक्षिण ही में हुआ। कारण यह है कि विष्णु और शिव के इस ऐश्वर्य के समय दक्षिण भारत में ब्रह्म और आर्य दो विभिन्न सम्प्रदायें विद्यमान थीं तथा उनके निरन्तर सम्पर्क से ही सम्भव के तौर पर हरिहर की कल्पना उद्भूत हुई। हरिहर की उत्पत्ति-विषयक पीराजित कल्पनाएँ वस्तुतः ईशोत्पत्ति की ओर निर्देश करती हैं तथा इस प्रकार छादस्त की उत्पत्ति-विषयक कल्पना के समानांतर हैं। अवश्य ही वे तत्कालीन आचार-विचारों की विषयताओं में सामंजस्य स्थापित करके एक नवीन विचारधारा को प्रवाहित करती हैं। वस्तुतः 'हरिहर' का प्राधुर्भाव शैव और वैष्णव मत के सामंजस्य से होने के कारण ही पुराणों में मोहिनी और शिव के सनातन की कल्पना करके इस सत्य की लौकिक स्वरूप रूप का प्रकाश कर दिया। वैष्णवों और शैवों की

१ हरिवंश-पुराण २. ११२।

२ स्कन्द-पुराण, ७-२. ११२।

३ सिंह-पुराण पूर्वर्ण, अध्याय २९।

४ नारदीय महापुराण अध्याय ८६।

५ समित (सास्कन्दोपनिषद्, कात्यायन कर्त्तव्यम, दूसरा खण्ड ५०. १११।

६ शिवलिंगोपासना, डॉ० ए० कृ० कपटे, पृ० ६५।

पारमिक कटुता का विरोध मराठी संतों की भाषी में प्रमुखता से दृष्टिगोचर होता है। ज्ञानेश्वर के कृष्ण छंदर की स्तुति को आत्म-स्तुति कहते हैं।^१ एकनाथ में भी शिव को राम का परम मकर दिखाया है।^२ तथा इसी भावना को आगे बढ़कर गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी पुनीत भाषी में व्यक्त किया है।

विष्णु और शिव का यह ऐक्य बचवा हरिहर की पौराणिक कल्पना
त्रिदंष्ट्रि साये बखकर तिसूति की कल्पना में प्रतिफलित हुई जिससे ई० स० की
बीसहवीं सताब्दी में महाराष्ट्र में 'वत्सामेय सम्प्रदाय' का उदय हुआ।

त्रिसूति की कल्पना की पार्श्वभूमि ज्ञानेश्वर में देखी जा सकती है जहाँ अग्नि का आकाश में सूर्य बान्धों में विद्युत् तथा पृथ्वी पर अग्नि आदि तीन कर्णों में दृष्टेज है।^३ 'मैत्रेयसी छंदिता' में अग्नि बायु और सूर्य को एक ही प्रजापति के पुत्र कहा गया है। 'मैत्रेयसी उपनिषद्' ने ब्रह्मा विष्णु और शिव को परमेश्वर का ही त्रय रूप कहा है तथा वहीं उन्हें राजस तमस और सात्विक गुणों का प्रतीक भी माना गया है।^४ ऐसी कई कल्पनाएँ उपनिषदों में उपलब्ध हैं। त्रिसूति की ऐसी ही कल्पना बायों से पहले यहाँ की प्राचीन आत्म या शक्तिवादिताओं में विद्यमान थी।^५ देवता त्रयी-त्रिवेद बचवा त्रिसूति की कल्पना अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी पौराणिक युग में ही जहाँ एक निश्चित स्वरूप धारण करती हुई दिखाई देती है और यह त्रय-धारण वत्सामेय में ब्रह्मा विष्णु और शिव के समन्वय से सम्पन्न होता है। इस समन्वयकारी दृष्टि का कारण ही वत्सामेय के तीन मुख और छ. हाथ दिखाए जाते हैं, यद्यपि नैपाल आदि देशों में वत्सामेय एकमुखी ही है।^६ तथा महाराष्ट्र में भी एकमुखी और त्रिसूत्री—दोनों प्रकार की मूर्तियों की उपासना का विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलन है। त्रिसूत्री वत्सामेय की कल्पना मुख्यतः मध्ययुग में उद्भूत कथा पर आधारित है।^७ तथा इसी की पुष्टि 'मुकुन्दरिज छिमी होती है।^८ पर अन्य पुराणों में यह कथा न होकर ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर के बंधों से अग्नि त्रिदंष्ट्र के यहाँ ब्रह्म-रूप धोम विष्णु रूप वत्सामेय तथा शिवरूप बुर्बादा आदि तीन बाण्डों की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।^९

छांदोग्योपनिषद् में 'वत्सामेय' शब्द की तुल्य व्याख्या हुई है।^{१०} 'विष्णु-पुराण' वत्सामेय की विष्णु का मकदार मानता है।^{११} और 'बामु-पुराण' धोम तथा बुर्बादा की वत्सामेय के

१ ज्ञानेश्वरी १२ अ ४१६ १।

२ एकनाथ भाषा भाषा १ २२ २०।

३ ई० स० ई १२वाँ शताब्दी, पृ ४२०।

४ मैत्रेयसी छंदिता ४।११।२।

५ मैत्रेयसी उपनिषद् ४।१,२।

६ त्रिदंष्ट्रि आदि छंदिता, डॉ० ज्ञानेश्वर, पृ० ६२।

७ मुख्यतः त्रिदंष्ट्रि, अष्टम प्रकरण, तीसरा अध्याय, पृ० ११४४।

८ मध्ययुग में पृ० ४२४ ४ अ १०।

९ उपनिषद् ४।१०।

१० प्राचीन त्रिवेद कोष २ २२२।

११ छांदोग्योपनिषद्, अध्याय २।

१२ विष्णु-पुराण ४।१।१४।

कन्तु ।^१ 'भाष्य-पुराण' में उन्हें विष्णु का एकमुखी अंश माना गया है ।^२ महाभारत में दत्तात्रेय की जन्म-कथा का सर्वथा अभाव है । अतः हम देखते हैं कि दत्तात्रेय के त्रिमूर्ति-रूप के विषय में पुराण सहमत नहीं हैं । पर उनके मुखों के बारे में सभी एकमत हैं । कण्वम सभी पुराणों में उन्हें समायोजित तथा ब्रह्मज्ञानी कहा गया है तथा अपने शिष्यों को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए दिखाया गया है ।^३ इसी प्रकार उन्हें संन्यास-मार्ग का प्रचारक माना गया है ।^४ 'मार्कण्डेय-पुराण' में दत्तात्रेय द्वारा मांस भक्षण, मदिरा-पान तथा स्त्रियों के साथ विलास आदि का भी उल्लेख है जो निश्चित रूप से वैष्णव-धर्म की कल्पनाओं का विरोधी नहीं है ।^५ पुराणकर्ताओं के इस मत-मथान्तर से स्पष्ट विदित होता है कि दत्तात्रेय में विष्णु का आरोपण तथा भिन्नोक्त का समन्वय काशी परवर्ती कल्पना है । ब्रह्मा विष्णु और शिव को लेकर बहते हुए वैष्णव को निश्चय करके हिन्दू धर्म को व्यापक स्वरूप प्रदान करने के लिए ही त्रिमूर्ति की कल्पना की गई ।

त्रिमूर्ति अथवा दत्तात्रेय में ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर के समन्वय से ई० सन् की चौदहवीं सताब्दी में महाराष्ट्र में दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ, जिसके मुख्य प्रवर्तक पृथ्वी सरस्वती थे, जो दत्तात्रेय का अवतार भी माने जाते हैं ।^६ इस सम्प्रदाय का पूज्य ग्रन्थ 'गुरु-चरित' है जिसमें आचार-धर्म-विषयक उपदेश के साथ-साथ छायादाय महिमा मत्स्य, पञ्चाक्ष तथा काशी की महत्ता का भी विचार वर्णन है । दत्तात्रेय-सम्प्रदाय की विशेषता है शिव और विष्णु की उपासना की एककृतता ।^७ इसी प्रकार इस सम्प्रदाय में जगदम्बा, यक्षेश्वर आदि का समावेश करके उन्हें भी परमेश्वर का रूप माना गया है तथा उसका अत्यन्त ज्ञान से भी नहीं विरोध नहीं है ।

उपलब्ध प्रमाणों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि शैव और वैष्णव मतों के पारस्परिक विरोध के निराकरण के हेतु तथा इन दोनों का समन्वय करके हिन्दू धर्म को व्यापक रूप प्रदान करने के लिए ही दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का उद्भव हुआ । इस समन्वयकारी दृष्टि कोष के कारण दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का प्रचार जिसका महाराष्ट्र में हुआ है, उतना न तो उत्तर भारत में और न दक्षिण भारत में । कारण यह है कि महाराष्ट्र दो विभिन्न सम्प्रदायों की सीमा पर होने के कारण उनके आचार-विचारों एवं धार्मिक मान्यताओं से बराबर प्रभावित होता रहा तथा दत्तात्रेय सम्प्रदाय के रूप में वे दो विरोधी धर्म पापार्थ्य एकत्र होकर वैदिक धर्म को व्यापक और संहिष्णु रूप प्रदान करने में सफल हुई ।

मन्त्र की उत्पत्ति भव्य पातु है हुई है, जिसका धर्म है यजुषा और वेद है दो तत्त्वों

१ मनु-पुराण १।१।१५-१६ ।

२ मत्स्य, ५।१।१५ ।

३ मार्कण्डेय-पुराण ५० ११६ ।

४ कण्वम मत्स्य कोष, प्रस्ताव प्रकरण संस्कार पत्र ५० ११५४ ।

५ वही ।

६ मत्स्य ५०-५१ तथा इतिहास, अंगरत्न, उत्तरा सं०, ५० ११३ ।

७ महाभारत ५।११, श्री गुरु अरण्य करोमी ।

मग आया श्री श्री श्री, महा विष्णु महेश्वर ॥११३॥—'गुरुचरित'

अर्थात्, महा संहार में ब्रह्म कर शिव का स्वरूप करके महा विष्णु और महेश्वर का आनन्द करमा चरित ।

का तारात्म्य अथवा बीज और ब्रह्म की सामयिक तद्रूपता। अतः भक्तियोग का लक्ष्य है बीज की परमेश्वर के साथ एकता की वह मानसिक अवस्था जो निरन्तर ब्रह्म भक्ति-योग भजन से प्राप्त होती है। सांख्य-सूत्र में 'सा पुरागुरीश्वरीश्वरे' को भक्ति का लक्षण माना गया है।^१ पर रक्ति या प्रेम भक्त अथवा तारात्म्य के रूप-गुणों के ज्ञान के बाद का मनोभाव है।^२ अतः भक्ति-साधना में परमेश्वर के रूप की कल्पना तथा उससे निष्काम प्रेम का समावेश अनिवार्य है। भावना की दृष्टि से भक्ति की सीमांका नारद ध्रुव में हुई है। यही परमेश्वर के विषय में परम प्रेम को ही भक्ति कहा गया है।^३ तथा भक्ति को कर्म और ज्ञान से ब्रेष्ठ बताया है।^४ कहा गया है कि भक्ति के क्षेत्र में बाटि बिना किया हत्यादि द्वारा निर्मित भेद छोप हो जाते हैं।^५ सांख्य ने भक्ति को ही सर्वस्व माना है। उनका सिद्धान्त है कि बीजों को भासमान होने वाला प्रपञ्च अविद्याजन्य है तथा वह अमक्तिमूलक है। अग्न्य भक्ति से ही बीज-ब्रह्म का अनुसृति होती है। भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच छोट-बड़े सबको समान अधिकार है।^६ मागवत ने भी भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है।^७ अतः वैष्णव सम्प्रदायी ने साधना पक्ष में इसी उपाय को मार्ग को प्रथम दिया।

कुछ विद्वानों का कहना है कि वैष्णव धर्म में भक्ति का समावेश ईसाई धर्म के कारण हुआ।^८ पर यह मत निरास्य आमक है। ध्रुव-साम्प्रदाय में वर्णित 'अनुराग' में भक्ति का ही पूर्व रूप दृष्टिगोचर होता है।^९ इसका भी पहले ऋग्वेद के वरुण सूक्त तथा उसकी अन्य ऋचाओं में भक्ति का पूर्वाभास स्पष्ट रूप से विद्यमान है। यद्यपि ऋग्वेद में भक्ति शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है तथापि उसमें गीता में उल्लिखित 'अनुविष्ट' शक्तों के लक्षण मिलते हैं।^{१०} इतना ही नहीं, वरुण की प्रार्थना में वास्व-भास्व प्रेम तथा दया की याचना का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है।^{११} भक्ति-भाव से गर्भवत वसिष्ठ कहते हैं मैं स्वयं ही बोक रहा हूँ। वरुण के अन्तरात्म में (हृदय में) कब अविच्छिन्न हूँगा? मेरा हवन क्या वह प्रसन्नचित्त से ग्रहण करेगा? क्या वह उसे स्वीकार होगा? कब भुक्त पर उसकी कृपा होगी? ^{१२} ब्राह्मण काव्य में कर्मकाण्ड की प्रवक्तृता के कारण वैदिक भक्ति-मार्ग कुण्ठित-सा हो गया था। उपनिषद् युग में भी निर्गुण ब्रह्म की अनुसृति के लिए सूर्य आकाश तथा आदि सगुण प्रतीकों की

१ सांख्य सूत्र, छ २।

२ ई० भार ई, दृष्टा छोट ५ ३३३।

३ मय्य भक्ति सूत्र २, १ ३।

४ मय्य भक्ति सूत्र, २३।

५ सांख्य सूत्र ५ २-५, ६-२-४ २-२-२।

६ कर्त्त।

७ भागवत १ १-५, ५ ३-२२।

८ ई० भार ई, दृष्टा छोट, ५० २३६।

९ अग्नि सूत्र २।१।१६, २।१।२५।

१० गीता ७ : ३।

११ मय्यवतः प्रमेय १३५४ डॉ वि० य० भार्गव का अन्वेषणात्मक भक्तिग्रन्थ आत्मक लेख।

१२ अग्नेर १।१ १।१ अ०३।१० ५।३।१६।

१३ अग्नेर, अ०३।१६।

उपासना की गई, पर यह उपासना ज्ञानपरक होती हुई भी भक्ति के रूप में ही विकसित हुई थी।^१ महाभारत की भक्ति प्रकृतिमयी भक्ति थी।^२ वैदिक साहित्य की ही भाँति प्राचीन शास्त्र-धर्म में भी शिवोपासना के रूप में भक्ति का अस्तित्व था।

भक्ति-योग का सर्वप्रथम उल्लेख यीशु में हुआ है।^३ तथा उपासना-पद्धति के रूप में उसका प्रथम नाम बापुदेव सम्प्रदाय में विद्यमान था। अतः भक्ति-मार्ग में बापुदेव भक्ति का प्रथम स्वरूप सिद्ध होता है। इस प्रकार भक्ति किसी पावचात्य धर्म का प्रभाव न होकर वह भारत की प्राचीन परम्परा है। इतना अवश्य है कि ऋग्वेद में उसका नाम-जैसा निरूपण नहीं मिलता। कारण यह है कि ऋग्वेद में प्रसंगानुसार विभिन्न देवताओं की स्तुति हुई है। उस काल की आर्थिक व्यवस्था में सम्प्रदाय की कल्पना दृष्टिगोचर नहीं होती और भक्ति की कल्पना एवं उसके विश्व-निरूपण के लिए सम्प्रदाय तथा उसके एकमात्र देवता की स्थापना अनिवार्य है। यही कारण है कि कुछोत्तर-काल में सम्प्रदाय के रूप में भिन्न-भिन्न देवताओं और विधुतियों की उपासना प्रारम्भ हो जाने के कारण भक्ति का स्वरूप बिस्तृत होने लगा।^४ भक्ति अनिवार्यतः नामरूपात्मक उपासना-पद्धति होने के कारण ही विभिन्न देवताओं में समुच्च दृष्टि की कल्पना का विकास हुआ। भागवत-धर्म में इन दोनों तत्त्वों का संयुक्त विकास अभिव्यक्तित्व होता है।

भगवान् के समुच्च रूप की कल्पना करते ही उस समुच्च आराध्य के विषय में उपासक के हृदय में परम प्रेम के उद्बेग एवं स्थिति के लिए आवश्यक है कि आराध्य अवश्या जीव परमेश्वर के सम्मुख सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करे। भगवान् की इसी अवस्था को शास्त्रकारों ने प्रपत्ति कहा है। प्रपत्ति का अर्थ है भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण। आत्म-समर्पण प्रेम का अनिवार्य अंग है। भगवान् के प्रति भक्त की पूज्य भावना में भक्त, प्रेम, नीति इत्यादि भिन्न-वृत्तियों का संयोग होता है। पर प्रेम को छोड़कर इन सभी भिन्न-वृत्तियों का प्राथमिक स्थान है, क्योंकि प्रेम इन वृत्तियों के परिणाम के रूप में ही उत्पन्न होता है। प्रेम का स्थायी भाव है रति। वैष्णव शास्त्रकारों ने इसके पाँच स्तर करके पाँच ही रस माने हैं—शान्ति प्रीति, सख्य आत्मस्थ और प्रियता या माधुर्य आदि। पाँच स्थायीभावों से शान्ति प्रीति सख्य आत्मस्थ भगुर या उज्ज्वल रस उत्पन्न होते हैं।^५ भगवान् के साथ व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित होते ही वह प्रेम नक्ति कहलाती है। इसीको 'वास्य रस' भी कहते हैं।^६ इसी वास्य भाव की परम अभिव्यक्ति 'विमलपानिका' में हुई है। इसीलिए भगवान् और भक्त के एकनिष्ठ सम्बन्ध के लिए आत्म-समर्पण को शास्त्रकारों ने भक्ति के अन्तर्गत एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व माना है।

वैष्णव साहित्य को प्रपत्ति-सिद्धान्त की दृष्टि यथावत् में दक्षिण के शास्त्रकारों की दृष्टि है। भाठवार साहित्य में निरूपित प्रपत्ति के क्रमसः छ तत्त्व माने गए हैं—अमुकस्यास्य

१ इदिकन पिओसोफो डॉ० रामानुजम्, प्रथम छंद १० १११।

२ हिन्दी साहित्य कोष, पृ० ११४।

३ गीता १५।११।

४ हिन्दी साहित्य कोष, पृ० १११।

५ श्री, ० ११६।

६ भगवत धर्म, इतिहास उपाध्याय, पृ० ११४।

संक्षेप, प्रतिपुष्पास्यवर्णनं रक्षिष्यातीति विश्वासः गोपतृत्ववर्णनं आत्मविशेषः तथा कार्यभारम् ।^१ प्राचीन शास्त्रकारों के मतानुसार जो प्रगति मार्ग का अनुसरण करता है वह उपनुक्त तत्त्वों में से किसी भी एक तत्त्व का पालन कर सकता है क्योंकि प्रगति मार्गानुगामी भक्त कामनाबिहीन होता है। वर्वाचीन मत आत्म भाव के अस्तित्व की सतत अनुभूति के कारण भक्त की मानसिक स्थिति को सर्वथा निष्काम न मानकर उपर्युक्त छहों तत्त्वों के पालन पर धोर देता है। इसी प्रकार प्राचीन मत मुक्ति का कारण प्रगति को न मानकर केवल ब्रह्म को मानता है, जबकि वर्वाचीन मत प्रगति को मुक्ति का द्वितीय कारण स्वीकार करता है क्योंकि प्रगति के ही कारण भगवान् की कृपा का लाभ होता है। प्राचीन मत में पापक्षान्तन के लिए भगवान् की कृपा पर्याप्त है उसके लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं। वर्वाचीन मत भक्त की धार्मिक अवस्थानुसार प्रायश्चित्त को आवश्यक समझता है। प्राचीन मत के अनुसार अष्टविध भक्ति करने वाला भक्त ब्राह्मण से श्रेष्ठ है पर वर्वाचीन मत में वह ब्राह्मण से श्रेष्ठ न होकर केवल आदरणीय है। इसी प्रकार प्राचीन मत आत्मानुभूति को ही ईश्वर मानता है, जबकि वर्वाचीन मत वैकुण्ठ की प्राप्ति को ।^२ प्रगति को लेकर प्राचीन और वर्वाचीन मार्गदर्शकों के कारण ही दक्षिण और उत्तर भारत में भगवान् की कृपा विषमक दो अलग अलग धारणाएँ बच पड़ी जिनका विवेचन आगामी पृष्ठों में किया गया है।

भक्ति और भगवान् के समुक्त रूप का अन्वेषणात्मक सम्बन्ध होने के कारण ही समुत्थोपासना और भक्ति का सुन्दर सम्बन्ध एवं निरूपण सामयिक में हुआ है। वस्तुतः भागवत की यह विशेषता ही यह उद्गम है जिससे भक्ति की मज्जुर बाध प्रभावित हुई तथा दक्षिण के शास्त्रकारों की कष्ट-मज्जुरिमा से मज्जित होकर समस्त भारत में फैल गई।

वैष्णव-धर्म की समुत्थोपासना का यह भक्ति-प्रवाह ईश्वरी सत् की आठवीं कक्षाओं में संकटधर्म के अद्वैतवाद के आविर्भाव से सहसा स्पष्ट हो गया। संकटधर्म ने ब्रह्म को एक अक्षय, अद्वितीय, विविध मेरुस्थित तथा एकमात्र सत्ता के रूप में माना। उनके मतानुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी तत्त्व की सत्ता नहीं है। उनका ब्रह्म निर्वृण मुख चैतन्य है और बगल मिथ्या एवं सामान्य। माया ब्रह्म की ही सक्ति होने के कारण अनिर्वचनीय तुल्य पदार्थ है। सांकर मत के अनुसार जीव ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब मात्र है। ब्रह्म नित्य मुक्त और स्वयं प्रकाश है। बुद्धि कभी उपाधि के मष्ट होते ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो पाता है यही मुक्ति है। मुक्ति का साधन है ज्ञान।

संकराचार्य का अद्वैतवाद समुत्थोपासना के लिए वह बुनोटी थी जिसका उत्तर देना आवश्यक था। रामानुजाचार्य के सिद्धिप्राप्ति में इसी आवश्यकता की पूर्ति हुई। सांकर-मत के ठीक विपरीत रामानुजाचार्य ने तीन पदार्थ माने—चित्, अचित् तथा ईश्वर। परम तत्त्व ईश्वर की ही भाँति चित् और अचित् अथवा जीव और जगत् भी नित्य और स्वतन्त्र हैं

सिद्धिप्राप्ति

१. हिंदी मीठ, हिंदी मित्र, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००, १००१, १००२, १००३, १००४, १००५, १००६, १००७, १००८, १००९, १०१०, १०११, १०१२, १०१३, १०१४, १०१५, १०१६, १०१७, १०१८, १०१९, १०२०, १०२१, १०२२, १०२३, १०२४, १०२५, १०२६, १०२७, १०२८, १०२९, १०३०, १०३१, १०३२, १०३३, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०३९, १०४०, १०४१, १०४२, १०४३, १०४४, १०४५, १०४६, १०४७, १०४८, १०४९, १०५०, १०५१, १०५२, १०५३, १०५४, १०५५, १०५६, १०५७, १०५८, १०५९, १०६०, १०६१, १०६२, १०६३, १०६४, १०६५, १०६६, १०६७, १०६८, १०६९, १०७०, १०७१, १०७२, १०७३, १०७४, १०७५, १०७६, १०७७, १०७८, १०७९, १०८०, १०८१, १०८२, १०८३, १०८४, १०८५, १०८६, १०८७, १०८८, १०८९, १०९०, १०९१, १०९२, १०९३, १०९४, १०९५, १०९६, १०९७, १०९८, १०९९, ११००, ११०१, ११०२, ११०३, ११०४, ११०५, ११०६, ११०७, ११०८, ११०९, १११०, ११११, १११२, १११३, १११४, १११५, १११६, १११७, १११८, १११९, ११२०, ११२१, ११२२, ११२३, ११२४, ११२५, ११२६, ११२७, ११२८, ११२९, ११३०, ११३१, ११३२, ११३३, ११३४, ११३५, ११३६, ११३७, ११३८, ११३९, ११४०, ११४१, ११४२, ११४३, ११४४, ११४५, ११४६, ११४७, ११४८, ११४९, ११५०, ११५१, ११५२, ११५३, ११५४, ११५५, ११५६, ११५७, ११५८, ११५९, ११६०, ११६१, ११६२, ११६३, ११६४, ११६५, ११६६, ११६७, ११६८, ११६९, ११७०, ११७१, ११७२, ११७३, ११७४, ११७५, ११७६, ११७७, ११७८, ११७९, ११८०, ११८१, ११८२, ११८३, ११८४, ११८५, ११८६, ११८७, ११८८, ११८९, ११९०, ११९१, ११९२, ११९३, ११९४, ११९५, ११९६, ११९७, ११९८, ११९९, १२००, १२०१, १२०२, १२०३, १२०४, १२०५, १२०६, १२०७, १२०८, १२०९, १२१०, १२११, १२१२, १२१३, १२१४, १२१५, १२१६, १२१७, १२१८, १२१९, १२२०, १२२१, १२२२, १२२३, १२२४, १२२५, १२२६, १२२७, १२२८, १२२९, १२३०, १२३१, १२३२, १२३३, १२३४, १२३५, १२३६, १२३७, १२३८, १२३९, १२४०, १२४१, १२४२, १२४३, १२४४, १२४५, १२४६, १२४७, १२४८, १२४९, १२५०, १२५१, १२५२, १२५३, १२५४, १२५५, १२५६, १२५७, १२५८, १२५९, १२६०, १२६१, १२६२, १२६३, १२६४, १२६५, १२६६, १२६७, १२६८, १२६९, १२७०, १२७१, १२७२, १२७३, १२७४, १२७५, १२७६, १२७७, १२७८, १२७९, १२८०, १२८१, १२८२, १२८३, १२८४, १२८५, १२८६, १२८७, १२८८, १२८९, १२९०, १२९१, १२९२, १२९३, १२९४, १२९५, १२९६, १२९७, १२९८, १२९९, १३००, १३०१, १३०२, १३०३, १३०४, १३०५, १३०६, १३०७, १३०८, १३०९, १३१०, १३११, १३१२, १३१३, १३१४, १३१५, १३१६, १३१७, १३१८, १३१९, १३२०, १३२१, १३२२, १३२३, १३२४, १३२५, १३२६, १३२७, १३२८, १३२९, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३, १३३४, १३३५, १३३६, १३३७, १३३८, १३३९, १३४०, १३४१, १३४२, १३४३, १३४४, १३४५, १३४६, १३४७, १३४८, १३४९, १३५०, १३५१, १३५२, १३५३, १३५४, १३५५, १३५६, १३५७, १३५८, १३५९, १३६०, १३६१, १३६२, १३६३, १३६४, १३६५, १३६६, १३६७, १३६८, १३६९, १३७०, १३७१, १३७२, १३७३, १३७४, १३७५, १३७६, १३७७, १३

तथापि उनके भीतर ईश्वर अन्तर्यामी रूप में विद्यमान रहने के कारण वे ईश्वर के अधीन रहते हैं। उनका ईश्वर सर्वथा भिन्न ही रहता है। निर्गुण ब्रह्म का अर्थ केवल यही है कि ईश्वर प्राकृत तथा भौतिक गुणों से रहित है। चित् तथा अचित् उसके शरीर हैं पर विरल अचित् बंध से मिल है। रामानुजाचार्य की सृष्टि भगवान् की सीसा है तथा सृष्टि निमित्त सीसा। सृष्टि-निर्माण और उसके सहार में ईश्वर मानस का अनुभव करता है पर सृष्टि को नित्य मानने के कारण उन्होंने ईश्वर को दो प्रकार का माना है—(१) कारणात्म्य ब्रह्म तथा (२) कार्यत्म ब्रह्म। प्रलय-काल में जीव और जगत् के सूक्ष्म रूप में अवस्थित होने के कारण सर्वव्यापी ईश्वर कारण ब्रह्म कहलाता है तथा सृष्टिकाल में सूक्ष्म रूप हो जाने के कारण नहीं कार्य ब्रह्म कहलाता है। यही जीव जगत् और ईश्वर का भेद है। यही सगुण ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए पर ब्रह्म विमल अन्तर्यामी तथा अविनाश आदि पाँच रूप धारण करता है।^१

रामानुजाचार्य ने चित् तथा जीव को वेद-इन्द्रिय-मन प्राण-बुद्धि से विकल्पित चेतने मानन्दरूप नित्य अणु, अव्यक्त अचिन्त्य निरवयव निर्विकार तथा ज्ञानात्मक माना है तथा उसमें क्षेत्र या अधीनत्व नामक एक विशेष गुण को मान्यता दी है। इस गुण-विशेष के कारण ही जीव अपने समस्त कार्य-व्यवहारों के लिए ईश्वर पर आश्रित रहता है इसीलिए वह क्षेत्र है तथा ईश्वर क्षेत्री। जीव को रामानुजाचार्य ने ब्रह्म का ही अंश माना है।

अचित् वस्तु अथवा जगत् के तीन भेद हैं—सुक्ष्म-सत्त्व मिथ-सत्त्व और सत्त्व-सूक्ष्म। तम तथा रज से मिलित मिथ-सत्त्व प्राकृत सृष्टि का उपादान है जो माया अविद्या अमया प्रकृति कहलाता है। सुक्ष्म-सत्त्व अभिहित होने के कारण सुक्ष्म-सत्त्व है अतः वह नित्य ज्ञानात्म्य का अनन्त निरवयव तथा ठीक रूप। इसी सुक्ष्म-सत्त्व से मुक्त पुद्गलों के शरीर तथा स्वर्गादिक स्वर्गों की रचना होती है। इसी सुक्ष्म-सत्त्व से परमेश्वर के ब्रह्मात्मिक रूप बनते हैं। रामानुजाचार्य शरीर के जन्म में आत्मा की स्थिति की स्वीकार नहीं करते तथा मुक्त इच्छा में भी जीवों के शरीर प्राप्त करने को मान्यता देते हैं जो सुक्ष्म-सत्त्व का बना हुआ अप्राकृत शरीर होता है।

इस प्रकार सांकर-मत में निरूपित कोरे ज्ञान-मार्ग का वर्णन करके रामानुजाचार्य ने ब्रह्म जीव और जगत् का स्वतन्त्र रूप से निरूपण करके सगुणोपासना एवं भक्ति की पुनः स्थापना करके परवर्तीकाल में भक्ति-साहित्य की अजस्र धारा को प्रवाहित किया।

पहले कहा गया है कि रामानुजाचार्य ने चित्, अचित् और ईश्वर के तीन पदार्थ माने हैं तथा जीव और जगत् को भी ईश्वर की भाँति ही नित्य और स्वतः स्वतन्त्र बताया है। साथ ही ईश्वर और अचित् अथवा जीव-जगत् का सम्बन्ध उन्होंने आत्मा और शरीर का सम्बन्ध माना है। शरीर वह है जिसे आत्मा नियमित धारण करके कार्य-सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर भी जीव-जगत् को आश्रित करके उनका नियमित करता है तथा धर्म में प्रवृत्त करता है। नियमित होने के नाते ईश्वर प्रधान तथा विधेय है और नियम्य तथा अप्रधान होने के कारण जीव-जगत् विधेय। विधेय की पृथक् सत्ता है पर विधेय उसके साथ सम्बद्ध होने के कारण पृथक् नहीं है। विधेय और

विशेष के इस सम्बन्ध के कारण ही तीन पृथक् तत्व मानते हुए भी रामानुजाचार्य का सिद्धान्त बड़ैठवारी है पर तत्त्व-निरूपण की विशिष्टता के कारण यह विशिष्टाद्वैतवाद है।

रामानुजाचार्य का ईश्वर सन्तुष्ट और सन्निधेय है। यह विशिष्टेय रूप में जगत् का संपादन है। यह सृष्टिकर्ता कर्म-फलदाता नियन्ता तथा सर्वान्तर्यामी है। उसकी शक्ति माया है। यह सर्व शक्ति का संचालक है। श्री भू और जीवा-सहित है तथा क्रिटीटादि भूतों से अलंकृत है। जगत् ब्रह्म का शरीर है। वस्तुतः ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है, फिर भी यह निराकार है। जगत् सत्य है मिथ्या नहीं। जीव भी ब्रह्म का शरीर है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन हैं पर ब्रह्म पूर्ण है और जीव अंश। ब्रह्म स्वामी है जीव दास। मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर का दास है। रामानुजाचार्य के मतानुसार भगवान् के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है उपासनात्मक भक्ति। भक्ति और ध्यान से प्रसन्न होने पर ही भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। भक्ति में प्रपत्ति का विशेष स्थान है। प्रपत्ति है भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण जिसका स्वयं निम्नलिखित श्लोक में अंकित हुआ है—

पितरस् मातरस् वारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् पुष्पम् ।

रत्नानि जगत्स्यानि शोभासि च पृथासि च ॥

सर्ववर्माश्च सन्त्यज्य सर्व कामांश्च साधरान् ।

लोक भिक्षात्तत्परयो हरस्य तेऽन्नञ्च विभो ॥^१

रामानुजाचार्य ने विष्णु के दशावतार को मायता भी है तथा अवतार का प्रयोजन माना है दुष्कृत्यों का विनाश और साधुओं का परिचाय। उनके मतानुसार ईश्वर जीव के संघित पापों का नाश करता है पर जीव अपने वर्तमान जन्म में उत्तर और दक्षिण सदाचारों के अन्धे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इसीलिए प्रपत्ति श्रेय है।^२ इस प्रकार वही एक और उन्हें ही सम्पूर्ण आत्म-समर्पण पर और दिया है वही दूसरी ओर मुक्ति के लिए सदाचार और धर्मों की आवश्यकता को भी महत्त्व दिया है। रामानुजाचार्य द्वारा निरूपित कर्म की इस महत्ता तथा आत्म-समर्पण की आवश्यकता के परस्पर भेद के कारण ही विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत दो विभिन्न शाखाओं का आविर्भाव हुआ जो उत्तरी और दक्षिणी शाखाएँ कह जाई।^३ उत्तरी शाखा के अनुसार ईश्वर की कृपा प्रयत्न करने से ही प्राप्त हो सकती है। इस शाखा के अनुसार मुक्तावस्था स्वर-रहित होती है। कर्म-ज्ञान भक्ति का ही साधन न होकर केवल भक्ति का पुरस्कृत तत्व है। मोक्ष भक्ति से ही प्राप्त होता है। श्री में उनकी भावना स्वयं-व्यापित के रूप में है तथा यह मोक्ष प्रदान करने में पूर्वकल्पेय समर्पण है। उत्तरी शाखा के मतानुसार जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम अन्धा होता है यह जीव के दोषों की ओर नहीं देखता। प्रपत्ति का उद्देश्य भक्ति की ही भाँति जीव द्वारा प्रयत्न करने पर होता है तथा मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में से यह एक साधन है।

उत्तरी शाखा के ठीक विपरीत दक्षिणी शाखा ईश्वर की कृपा को अप्रयत्नज मानती

१. तिरुव मे उल्ल ५ ३२५ ।

२. तिरु कम्पयान योडि कीटी, अरन् कुमरणा ५ ३२ ।

३. वे पार० २० अ० १६२ ५० ३२ ३ ।

है। उसका विश्वास है कि भुक्तानस्या में स्तर भेद विद्यमान रहते हैं पर ये भेद मुक्त जीव को प्रवृत्त विभिन्न कर्तव्यों के ही कारण रहते हैं। दक्षिणी शास्त्रा ने अनुयायी कर्म, ज्ञान और भक्ति में से किसी एक को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं क्योंकि इन तीनों का सम्बन्ध मानसिक संकल्प और हृदय की एकाग्रता से है। वे श्री को विमृष्ट-प्राप्ति के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उसे जीव की माता अथवा पुरुष के प्रकृति-तत्त्व के रूप में मानते हैं। उनके मतानुसार मोक्ष प्रदान करने की शक्ति मारायण में ही है। श्री केवल एक सहायक तत्त्व है। जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम केवल जन्मा ही नहीं होता बल्कि वह इतना प्रबल होता है कि पानी जीव बनाया ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। दक्षिणी शास्त्रा प्रपि को ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन मानती है। जीव और ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध तथा ईश्वर की कृपा विषयक भर्तों में भेद होने के कारण ही ये शास्त्रा 'कमल' बहकते तथा रेंकते शास्त्राएँ कहलाई।^१

तमिस भाषा में बहकते मर्कट को कहते हैं और रेंकते मार्जार को। शास्त्रार्थों का यह नामकरण ईश्वर और जीव के परस्पर सम्बन्ध का प्रतीक है। मर्कट-न्याय के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना आवश्यक है। जीव का यह प्रेम मर्कट बच्चे के समान है। जिस प्रकार मर्कटी में अपने बच्चे के प्रति वात्सल्य विद्यमान होते हुए भी उसके बच्चे को स्पर्शा के लिए स्वयं उसका आग्रह सेना पड़ता है अथवा उसके पैर से हड़ता से चिपक जाता पड़ता है ठीक उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भी वात्सल्य के असीम आभार ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना आवश्यक है। उत्तर भारत के सन्त कवियों ने इसी न्याय को स्वीकार किया है। कबीर गुरु, तुलसी मीरा तथा घण्टछाप के कवियों की भाषा में सर्वत्र इसी भावना का वर्णन होता है।

रेंकते शास्त्रा ने 'मार्जार न्याय' को स्वीकार किया तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर की असीम कृपा को प्राप्त करने का साधन केवल प्रपत्ति मानकर प्रयत्न का अण्डन किया। इस न्याय के अनुसार जिस प्रकार मार्जारी स्वयं ही अपने बच्चे को उठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है उसी प्रकार ईश्वर जीव के प्रयत्न किए बिना ही अपनी कृपा-शक्ति से उसे मोक्ष प्रदान करता है। दक्षिण के आसन्न पुरुरूपेन 'मार्जार-न्यायवादी' कवि ने तथा इसी न्याय को महाराष्ट्र में भी मान्यता मिली। सन्त तुकाराम कहते हैं—

तुका म्हुणे माझी बिठल माठली,
आजि कांचे बोली जादू नाही।^२

× × ×
जेणे माझे हिन होईन तो उपाय
करिलोम भाव जाणोनिया।^३
× × ×

१. जे. आर. ४० पृष्ठ १६१, ५ ११०३।

२. श्री देवगिर-इन तुकाराम दासदास की गाथा, अर्थपृ. १०२०।

३. वही, अर्थपृ. १०६१।

विशेषण ॥ इस सम्बन्ध के कारण ही तीन पुरुष तत्त्व मागते हुए भी रामानुजाचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवादी है पर तत्त्व-निरूपण की विधिष्टता के कारण वह विधिष्टाद्वैतवादी है।

रामानुजाचार्य का ईश्वर उगुण और सविशेष है। वह विश्विसेय रूप में जगत् का उपादान है। वह सृष्टिकर्ता कर्म-फलदाता नियन्ता तथा सर्वान्तर्यामी है। उसकी शक्ति माया है। वह सब कर गवा पचावारी जगत्पूज्य है। श्री गुरु और सीता-सहित है तथा किरीटादि भूषणों से अलंकृत है। जगत् ब्रह्म का शरीर है। जस्तुत ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है फिर भी वह निराकार है। जगत् सत्य है मिथ्या नहीं। जीव भी ब्रह्म का शरीर है। जीव और ब्रह्म दोनों वेतन हैं, पर ब्रह्म पूर्ण है और जीव अंश। ब्रह्म स्वामी है, जीव दास। मुक्तावस्था में भी जीव ईश्वर का दास है। रामानुजाचार्य के मतानुसार भगवान् के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्ति का श्रेष्ठ साधन है उपासनात्मक भक्ति। भक्ति और ध्यान से प्रसन्न होने पर ही भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। भक्ति में प्रपत्ति का विशेष स्थान है। प्रपत्ति है भगवान् के चरणों में आरम-समर्पण जिसका स्वल्प विमलछिद्रित श्लोक में अंकित हुआ है—

फिरस् मातरस् वारात् पुमान् बन्धुन् लक्ष्मीन् पुस् ।

रत्नानि जगदान्यानि शेषाणि च पुत्राणि च ॥

सर्वभर्माश्च सन्तान्य सर्व कामाश्च साक्षरान् ।

श्लोक विष्णुस्तवर्णो धारयस् तैश्चक्य विभो ॥^१

रामानुजाचार्य ने विष्णु के द्वावतार को माय्यता ही तथा अवतार का प्रयोजन माना है दुष्कृत्तों का विनाश और साधुओं का परिचाण। उनके मतानुसार ईश्वर जीव के संशित पापों का नाश करता है पर जीव अपने वर्तमान जन्म में उत्तर और दक्षिण सहाचारिण अन्धे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इसीलिए प्रपत्ति श्रेय है।^२ इस प्रकार वहाँ एक ओर उन्होंने सम्पूर्ण आरम समर्पण पर जोर दिया है वहाँ दूसरी ओर मुक्ति के लिए सहाचार और सत्कर्मों की आवश्यकता को भी महत्त्व दिया है। रामानुजाचार्य द्वारा निरूपित कर्म की इस महत्ता तथा आरम-समर्पण की आवश्यकता के परस्पर शेष के कारण ही विधिष्टाद्वैतवाद ॥ अन्तर्गत दो विभिन्न छायाओं का आविर्भाव हुआ जो उत्तरी और दक्षिणी छायाएँ कह सारं।^३ उत्तरी छाया के अनुसार ईश्वर की हृषा प्रयत्न करने से ही प्राप्ति हो सकती है। इस छाया के अनुसार मुक्तावस्था स्तर रहित होती है। कर्म ज्ञान मुक्ति का सीधा साधन न होकर केवल भक्ति का पुरक तत्त्व है। मोक्ष भक्ति से ही प्राप्त होता है। श्री में उनकी भास्वा स्वकर्म-प्राप्ति के रूप में है तथा वह मोक्ष प्रदान करने में पूर्वकथन समर्थ है। उत्तरी छाया के मतानुसार जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम अन्ध होता है, वह जीव के दोषों की ओर नहीं देखता। प्रपत्ति का उत्तरेक भक्ति की ही भाँति जीव द्वारा प्रयत्न करने पर होता है तथा मोक्ष प्राप्ति के साधनों में से वह एक साधन है।

उत्तरी छाया के ठीक विपरीत दक्षिणी छाया ईश्वर की कृपा को अग्रयत्न मानती

१ विष्णु में उद्धृत है २२५।

२ हिन्दू कर्मोपनिषद् और श्रीमद्, मरान् दुष्कृत्ता ५ ३१।

३ वे आर० प० पृष्ठ १६१, ५० ११०३।

है। उसका विश्वास है कि मुक्तज्ञानस्या में स्तर भेद विद्यमान रहते हैं, पर ये भेद मुक्त जीव को प्रवृत्त विभिन्न कर्तव्यों के ही कारण रहते हैं। दक्षिणी साक्षा के अनुयायी कर्म, ज्ञान और भक्ति में से किसी एक को मोक्ष प्राप्ति का साधन मानते हैं क्योंकि इन तीनों का सम्बन्ध मानसिक संकल्प और हृदय की एकाग्रता से है। वे भी को विमृष्ट प्राप्ति के रूप में स्वीकार करते हैं तथा उसे जीव की भावा ब्रह्मा पुण्य के प्रकृति-तत्त्व के रूप में मानते हैं। उनके मतानुसार मोक्ष प्रदान करने की क्षमता मारुतयण में ही है। यही केवल एक सहायक तत्त्व है। जीव-विषयक ईश्वर का प्रेम केवल ब्रह्मा ही नहीं होता, बल्कि वह इतना प्रबल होता है कि पापी जीव बनाया ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। दक्षिणी साक्षा प्रपन्न को ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन मानती है। जीव और ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध तथा ईश्वर की कृपा विषयक मतों में भेद होने के कारण ही वे साक्षात् 'कर्मस' बढकते तथा 'संकल्पे धासाए' कहलाई।^१

तमिळ भाषा में बढकके मर्कट को कहते हैं और रेंकले मार्जार को। साक्षाओं का यह नामकरण ईश्वर और जीव के परस्पर सम्बन्ध का प्रतीक है। मर्कट-न्याय के अनुसार ईश्वर प्राप्ति के लिए जीव को प्रयत्न करना आवश्यक है। जीव का यह प्रेम मर्कट बच्चे के समान है। जिस प्रकार मर्कटी में अपने बच्चे के प्रति वात्सल्य विद्यमान होता हुए भी उसके बच्चे को स्वरक्षा के लिए स्वयं उसका आश्रय लेता पड़ता है ब्रह्मा उसके पेट से डढ़ता है विषय जाना पड़ता है ठीक उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को भी वात्सल्य के असीम आधार ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना आवश्यक है। उत्तर भारत के सन्त कवियों ने इसी न्याय को स्वीकार किया है। कबीर सूर, तुलसी भीम तथा श्रद्धाधर के कवियों की वाणी में सर्वत्र इसी भावना का दर्शन होता है।

रेंकले धासा ने 'मार्जार न्याय' को स्वीकार किया तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर की असीम कृपा को प्राप्त करने का साधन केवल प्रपत्ति मात्र ही प्रयत्न का बन्धन किया। इस न्याय के अनुसार जिस प्रकार मार्जारी स्वयं ही अपने बच्चे को छाँड़कर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है उसी प्रकार ईश्वर जीव के प्रयत्न किए बिना ही अपनी कृपा-क्षमिता से उसे मोक्ष प्रदान करता है। दक्षिण के शास्त्रकार पूर्णकपेण मार्जार-न्यायवादी कवि थे तथा इसी न्याय को महापद्म में भी मान्यता मिली। सन्त तुकाराम कहते हैं—

तुका म्हणे मासी बिट्ठल माडसी
आणि कवि बोली पायु माहीं।^२

× × ×
जैसे मासे हिन होईस तो उपाव,
करिनीस माव जाणीनियाँ।^३
× × ×

१. जे० चार० ए. एल. १९१, पृ० ११०३।

२. श्री देवर्गमर-कृत तुकाराम महात्म की वाणी, अध्या० ६०१०।

३. वही, अध्या० ६०११।

जाने है घरीर कोबाधिये सते,
 जोन जोनवितें हरीविन ।^१
 हरिकिया जस्ता नाही जय जित्ता
 बुद्ध निवारिता मारापण ॥^२

पौराणिक-काक में वैष्णव-दर्शन के अन्तर्गत वायु को विशिष्ट महत्त्व मिला है। प्राचीन वैदिक-दर्शन में, सृष्टि रचना में आकाश जबवा शब्द-तत्त्व से स्वर्ण जबवा वायु-तत्त्व की उत्पत्ति मानी गई है।^३ वस्तुतः वायु व्यापकत्व का प्रतीक है और वायु बिम्बु का प्रतिनिधि बिम्बु की व्युत्पत्ति भी बिप् वायु से होने के कारण स्वर्ण बिम्बु का बुल बर्न भी सक्रिय होना जबवा व्यापक होना है। बुल-बर्न की इस प्राचीन समानता के कारण ही पौराणिक-काक में वायु को विशेष महत्त्व मिला तथा वायु-पुरुष की रचना हुई जो अठारह महापुरुषों में से एक माना जाता है।^४ बिम्बु-पुरुष में अंकित पुरुषों की सूची में वायु-पुरुष के स्थान पर चिब-पुरुष का उल्लेख^५ इस बात की ओर संकेत करता है कि वायु बिम्बु का ही प्रतिनिधि होने के कारण पुरुषों की सूची से वायु-पुरुष को हटाकर चिब-पुरुष को स्थान देकर एक अन्य प्रचलित संप्रदाय को स्थान दिया गया।

दक्षिण में वैष्णव मठ के द्वितीय उत्थान-काक में वायु की बिम्बु के प्रतिनिधि रूप में कल्पना एवं महत्ता में कई विद्वान् पाश्चात्य प्रभाव देखते हैं।^६ उनका अनुमान है कि ईसा की प्राचीनक सताब्दियों में भारत में ईसाई धर्म के आगमन के कारण ईसाईयों का होली पोस्ट ईसाई धर्म-शास्त्र में 'होली पोस्ट' की कल्पना का प्रभाव वैष्णव दर्शन पर पड़ा। वस्तुतः 'होली पोस्ट-बिम्बक' ईसाई धर्म-शास्त्र तथा वैष्णव-दर्शन के अन्तर्गत वायु के व्यापकत्व आदि के आकस्मिक साम्य के कारण ही विद्वानों ने ऐसा अनुमान जवाया है। ईसाई धर्म-शास्त्र में 'होली पोस्ट' जबवा 'होली स्पिरिट' का स्थान देवताधनी में माना जाता है^७ तथा मनुष्यों में उसका अस्तित्व जीवन्त सक्रिय शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।^८ वस्तुतः 'स्पिरिट' शब्द, जो 'कह' का पर्याय है। इसे टिक वायु 'कह' ही बना है तथा उसका अर्थ है 'संघ केना' जबवा 'बहना'।^९ शब्दार्थ के इसी आधार पर प्राचीन काक में वायु की ईषकर का बराब कहा गया है।^{१०} वायु-रूप कह जबवा 'स्पिरिट' की यही कल्पना काकाकार में विकसित होकर पवित्रतमा का रूप धारण करती है तथा उसी से समस्त संसार व्याप्त माना जाता है। यही 'कह' मनुष्य की पवित्र कर्मों

१ श्री देवकीकर हृद पुष्कराम मयारुष की गाथा जनेप ३०३६।

२ वरि, धर्म ३०२८।

३ विष्णु की ओर ईदिकन क्रिओलोकी, वायुपुत्र, जय २ ५० ३६०।

४ विष्णु, रामायण गीत, ३० २५७।

५ विष्णु की ओर धर्म-शास्त्र, पौड १, पी० पी० काथे, ३० १५६ २५६।

६ रि ईरिदेम की ओर ईदिक, हृदय की ओर, ५ ८२-८८।

७ ई० भार ६, पौड २ ५० ८८४।

८ वरी, ५ ८८८।

९ वरी।

१० वरी ५० ८८६।

की ओर अग्रसर करती है तथा सृष्टि रचना के समय परमेश्वर ने अपने इसी बंध को मनुष्य को प्रदान किया था।^१

ईसाई धर्म-शास्त्र में निरूपित 'होली गेस्ट' की कल्पना से एक स्पष्ट निष्कर्ष निकला है और वह है ईश्वर और जीव के बीच 'होली गेस्ट' की तरह जो ईश्वर रूप भी है और मनुष्य में विद्यमान भी। इस प्रकार ईश्वर और जीव में द्वैताद्वैत होते हुए भी अद्वैत का आभास सरलता से देखा जा सकता है तथा आभास के कारण कुछ भिन्नान् वैष्णव-दर्शन में ईसाई धर्म का प्रभाव देखा जा सकता है तथा अपने मत की पुष्टि के लिए दक्षिण में वैष्णव-धर्म के द्वितीयोत्थान के सम्भवप्राप्ती दृष्टिकोण पर जोर देते हैं। पर वस्तुतः यह कारण अत्यन्त छिन्न है। विष्णु के प्रतिनिधि के रूप में बाबु की कल्पना ईसाई धर्म का प्रभाव न होकर पूर्ण रूप से भारतीय है तथा उसके कई अस्केस वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक दब-तन बिखरे पड़े हैं। रामायण में राम के सेवक पवन-सुत हनुमान की कल्पना बाबु की महत्ता-विषयक प्राचीन मान्यता को सिद्ध करती है। महाभारत के दश-वर्ष में प्राचीन पुराण की अमिथ्यविश्रुति बाबु से ही मानी गई।^२ बालमट्ट के 'हर्षचरित' में बाबु-पुराण के पठन का अस्केस मिलता है।^३ कुमारिल मट्ट के 'तन्त्रवार्तिक' में पुराणों के विषयव्यास की बर्णों में भी बाबु-पुराण का अस्केस हुआ है।^४ अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की सदी सठारवीं से बहुत पहले बाबु-पुराण अस्तित्व में था तथा बाबु-विषयक धार्मिक कल्पनाएँ तब तक पूर्ण रूप से निश्चित हो चुकी थीं।

यही बात वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत मोक्ष के निरूपण पर भी लागू होती है। सांकर-मत के अनुसार बुद्धि-स्त्री उपाधि गष्ट होते ही जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है क्योंकि वह अपने मूल रूप में ब्रह्म का ही बंध है। अज्ञान के कारण ही वह मोक्ष पाप से मुक्ति उससे पृथक् प्राप्तमान होता है। सांसारिक बंधा में जीव उपाधि से अविविच्छिन्न रहता है और मुक्तावस्था में वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है। पर रामानुजाचार्य की संकराचार्य का यह मत मान्य नहीं है। उनके मतानुसार जीव बन्धु और अस्वतंत्र होने के कारण ब्रह्म के साथ उसका एकीकरण सम्भव नहीं है तथा जिस प्रकार वह सांसारिक बंधा में ब्रह्म से पृथक् रहता है, उसी प्रकार मुक्त बंधा में भी। इसका अर्थ यह है कि मुक्त बंधा में वह निरंतर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता रहता है। वही मुक्ति का वैशिष्ट्य है। संकराचार्य की मति रामानुजाचार्य माया और अविद्या को अमिथ्य नहीं मानते तथा माया का आशय भववद्-वर्णित और ब्रह्म में मानते हैं। ज्ञान की अनुपस्थिति में जीव अज्ञान से परिपूर्ण रहता है तथा इसी अज्ञान के कारण वह संसार से बद्ध है। यह अज्ञान भक्ति-अर्थ भववद्-प्रसाद से अपने-आप निरोहित हो जाता है। भववद्-प्रसाद से अज्ञान का निरोहण हो जाना ही मुक्ति है।^५ पर मुक्ति पाने के लिए भववद्-प्रसाद अत्यन्त आवश्यक है। भववान् की कृपा से ही जीव समस्त पापों से मुक्त हो सकता है।

१ ई० आर० ई० पृष्ठ-२, पृ. ७००।

२ विष्णु सांख्यशास्त्र, खण्ड १, २।३८-४१।

३ को।

४ को० की० आर० पृष्ठ-१५०, १४२५, ०।१०१।

५ भगवद्-संग्रह, डॉ० नरेश चरणदास, पृ० २१४।३।

देवताओं की प्रतिमाओं का समुदाय 'पंचायतन' कहा जाता है।^१ पर वस्तुतः यह मत ठीक नहीं है क्योंकि महाभारत के अन्त्यमें से विदित होता है कि महाभारत के रचना-काल में भी किसी-न-किसी रूप में विष्णु, शिव वत्सानेय दुर्गा और स्कन्द आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। इन देवताओं की उपासना के साथ-साथ उस समय भी ब्राह्मिक-सम्प्रदाय होम तप-उपवास, जप, अहिंसा-उप, आतिथ्य-पूजन आदि आचार, प्रायश्चित्त और आद्य-वैश्वानर आदि वैदिक कर्मों का प्रचलन था।^२

अतः संकल्पार्थ से बहुत पहले स्मार्त-धर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। इतना अवश्य है कि शीघ्र और जैन जैसे निरीश्वरवादी धर्मों के प्रचलन से यह धर्म क्षुब्ध-सा होने लगा था। संकल्पार्थ के काल की आवश्यकता को समझकर इसकी पुनः स्थापना की तथा विष्णु, शिव, सूर्य वसेध और शक्ति को परमात्मा के ही पाँच रूप स्वीकार कर के इनमें से किसी एक रूप को प्रधान मानकर तथा अन्य धर्मों को उनीचा जप मानकर उपासना की प्रथा बसाई। पंचदेव की यही उपासना स्मार्त-धर्म या स्मार्त-मत कहा जाई।^३

पहले कहा गया है कि अपने मूल रूप में स्मार्त और मानवत अवस्था वैष्णव-धर्म मिल-जुल नहीं थे अपितु वे वैदिक धर्म की ही दो शाखाएँ थी—एक की आस्था निष्पत्ति मार्ग में थी, दूसरी की प्रकृति-मार्ग में। परवर्ती-काल में जब शिव भाववत सर्व-देववादी और विष्णु-कोशेकर धार्मिक व्यवहार उठ खड़ा हुआ, तब स्मार्त और मानवत 'शैव' और 'वैष्णव' के पर्याय बन गए तथा उनमें वैदिक की ही शक्ति श्रोतिष यानी एकाग्रही चम्पन लगाने की प्रवृत्ति आदि मिलन हो गई।^४ उपास्य देव-विषयक इस भेद का परिणाम इस बात से भी होता है कि शांकर-माध्य में जहाँ कहीं भी प्रतिमा-पूजन का उल्लेख हुआ है, वहाँ शिव-लिंग का निर्देश न होकर धातुधाम यानी विष्णु-मूर्ति का ही उल्लेख किया गया है।^५ स्मार्त और वैष्णव-धर्म में वैदिक दृष्टि से भेद न होने के कारण ही शक्ति में इन दोनों मतों की उपासना उदित में एक-दूसरे के आराध्य देवों को समान किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शक्ति में स्मार्त-धर्म के पुनरुत्थान में एक प्रकार से मानवत धर्म की ही पुनः स्थापना हुई। इतना अवश्य है कि इस स्थापना में सभी देवताओं को समान स्थान दिया गया एक प्रकार से धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार हुआ। महाभारत में स्मार्त और वैष्णव इन दोनों का प्रचार है। स्मार्तों की एक उपधाया भाववत कहलती है तथा वह सभी देवताओं को समान मानती है। स्मार्त शिव विष्णु, देवी वसेध सूर्य इत्यादि देवताओं को पंचायतन की पूजा करते हैं। स्मार्त-मत मुख्यतः महाभारत और मध्य-प्रदेश में प्रचलित है तथा उसके अनुयायी सारा और मध्य भारत करते हैं और पश्चिमी

१ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५२०।

२ विष्णु पृ० २०२।

३ विष्णु, रामायण मीमांसा, पृ० ६२०।

४ मीमांसा, को० भा० मं० तिलक, पृ० ६६२।

५ वही।

६ वे० पृ० २०० भा० १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १००० १००१ १००२ १००३ १००४ १००५ १००६ १००७ १००८ १००९ १०१० १०११ १०१२ १०१३ १०१४ १०१५ १०१६ १०१७ १०१८ १०१९ १०२० १०२१ १०२२ १०२३ १०२४ १०२५ १०२६ १०२७ १०२८ १०२९ १०३० १०३१ १०३२ १०३३ १०३४ १०३५ १०३६ १०३७ १०३८ १०३९ १०४० १०४१ १०४२ १०४३ १०४४ १०४५ १०४६ १०४७ १०४८ १०४९ १०५० १०५१ १०५२ १०५३ १०५४ १०५५ १०५६ १०५७ १०५८ १०५९ १०६० १०६१ १०६२ १०६३ १०६४ १०६५ १०६६ १०६७ १०६८ १०६९ १०७० १०७१ १०७२ १०७३ १०७४ १०७५ १०७६ १०७७ १०७८ १०७९ १०८० १०८१ १०८२ १०८३ १०८४ १०८५ १०८६ १०८७ १०८८ १०८९ १०९० १०९१ १०९२ १०९३ १०९४ १०९५ १०९६ १०९७ १०९८ १०९९ ११०० ११०१ ११०२ ११०३ ११०४ ११०५ ११०६ ११०७ ११०८ ११०९ १११० ११११ १११२ १११३ १११४ १११५ १११६ १११७ १११८ १११९ ११२० ११२१ ११२२ ११२३ ११२४ ११२५ ११२६ ११२७ ११२८ ११२९ ११३० ११३१ ११३२ ११३३ ११३४ ११३५ ११३६ ११३७ ११३८ ११३९ ११४० ११४१ ११४२ ११४३ ११४४ ११४५ ११४६ ११४७ ११४८ ११४९ ११५० ११५१ ११५२ ११५३ ११५४ ११५५ ११५६ ११५७ ११५८ ११५९ ११६० ११६१ ११६२ ११६३ ११६४ ११६५ ११६६ ११६७ ११६८ ११६९ ११७० ११७१ ११७२ ११७३ ११७४ ११७५ ११७६ ११७७ ११७८ ११७९ ११८० ११८१ ११८२ ११८३ ११८४ ११८५ ११८६ ११८७ ११८८ ११८९ ११९० ११९१ ११९२ ११९३ ११९४ ११९५ ११९६ ११९७ ११९८ ११९९ १२०० १२०१ १२०२ १२०३ १२०४ १२०५ १२०६ १२०७ १२०८ १२०९ १२१० १२११ १२१२ १२१३ १२१४ १२१५ १२१६ १२१७ १२१८ १२१९ १२२० १२२१ १२२२ १२२३ १२२४ १२२५ १२२६ १२२७ १२२८ १२२९ १२३० १२३१ १२३२ १२३३ १२३४ १२३५ १२३६ १२३७ १२३८ १२३९ १२४० १२४१ १२४२ १२४३ १२४४ १२४५ १२४६ १२४७ १२४८ १२४९ १२५० १२५१ १२५२ १२५३ १२५४ १२५५ १२५६ १२५७ १२५८ १२५९ १२६० १२६१ १२६२ १२६३ १२६४ १२६५ १२६६ १२६७ १२६८ १२६९ १२७० १२७१ १२७२ १२७३ १२७४ १२७५ १२७६ १२७७ १२७८ १२७९ १२८० १२८१ १२८२ १२८३ १२८४ १२८५ १२८६ १२८७ १२८८ १२८९ १२९० १२९१ १२९२ १२९३ १२९४ १२९५ १२९६ १२९७ १२९८ १२९९ १३०० १३०१ १३०२ १३०३ १३०४ १३०५ १३०६ १३०७ १३०८ १३०९ १३१० १३११ १३१२ १३१३ १३१४ १३१५ १३१६ १३१७ १३१८ १३१९ १३२० १३२१ १३२२ १३२३ १३२४ १३२५ १३२६ १३२७ १३२८ १३२९ १३३० १३३१ १३३२ १३३३ १३३४ १३३५ १३३६ १३३७ १३३८ १३३९ १३४० १३४१ १३४२ १३४३ १३४४ १३४५ १३४६ १३४७ १३४८ १३४९ १३५० १३५१ १३५२ १३५३ १३५४ १३५५ १३५६ १३५७ १३५८ १३५९ १३६० १३६१ १३६२ १३६३ १३६४ १३६५ १३६६ १३६७ १३६८ १३६९ १३७० १३७१ १३७२ १३७३ १३७४ १३७५ १३७६ १३७७ १३७८ १३७९ १३८० १३८१ १३८२ १३८३ १३८४ १३८५ १३८६ १३८७ १३८८ १३८९ १३९० १३९१ १३९२ १३९३ १३९४ १३९५ १३९६ १३९७ १३९८ १३९९ १४०० १४०१ १४०२ १४०३ १४०४ १४०५ १४०६ १४०७ १४०८ १४०९ १४१० १४११ १४१२ १४१३ १४१४ १४१५ १४१६ १४१७ १४१८ १४१९ १४२० १४२१ १४२२ १४२३ १४२४ १४२५ १४२६ १४२७ १४२८ १४२९ १४३० १४३१ १४३२ १४३३ १४३४ १४३५ १४३६ १४३७ १४३८ १४३९ १४४० १४४१ १४४२ १४४३ १४४४ १४४५ १४४६ १४४

एकादशी व्रत करते हैं।^१ स्मार्तों के ठीक विपरीत वैष्णव केवल विष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। वे विष्णु के सभी अवतारों और अवतार-रूप देखें तथा जनों की उपासना करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग भवानी, लक्ष्मोबा काळी, मल्हारी भावि कुल देवताओं को भी पूजते हैं। कर्नाटक-निवासी वैष्णव इसी प्रकार के वैष्णव हैं तथा उनके मुख्य पिछ्छ गोपी बन्धन और कमलाक्ष-भावा हैं। वे दूसरी एकादशी का व्रत पालन करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा की आठवीं सताब्दी के लगभग दक्षिण में भक्ति के पुनरुत्थान के समय महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म विभिन्न संप्रदायों एवं वार्षनिक विचारधाराओं की व्यापकता करके व्यापक रूप धारण कर चुका था। स्मार्त धर्म के रूप में वही उसमें एक और सर्ववैवाह्य की भावना मिठी वहाँ दूसरी ओर विष्णु के अवतारों की शक्तियों के रूप में शक्ति तत्त्व की उपासना को भी प्रथम मिला। फिर भी आचार के क्षेत्र में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग के सम्भव का ही अनुशीलन होता रहा तथा वर्गात्म धर्म की महत्ता अत्यन्त रूप से बनी रही। धर्म की व्याख्या विद्वानों द्वारा शास्त्रीय ढंग से होने के कारण इस व्यापक स्वरूप के बावजूद भी धर्म पूर्ण रूप से विद्वानों की सम्पत्ति थी तथा ग्रीष्माचार, वांछि मेव और अस्पृश्यता के कारण बहु जनसाधारण से दूर रही। यह स्थिति ग्लानाधिक रूप में लगभग बीसहवीं सताब्दी तक बनी रही। इस सामाजिक एवं धार्मिक विषमता का निराकरण सर्व प्रथम महानुभाव एवं उत्पलवाय् बारकरी पंथ ने किया तथा धर्म को समाज के श्रेष्ठ वर्गों की कारा से छुड़ाकर जनसाधारण की वस्तु बनाया।

महाराष्ट्र में बारकरी पंथ की स्थापना अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। यद्यपि उसका विकास बीसहवीं सताब्दी में ही दृष्टिगोचर होता है। बारकरी का जन्म है यात्रा करने वाला। धार्मिक दृष्टि से जो पंढरपुर में स्थित बिदठ भवना बिठोबा का उपासक है और आपाड़ तथा शक्ति बुद्ध एकादशी को नियमित रूप से पंढरपुर की यात्रा करता है वही बारकरी कहलाता है। यात्रा के दिन पंढरपुर को तुळसी की यात्रा पहचाने के कारण यह 'माळकरी' पंथ भी कहलाता है।^२ बारकरी पंथ पूर्ण रूप से वैदिक अर्थात्पंथ है तथा कृष्ण-भक्ति-प्रधान होने के कारण उसे भागवत संप्रदाय भी कहते हैं।^३

महाराष्ट्र में बारकरी पंथ के संस्थापक पुण्डरीक मुनि माने जाते हैं। उन्हींकी उपस्था से प्रेरणा होकर भगवान् पंढरपुर में प्रकट हुए थे।^४ पंढरी के बिठोबा बाल-रूप हैं। महाराष्ट्र की प्रसिद्ध उल्ल बहिषाबाई ने ज्ञानेश्वर को इस पंथ का संस्थापक माना है।^५ पर ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव के 'पुर्वी कण्ठ शाले' पद से बहिषाबाई की धारणा निराकार एवं भावना-भाज सिद्ध होती है। बारकरी कीर्तन के आरम्भ में 'पुण्डरीक नरदे हरि बिदठ' की आश्रित-भोपना की प्राचीन परम्परा भी पुण्डरीक पंथ का संस्थापक होना सिद्ध करती है। बिदठ भक्ति के एक धिकाकेश से भी इसका समर्थन होता है जिसमें 'पुण्डरीक मुनि का

१ महाराष्ट्र परिचय, पृ. १७४।

२ महाराष्ट्र परिचय, पृ. १७४।

३ हिन्दी को संपूर्ण सन्तों की देव, आचार्य विमल योगेश शर्मा, पृ. १८।

४ महाराष्ट्र परिचय, पृ. १७५।

५ ज्ञानेश्वर, पृ. १४४।

६ संपूर्ण शक्ति का उद्घाटन, भा. ५० गोबिन्द पृ. १७।

रखे हैं।^१ यह दिनांक १२२० ई० का माना जाता है।^२

बारहवीं पंख के उपाखण्ड बिट्ठल माने जाते हैं। बिट्ठल को वास्तव्य माना जाता है। मरुत पुष्करिक को बार होने के लिए ही वास्तव्य पंढरपुर जाने से तथा मरुत के संकेत करने पर ईंट पर लड़े हो गए और सब ठक लड़े हैं—

“पुष्करिक बिट्ठल की मरीच, पुराण पुष्प प्यासक।

मरुताबिया काज, उमा पंढरीबा राजा।”^३

(पुराण पुष्प बिट्ठल मरुत के लिए ईंट पर लड़े हो गए।)

बिट्ठल की कल्पना के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कई स्थलों पर बिट्ठल-मूर्ति को कल्प देव से बारी हुई कहा गया है।^४ कई विद्वान् बिट्ठल की उत्पत्ति बिट्टि से मानते हैं। बिट्टि हिप्पु का कल्प रूप है।^५ राजबाड़े के मतानुसार बिट्ठल शब्द ‘बिट्ठल’ से बना है जिसका अर्थ है दूर बर्बाद को दूर रखा है, वह बिट्ठल है।^६ नामदेव ने भी पंढरी के बिट्ठल को जानना कहा है—

“जानना बिट्ठल पंढरीमें।”

मर्बाद

पंढरी का बिट्ठल जाननी है।

एकनाम कहते हैं —

“जानना बिट्ठल, जानना बिट्ठल,

जानना बिट्ठल बिट्ठली ॥

जानना बिट्ठल, जानना बोले,

जानना बिट्ठले मन बेधियसे।

(ईंट पर बना बिट्ठल जाननी है और कल्प ही बोलता है। इस जाननी बिट्ठल ने मेरे मन को बेध दिया है।)

उपयुक्त आचार्यों पर कहा जा सकता है कि बिट्ठल पंढरपुर में कहीं दूर के जाने से। बिट्ठल मूर्ति का मोप मोप—

बिम्बनी बलनी ती बिट्ठलना घाली ॥

माई योपल्लवा मेळ, योपल्लपुरी तो देविका ॥

घाणव्योपल्लवरी। एकाकमार्बनी भी हरी।^७

(बिम्बनी कठकर बिट्ठलन में जा गई और हरि ने योनों-योपलों को बुन्दावन में ही छोड़कर मोप मोप चरण कर लिया है।)

बिट्ठल की प्राचीनता का सूचक है क्योंकि श्रीकृष्ण का पुष्करिक के लिए पंढरी में वास्तव्य

१ श्री बिट्ठल मोप पंढरपुर, पृ. १०।

२ बिन्दी को मछली लम्बों की देन, पृ. ७१।

३ श्रीमत्पु. पृ. १४२।

४ बिन्दी को मछली लम्बों की देन, पृ. ७०।

५ वरी।

६ वरी।

७ श्रीमत्पु. पृ. १४२।

में आता इस बात को प्रमाणित करता है कि पुष्करिक के सपास्य क्षेत्र महाभारत के कृष्ण न होकर शेष-शेषवारी बाण-कृष्ण थे। पहले कहा गया है कि गोपास-कृष्ण की कल्पना डा० मांडारकर के मतानुसार ई० स० की पहली सताब्दी की न होकर निश्चित रूप से उससे बहुत प्राचीन है। बिट्ठल मूर्ति के मस्तक पर शिखरिणि—^१

‘रमारसेन मस्तकी हर विष्णु और शिव के ऐश्वर्य का प्रतीक है। इस दृष्टि से भी बिट्ठल की कल्पना नाबकासीन न होकर अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है तथा पूर्ण रूप से वैदिक धर्मोन्मूलक सिद्ध होती है क्योंकि बारकरी पंथ की आस्था विशेष रूप से भागवत गीता तथा आनेन्दरी में है। दक्षिण में प्राचीन बिट्ठल मूर्ति का स्वल्प भी रखा होना यह नहीं कहा जा सकता पर महाराष्ट्र में आनेन्दर द्वारा बारकरी पंथ के पुनरुद्धार के समय तथा उसके अनन्तर यह पंथ अत्यन्त उबार-भरवारी रखा है। उसकी आस्था न तो आदि मेर में है, और न वर्ध-भर में। बारकरी सम्प्रदाय सभी ईश्वर भक्तों को स्वीकार करता है तथा विष्णुमय एवं वैष्णवांचा धर्म की भावना से ही अन्य धर्मोन्मूलकों की ओर देखता है। इसी कारण कुछ मुसलमान भी इस पंथ में शामिल हो सके। पंढरी में सभी को समान अधिकार है और संत किसी भी आदि का नहीं न हो। पूज्य एवं सम्मानीय समझा जाता है।’ बारकरी पंथ के इस समतावादी दृष्टिकोण तथा ऐश्वर्य भावना ने महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म को अत्यन्त व्यापक और सम्भववादी बनाकर धर्म को पंडितों एवं विद्वानों के वर्ग से छड़ाकर जनसाधारण के लिए सुलभ बना दिया।

बारकरी बिट्ठल के सपासक है तथा गङ्गे में तुलसी की भाँटा पहनते हैं क्योंकि तुलसी विष्णु की प्रिय है और कृष्ण उनकी दृष्टि में विष्णु के ही अवतार है। इस प्रकार वे कृष्णोपासक हैं यद्यपि वे राम के भी उल्लेख हैं। एकनिष्ठ सपासक हैं। इस पंथ में हरि और हर दोनों को एक माना जाता है। यह ऐश्वर्य स्वयं बिट्ठल की मूर्ति में निरूपित होता है जिसके मस्तक पर शिखरिणि विराजमान है।^२ इसीलिए एकावली के साथ सोमनाथ, शिवरात्रि और राम नवमी बत मास्य हैं। इनके आचार धर्म में वैष्णव मुद्रा-आरण्य-मन्त्र संकीर्तन, बिट्ठल का नाम-स्मरण तथा पंढरी की भाँटा का विशेष महत्त्व है। बारकरी कोम आपाड़ी-आदिनी एकावली रामनवमी तथा गोकुलाष्टमी को बत रखते हैं तथा संसार-त्याग का उपदेश न देकर विरक्त भाव से कृष्णार्चन में ही परमार्थ लाभ करने में विश्वास रखते हैं। मुकाचम कहते हैं—

पंथरा बिबली एक एकावली

करी दे न करिनी सतवार ।

काय मुसा जीव जाती एकावली ।^३

(नगद्वि दिन के बाद जाकर कहीं एकावली जाती है। क्यों न उस दिन बत नहीं

१. शिखरकर २० ३४३ ।

२. प्रकाश, पृ० ४० एवं ५ ११५ ।

३. ‘राम चरण बोझाई छपर बाबाई गेलेनु ॥

बहिमा बरिनि मोशु, जेने मस्तकी रेविका ॥

४. शिखरकर २० प्रकाशपत्र की पृष्ठ ५ ३४४ चर्मा २०५ ।

रसता ? एक दिन उस रत्न ने क्या ऐसी बातें कही हैं ?)

×

×

×

“मम संकीर्तन साधन यं सोचें ब्रह्मलील पार्श्वे जन्मांतरिणी ।

न जायसी सम्पाद आर्षे यमनरद, सुखे धितो धरा नारायणा ।

छायीय बेसोनी करा एकचित्त, ध्यायी धर्मत प्रसन्नबाया ।

‘रामकृष्ण हरी बिठल केशव, मंत्र हू सोपा जपा सर्वकाळ ॥’

(मम और संकीर्तन, ये साधन अत्यन्त सरल हैं तथा इनसे जन्म-जन्मान्तर के पाप बल जाते हैं । न बन जाना पड़ता है और न प्रयत्न करना पड़ता है, माधव स्वयं ही घर आ जाता है । अपने घर बैठे-बैठे एकचित्त होकर मनस्त का ध्यान कीविए और सर्वदा ‘राम कृष्ण-हरी’ इस सरल मंत्र का जप करते रहिए ।)

हरी हरायेच, नाही कळ नये वाद ।

एक एकाचे हूवयी, बोडी लाकरेज्जा ठायीं ।

बेवकासीनाळ, एक बेछाटीच पाह ।

उकळे नाम माय तुका म्हणे एकचि सर्व ॥^१

(हरि और हर में येव मानकर विवाद नहीं करना चाहिए । वे दोनों एक-दूसरे के हृदय में ठीक उसी प्रकार निवास करते हैं जिस प्रकार चीनी में मिठास । नेह के नाम केवल एकमात्र की बात है, परन्तु उससे क्या होता है । बायाँ और दाहिना दोनों धरीर के ही अंग होते हैं ।)

×

×

×

तुका म्हणे भक्ति छाडी हरिहर ।

हरिहरा नेव नाही, नका कळ वाद् ।

—तुकाउम

(तुकाराम कहते हैं कि भक्ति करने के लिए ही हरिहर हैं । उनमें परस्पर कुछ भी नेव नहीं है, स्वयं ही विवाद में न पड़ो ।)

१ देवकीनंदन तुकारामजी काया १० श्लोक अर्थ ०१५६ ।

२ गी, १० १२, अर्थ ०४६ ।

मराठी कृष्ण-काव्य की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

किसी भी युग का साहित्य उसका जीवन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से बनता है तथा जन्हीको प्रतिबिम्बित करता है। साहित्य-सर्वता-विपन्नक यह सत्य प्राचीन मराठी काव्य के विकास में उसी प्रकार अभिलक्षित होता है जिस प्रकार अन्य भाषाओं के विकास में। अन्य भाषाओं की भांति मराठी का प्रारम्भिक साहित्य भी काव्यमय था। बल्लुत मराठी भाषा वर्तमान महाराष्ट्र की ही भाषा न होकर प्राचीन काल में दक्षिण भारत के अन्य भाषाओं में भी बोली जाने वाली भाषा थी। 'महाराष्ट्री' नाम से विदित होता है कि इस भाषा का नामकरण किसी विशेष भौगोलिक प्रदेश के कारण न होकर अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक विस्तृत प्रदेश में बोली जाने के कारण ही हुआ होगा।^१ ऐसी दशा में वर्तमान महाराष्ट्र प्रदेशों के आचार-विचारों तथा धार्मिक विचार-धाराओं का प्रभाव मराठी भाषा पर पड़ना स्वाभाविक ही है। यद्यपि मराठी भाषा की परम्परा प्राचीन है, तथापि हाससातवाहन की सप्तशती में मराठी भाषा प्रकृत या अपभ्रंश का सूत्र मानी जाती है।^२

मराठी के उत्पत्ति-काल के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इतिहासकारों एवं भाषा-मंगलवेदों के सम्प्रपद के आधार पर मराठी भाषा की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के समय मानते हैं।^३ आध्याचार्य वि० वि० वैद्य उसकी उत्पत्ति सप्तवीं शताब्दी में मानते हैं।^४ परन्तु यह है कि प्राचीन सम्प्रपदों में यद्य-तथा मराठी स्वयम् के प्रयोग अवसर होने पर भी उनमें मराठी भाषाओं का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। मराठी का प्रथम वाक्य-रूप आदिपकार भी 'आमुण्डरुवे करविले' मीरुर राजवं में धवलदेव-जीका के लिखाकेस से हुआ है। इस लिखाकेस का समय सर्वसम्मति से सन् ६०३ के आसपास माना जाता है।^५ इस प्रकार मराठी भाषा का महाराष्ट्र में सप्तवीं शताब्दी के समय सङ्ग होना माना जा सकता है। यादव वंश-पूर्व आमुक्य राजवंश के लिखाकेसों में संस्कृत के

१. किसी साहित्य कोल १० १००।

२. श्री. १ १४१।

३. राजपूतों द्वारा सम्पादित भाविकी की मल्लभ्या, १ १८।

४. मराठी भाषा का उत्पत्ति वि० वि० वैद्य विविध भाषा मिलाए, १४२२।

५. महाराष्ट्र साहित्य, १ ४४१।

साव-साव वैसी भाषा के रूप में कल्प का प्रयोग इसी राज्य की ओर निर्देश करता है।^१ बारहवीं शताब्दी में लिखित मराठी के लिखित प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस काल में मराठी काव्य पूर्ण रूप से बार्मिक है जब प्रश्न उठता है कि बारहवीं शताब्दी में इस आकस्मिक बार्मिक काव्य की सर्जना के पूर्व महाराष्ट्र में बार्मिक भाषा-विचारों का स्वरूप कैसा रहा होगा। इसका संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है।

इतिहासकार राजवाड़े के मतानुसार ईसा-पूर्व एक हजार वर्ष के लगभग उत्तर की भाषा भाषियाँ दक्षिण की ओर बहने लगी थीं।^२ इस समय दक्षिण की प्रमुख भाषियाँ प्राकृत-भाषी थीं। राजवाड़े ने इन्हीं भाषाओं के साहचर्य से महाराष्ट्री का अपभ्रंस में क्यान्तर माना है।^३ पर यह मत साधारण नहीं प्रतीत होता। जबकि ही इस काल तक महाराष्ट्र में सिव भाषा-विचारों की आदिभाषियों के उपास्य देशों की उपासना की प्रथा प्रचलित रही होगी। पाणिनीय सूत्रों में दक्षिणापन के उल्लेख के अभाव में यह धिक् होता है कि पाणिनि काल तक बार्म दक्षिण में नहीं पहुँचे थे। कात्यायन की भाषिकार्यों में अवश्य ऐसे उल्लेख मिलते हैं, पर वे पाणिनीय सूत्रों के पूरक के रूप में ही हुए हैं।^४

इन उल्लेखों से इतना अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि कात्यायन के पूर्व बार्म कोय दक्षिण में जाकर बसने लगे थे। यह काल बौद्ध-बुद्ध का आरम्भ-काल था तथा इस काल में बौद्धधर्म की स्थापना के रूप में बहिष्ठ बार्मिक भाषा के कारण ही सम्भव बार्म कोय भाषी ओर फैल गए थे।^५ महाराष्ट्र शास्त्रकार के मतानुसार इस विभाजन के कारण ही दक्षिण में भाषों का कोई एक राज्य न होकर गोवराष्ट्र, मल्लराष्ट्र, पांडुराष्ट्र, अपराष्ट्र, विदर्भ, अथवा भाषा-राष्ट्रों की स्थापना हुई थी जो आगे चलकर महाराष्ट्र बहूभाषी।^६ कुछ भी हो इतना तो मालमा ही पड़ेगा कि प्राचीन काल में महाराष्ट्र की बार्मिक भाषा प्राकृत तथा बार्म संस्कृति से पूर्ण रूप से प्रभावित रही होगी तथा उसकी उपासना पद्धति में इन दोनों संस्कृतियों की देवमाताओं का समावेश हुआ होगा। इसके पश्चात् जब उत्तर-भारत में बहिष्ठ के समर्थक, पर निर्दिष्टरवासी, बौद्ध तथा जैन धर्मों का आधिपत्य हुआ तब उनका प्रचार भी महाराष्ट्र में हुआ होगा। ऐतिहासिक प्रमाणों को देखते हुए कहा जा सकता है कि ईसा से पूर्व ही शातवाहन सम्राटों के शासन-काल में महाराष्ट्र में बौद्धधर्म की महाभारत शाखा का प्रचार होने लगा था।^७ महाभारत शाखा में अवतारवाद की कल्पना, पौराणिक देवताओं का समावेश, ज्ञान की अपेक्षा शक्ति का महत्त्व आदि तत्त्वों के कारण महाराष्ट्र में जैन धर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म का ही अधिक प्रचार हो सका। इस धर्म-प्रचार के लिए अवश्य ही प्रचारकों को अपभ्रंस भाषा का प्रयोग करना पड़ा होगा जो तत्कालीन लोक-भाषा थी। लिखित मराठी को अवश्य ही पूर्वकालीन अपभ्रंस भाषा का मार्ग

१. महाराष्ट्र परिचय, १० पृष्ठ १०।

२. महाराष्ट्र शास्त्रकार (ऐतिहासिक विभिन्न विभाग द्वारा)।

३. उपपद्यन निबन्ध पन्ना १११, भाग २।

४. महाराष्ट्र शास्त्र, १० पृष्ठ २।

५. पृष्ठ १।

६. महाराष्ट्र शास्त्र, १० पृष्ठ २।

७. विष्णु की मराठी स्तुति की देख, १० पृष्ठ १।

वर्तन एवं सहयोग मित्रा होगा।^१ तेरहवीं शताब्दी की प्रभु रचना में जोबी-धर्म-ग-आरती आदि अपभ्रंश के मातृशुक्तानुसूय^२ शब्दों का प्रयुक्तता से प्रयोग अपभ्रंश भाषा में इन शब्दों की संकेतप्रियता को सूचित करता है।

मराठी आदि-काव्य के व्याख्यात्मक रूप के परीक्षण से प्रतीत होता है कि ईसा की प्यारहवीं शताब्दी के पूर्व महापण्डित विभिन्न धार्मिक विचारवादाओं का प्रचार, पातुर्धर्म तथा धर्मवेवताओं की उपासना आदि के सम्मिलन से जोक में धार्मिक विपमताएँ तथा पाबंद प्रवृत्ति हो उठे वे तथा जाचार-विचारों के वर्गद्वार में जनता अपने धर्म से विमुख होने लगी थी। दक्षिण में वैष्णव और शैवों का परस्परविरोध नाकों के मोरख-बन्धे महामान-सम्प्रदाय की मठ-व्यवस्था ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड सास्तों का बलिबिधान, शैवों का तन्त्र, हठयोग आदि व्यवस्थाएँ जनसाधारण को यत्न धर्म की ओर बल्लभ कर रही थीं। इसीकी प्रति क्रियात्मक जनसाधारण की धर्म-भावना को उल्लंघन स्तर पर उठने के लिए मराठी के आदि काव्य का प्रादुर्भाव हुआ और वह नाथ महागुमान बारकरी वत्त धर्म आदि धर्म-धर्मों के माध्यम में संकुचित एवं पक्षबिध हुआ। अस्तुत महापण्डित के महागुमान तथा बारकरी दोनों धर्मों का प्रादुर्भाव जनसाधारण के उत्थान के लिए ही हुआ था। इन दोनों धर्मों ने मोक्ष-मार्ग का ही प्रचार किया मद्यपि बारकरी धर्म का शुकाच प्रवृत्तिपरक मक्ति की ही ओर बल्लभ रहा। प्राथमिक आवश्यकता की दृष्टि से इन दोनों धर्मों के निवृत्ति-धर्म की ओर शुकाच का कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति ही थी। वह काल धर्म-व्यवस्था का काल था। विदेशी आक्रमण तथा विविध उपासना-प्रवृत्तियों के कारण वैदिक परम्परा निधन-सी हो गई थी तथा परिवर्तनशील परिस्थिति में समाज को नई प्रेरणा देने की सामर्थ्य इस धर्म संस्था में नहीं रही थी। धर्म केवल यज्ञयाग व्रत-वैकल्य अप-व्याप तक ही सीमित हो गया था। उल्लंघन धर्म में भोक्त-विज्ञान का बोधनात्मक था। ब्राह्मण और क्षत्रिय कर्तव्यधर्म हो गए थे। जैन और सिन्धवत धर्म धर्मों की धर्मज्ञान देने का प्रयत्न कर रहे थे इसका स्पष्ट विचार रामदेव राव द्वारा पंढरपुर के मन्दिर के जीर्णोद्धार तथा हेमाद्रि जैसे पंडितों द्वारा स्मृति-धर्मों पर रचित टीकाओं में देखा जा सकता है। निश्चय ही ये प्रयत्न वैदिक धर्म के पुनः स्वीकरण की दिशा में हुए थे। शुकाच का वचन—जहाँ छोपछीं पुरछीं 'नाथ कंठा धर्म जानें' विषय सोनी मने 'साधनें बुझनिछी'^३ कुछ शताब्दियों बाद ही क्यों न हो ऐसी ही परिस्थिति के अस्तित्व को व्यक्त करते हैं। इस धार्मिक पुनःस्वीकरण का मुख्य उद्देश्य जन साधारण का उत्थान होने के कारण ही महागुमान धर्म के आचार्यों ने प्रभु-रचना संस्कृत में न कर के जोक-भाषा मराठी में करने पर ध्यान दिया—'न को गा कैसक दया येने मातीया म्हादायीया नाथवतिल'^४ यही दृष्टि कानेश्वर की भी थी।^५

तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार महागुमान तथा बारकरी

१. महापण्डित परिचय १० ३३०।

२. अपभ्रंश आदि मराठी शब्द, प्रो. वैष्णवकर-संपादित, अमरा १९४०।

३. महापण्डित परिचय, १० ५२०।

पुरछीं के धर्म का लोभ हो गया। राज्यपाल ने सर्वप्रकार कर वसूला जिसने ने मन को क्षमा किया और लक्ष प्रजन छोटे राज्य हुए कर।

४. मराठी साहित्य का इतिहास भा० वा० जोषनेने १०१।

पम्हों का मुकाबल निवृत्ति-मार्ग की ओर होने के कारण ही भवबद्धीता की प्रमाण मानकर महाकाव्य में कृष्ण धर्मिता का विकास हुआ। परिस्थितियों की इस पार्श्वभूमि को समझने के लिए मराठी कृष्ण-काव्य के उत्थान तथा क्रमिक विकास पर विह्वल दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा।

मराठी के आद्य कवि मुकुन्दराज माने जाते हैं। इसके निश्चित काल के सम्मान में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इसकी भाषा-शैली भी इसकी प्राचीन नहीं जान पड़ती जिसकी जाने स्वर की है, तथापि वे ज्ञानेश्वर हैं। समय एक सताब्दी पूर्व के कवि माने जाते हैं। मुकुन्दराज नाम-सम्प्रदाय के कवि वे और उन्होंने 'औरी' नामक मराठी अक्षर-सूत्र में 'विशेष-सिन्धु' और 'परमावृत्त' नामक दो ग्रन्थों की अष्टौ वेदाङ्ग पर रचना की है। इस समय महाकाव्य में ही नहीं अपितु समस्त भारत में वेदाङ्ग का प्रचार था। वेदाङ्ग चातुर्वर्ण्य पर आधारित होने के कारण समाज के वैदिक व्यवहार में भी बाढ़ि घेर की विपमता फैली हुई थी। समस्त मराठी समाज बार बनों में विभक्त हो गया था तथा शास्त्रों की क्षमिप विपन्न वर्गों की हीनता की दृष्टि से देखते थे। इसका ही नहीं उन्हें वैदिक मार्ग से वंचित भी रखा जाता था। वैदिक धर्म के अन्तर्गत अनेक वेदाङ्गों की उपासना की प्रथा थी। शंकराचार्य के 'केदारार्थ सिद्धान्त' तथा 'पंचावतन' की स्थापना से सभी वेदाङ्गों की उपासना का प्रचलन महाकाव्य में रुढ़ हो गया था। हेमाद्रि पंडित के 'चतुर्वर्ण्य विम्वामधि' में भिन्न-भिन्न वेदाङ्गों की उपासना करने के लिए वर्ग में कमभन हो हृत्कार पर्वों का आयोजन किया गया था। इस वर्ग-विभक्त के कारण समाज का भिन्न वर्ग बुरी तरह से पिट रहा था। चतुर्वर्ण्य की इस विपमता से बचने के लिए वीरम बुद्ध ने जेथों की प्रामाणिकता पर आक्रमण करके चातुर्वर्ण्य मिटा डालने का प्रयत्न किया था पर वे इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सके। ठीक ऐसा ही बल्लभ महावीर ने भी किया था, पर वे भी इस प्रयत्न में असफल रहे। चातुर्वर्ण्य से टकरा के कारण बौद्ध धर्म की कई हित बई और बौद्ध धर्म को तो बन्ध में बन्ध-बन्धना का ही आशय लेना पड़ा। महाकाव्य के दक्षिण में कन्नड़ प्रदेशवासी बल्लभ ने विवापत सम्प्रदाय की स्थापना करके वैदिक धर्म को लम्बाया था। इस सम्प्रदाय ने बाल-विवाह की प्रथा की उपेक्षा करके त्रीड-विवाह तथा विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा चलाई थी। कमभन इसी काल में महाभारत पंच कर्म-वाङ्मय का कार्य कर रहा था। महाभारत पंच के प्रवर्तक स्वामी चक्रवर्त ने धारवकाशीन महाकाव्य की इन विपन्न परिस्थितियों को समझा था। इसीलिए बहुरेखाय और कर्मकाण्ड की उपेक्षा करके उन्होंने एकेकरवार और निवृत्ति-मार्ग को महत्त्व दिया। सभी उपासनाओं का अन्तिम साध्य मोक्ष होने के कारण उन्होंने ब्रह्मता को मोक्ष का मार्ग दिखाया। बहुरेखाय के निर्वृत्तन के लिए उन्हें ॥३॥ सिद्धान्त का प्रतिपादन करना पड़ा। इसी प्रकार गीता के आधार पर उन्होंने मोक्ष का मार्ग स्वी और सूरों के लिए भी लोक दिया। इसका ही नहीं, चातुर्वर्ण्य का अन्तन करने के लिए उन्होंने पंच के आधार-धर्म में चारों वर्गों के वर्गों से भिन्न स्वीकार करने का आदेश दिया है।

‘चातुर्वर्ण्य चरेत् वैश्यम्’^१

स्वामी चक्रवर के पूर्व दक्षिण के आसफार मर्छी ने और रामानुजाचार्य ने वीष्ण सक्ति का प्रचार करके कृष्ण और विष्णु के भजेव को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर लिया था। गौरी परम्परा के आचार पर स्वामी चक्रवर के लिए यह कल्पना जनता को भ्रम में डालने वाली लगी। अब सबसे पहले उन्होंने श्रीकृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानकर उन्हें ब्रह्म से भिन्न प्रमाणित किया। स्वामी चक्रवर ने एक-दो स्वामीों पर स्वयं अपने को भी कृष्ण का अवतार माना है। संकराचार्य के केवलज्ञान सिद्धान्त का खण्डन करके अपने धर्म की प्रतिष्ठापना को ही उन्होंने अपना अवतार कार्य समझा।

मादकालीन महाराष्ट्र की इन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण ही महानुभाव पन्थ के आचार और उत्पन्नान का प्राबुध्वि हुआ। स्पष्ट ही उत्कालीन महाराष्ट्रीय जनता में धर्म भावना की कमी नहीं थी अपितु उसकी धर्म-भावना इतनी प्रबल थी कि वह जैनिक देवताओं की उपासना के बजाय में सात्वत धर्म से विमुक्त होने लगी थी। इसीलिए महानुभाव कृष्ण-काव्य में उत्प-निरूपण और आचार को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। ब्राह्मण धर्म का जोर विरोधी होने के कारण इस पन्थ के धर्मों की रचना सकल सुन्दरी ब्रह्म ब्रह्म मुमदा सिंह, माधव्य आदि कृषियों में हुई। महानुभाव पन्थ के धर्म कृषि-ब्रह्म होने के कारण तथा इस पन्थ में निवृत्ति-धर्म का ही स्वीकार होने के कारण इस पन्थ का उत्पन्नान उत्पन्न बावलों पर आधारित होते हुए भी साधारण माधव्य जीवन तक नहीं पहुँच सका। इस पन्थ को ब्रह्मन्त बाबर की दृष्टि से देखते हुए भी बहुत ही कम लोग उसका अनुसरण कर सके। बाबर की बात तो यह है कि कृषि-ब्रह्म होने के कारण महानुभाव पन्थ कई दृष्टांतियों तक अप्रकाशित ही पड़े रहे। १६२३ में य. कु. देवपाध्ये ने महानुभावीय मराठी बाऊ मय की रचना करके इस पन्थ पर कुछ प्रकाश डाला था। बाद में बि. भि. कोसले ने अपने प्रथम 'महानुभाव वि उत्पन्नान' में इस पन्थ के उत्पन्नान का सूक्ष्म विवेचन करके मराठी जनता को उसका महत्त्व समझाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। महानुभाव पन्थ की अक्षिपिबद्ध कविता की सर्वता मराठी की भाषा कवयित्री महारम्भा ने की। महारम्भा महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक स्वामी चक्रवर के मुख्य शिष्य नायदेवाचार्य की ज्येष्ठी बहन थीं। इस कवयित्री ने विवाह प्रसंग पर गाने योग्य कृष्ण भक्ति रस के वरिष्ठ धर्म के लिये हैं, जो धर्म्य स्वयं की ही भाँति बार सवाल करने वाली बलिबधित ब्रह्म-संख्या का छत्र है। महारम्भा के 'बबलों' द्वारा मराठी की अनुकूल कविता का आरम्भ माना जाता है। स्वामी चक्रवर के दूसरे प्रसिद्ध शिष्य भावे प्यास ने 'भुवावसर' पन्थ की रचना की जिसमें श्री चक्रवर का जीवन चरित दिया गया है।

महानुभाव पन्थ निवृत्ति-भिष्ट देव विरोधी और सामान्य जनता से दूर होने के कारण ही महाराष्ट्र में वैदिक धर्म की सुरक्षा के लिए सप्त ज्ञानेश्वर का प्राबुध्वि हुआ। सप्त ज्ञानेश्वर ब्राह्मण होते हुए भी सूत्र-धर्म में बनेक धिये गए थे। सूत्र-धर्म और स्त्री-जाति के लिए वैदिक परम्परा ने आध्यात्मिक उन्नति के द्वार बन्द कर रखे थे। केवल गीता ने ही उन्हें आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बताया था। सूत्रों तथा विधियों को धर्म का अधिकार देने के लिए स्वामी चक्रवर पहले ही नीता को प्रमाण मान चुके थे। सप्त ज्ञानेश्वर ने भी नीता का ही आग्रह किया। १२६० ई० में उन्होंने ज्ञानेश्वरी की रचना की। 'ज्ञानेश्वरी

ममबन्धीता के घटाएँ अन्धकारों पर भी हजार ओजों की पशुपत टीका है तथा मराठी साहित्य में उसका अपूर्व स्थान है। 'ज्ञानेश्वरी' में वे लिखते हैं—

बेव सम्पन्नु होय काई । परी कृपणु ऐसा आनु माहीं ।

बे काणी सम्पत्ता सिद्धी । बंयौबाणि ॥

पेरी जगज्जगत्ता ठेगिया । स्त्री सुहासिका प्राणिया

अपवत्तव भाङ्गिया राहिला माई -

तरो मन बाहुता तें भावीत जणें केवळमा नीताणें

बेनु घेठला भलतेचें सैव्य होपामया -^१

(बेव सम्पन्न बनस्य हैं पर उन बीछा कोई कृपण भी नहीं है क्योंकि वे केवल तीनों बंधों की ही घुंति-जोखर हैं। उन्होंने स्त्री और सुहों को बलिष्ठ रखा है। मेरे विचार में इस कमी को दूर करने के लिए ही वेव पुनः पीछा के रूप में प्रकट हुए हैं।)

वस्तुतः सुद्ध और स्त्री-बन्ध के उद्धार के लिए ही ज्ञानेश्वर ने पीछा पर टीका लिखी है। उनके इस कार्य का जगत्ता पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। परम्परावादी होने के कारण सन्त ज्ञानेश्वर के वास्तुबन्ध को बनाए रखने में ही योग दिया तथा बह्वैव का समर्पण किया। मोक्ष और ज्ञान दोनों की ही प्राप्ति महानुभाव पन्थ में भी संन्यास को आध्यात्मिक दृष्टि से प्रमाणित है रही थी। स्वामी जगन्नाथ ने कहा था—

कर्म-बन्ध-विधि विच्छेदबुद्धि परमेश्वरार्थरत्न रियावे ।

(कर्म, बन्ध विपन्न जाति सब-कुछ छोड़कर ईश्वर की शरण जाओ।)

कर्म और विषय-रयाग के बिना योग प्राप्त नहीं होता। कैवल्यार्थवादी संकराचार ने भी संन्यास को आवश्यक माना था परन्तु संसार के सब लोगों को संन्यास ग्रहण करना सम्भव नहीं था। इसीलिए ज्ञानेश्वर ने संन्यास-भार्य को स्वीकार नहीं किया। वे संन्यास में रहकर ही ईश्वर प्राप्ति का मन्त्र जगत्ता को देना चाहते थे। अतः ज्ञानेश्वरी में उन्होंने निष्काम कर्मवाद का समर्पण किया। निष्काम-बुद्धि से अपने कर्म करते हुए ईश्वर-पूजा कर के ही परमेश्वर सम्पुष्ट होता है। इसीलिए वे कहते हैं—

तथा सर्वभिरा ईश्वरा । स्वकर्म पुण्योभी बीरा ।

पूजा कैली होय अपारा । तोपलासी ^२

(सर्वांग ईश्वर की अपने कर्म-कपी पुण्यों से पूजा करने से ॥ वह सम्पुष्ट होता है।)

आध्यात्मिक लोभ से सब लोगों को तथा पापियों को जगत्ता अधिकार देते हुए पीछा की प्रभाव मानकर सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं—

वापरी पाप्योभी ही धनुषा । कर्म बीस्य भूध दंपया ।

मातें भक्ततां सदा । मासिया पैती ^३

(स्त्री, बंधू भूध वापी, सब मेरा भजन करते से मुझे प्राप्त होते हैं।)

१ ज्ञानेश्वरी, अ० १८, १४२९-४४०।

२ पद १८-११०।

३ पद १४४४-४४५५।

ज्ञानेश्वरी की रचना में सामाजिक विपमता और वास्तुस्थिति का विरोध ही मुख्य रूप से प्रेरक रहा है। ज्ञानेश्वरी के द्वारा कर्म योग और भक्ति का सुन्दर समन्वय करके सन्त ज्ञानेश्वर ने जनसाधारण को उपासना का एक सुगम मार्ग दिखाया।

‘ज्ञानेश्वरी’ के अतिरिक्त सन्त ज्ञानेश्वर ने ‘जमुतापुत्र’ तथा कुछ छोट्ट जर्मनों की भी रचना की है। ज्ञानेश्वर के समकालीन कई अन्य सन्त-कवि हो गए हैं जिनमें से अधिकांश भीथी भाति के थे। नामदेव, जनाबाई, चोरा कुम्हार सावता मासी विद्योबा बेचर मरुहिर घुनार, बंका महार चौला मेका परछा भागवत काङ्गोपावा पतुरिवा सेना माई, सबन कवाई वादि इरी कोटि में आते हैं। ये सब बारकरी-सम्प्रदाय के अनुपायी थे। बारकरी सम्प्रदाय कृष्ण-भक्ति-परक था।

ज्ञानेश्वरी के ही समान बारकरी-काव्य की कृष्ण-भक्ति-परक था तथा भाति वेद की विपमता की पारस्पर्युति पर ही उभरता था। काव्य के इतिहास की दृष्टि से इन सन्तों में नामदेव तथा एकनाथ उल्लेखनीय हैं। सन्त नामदेव भाति के बर्फी थे। उनका काल १२७०-१३२० ई० माना जाता है। अपनी भाति के कारण ही उन्हें अनेक उपेक्षाओं और अपमानों का सामना करना पड़ा। ब्राह्मणों ने उन्हें बुरी तरह से तुच्छता या और उन्हें अपने साथ न बिठकर मन्दिर के एक कोने में बिठवाया था। इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए नामदेव कहते हैं—

भाति माहीं त्यासी कायसी पंयसी ।

नेचोनी एकसी बैसवीसैं ॥^१

(भातिहीन होने के कारण अपनी पंक्ति में न बिठकर ब्राह्मणों ने उन्हें एक कोने में बिठाया।)

भाति भिन्न पर प्रहार करते हुए वे जाने कहते हैं—

कुम्हार सुमीचरी जगवली तुळसी,

अपवित्र सिधेसी हानों गये ।

नामा म्हुने तैला जातीजा नी छिपी,

उपमा जातीजी वेळें गये ॥^२

(अपवित्र स्थान पर यदि तुळसी का पोषा उग जाए तो उसे अपवित्र नहीं कहना चाहिए। उसी तरह, नामदेव कहते हैं मैं भी भाति का बर्फी हूँ अतः भाति की उपमा न दीजिये।)

इसी प्रकार एक हिन्दी-गद्य में वे कहते हैं—

हीन बीन जाय मोरी बंढरी के रामा ।

ऐसा सुमने नामा बरबी कायकु बनाया ॥

दाल बिना भेकर नामा राजल में छाया

बुझा करी बहान उन्हें बाहोर डकाया ३

१ नामदेव गद्य, पृ. १२२ ।

२ गरी पृ० ६७७ ।

३ गरी पृ० ६८२८ ।

इन उल्लेखों से दिखाई देता है कि निम्न जाति में उत्पन्न होने के कारण उस समय उन्नत भी ब्राह्मणों द्वारा उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाते थे। इसी वर्ष-व्यवस्था से बतल होकर सेना नहीं बढ़ता है—

नी तो पाछे जाति हीन, माता राजा अभिमान ॥^१

(मैं जातिहीन हूँ। मेरी प्रतिष्ठा आपके हाथ में है। आप ही उसे बनाए रख सकते हैं।)

चोखा महार के अमंगों में नी मही वैय्य ब्यक्त हुवा है। चोखा मेका के निम्नलिखित वर्णन से वृद्धों की उत्साहीन स्थिति का सही-सही वर्णन होता है।

जोहार माम्मान जोहार। तुमच्या महाराजा भी महार।

बहु भुकेला बहलौ। तुमच्या उष्ट्यासाठी धातौ।

बहु केसी घाल तुमच्या बाळाचा भी बाळ।

चोखा म्हाचे पत्नी। आभिनी तुमच्या उष्ट्यासाठी।^२

प्रणाम भाव आप प्रणाम। मैं तुम्हारे चपार का भी बमार हूँ। बहुत बूसा हो गया था। इसीलिए आपके बूटन के लिए बड़ी माता से मा पहुँचा हूँ। मैं आपके हाथों का भी दास हूँ। चोखा कहता है आपका बूटन के बाने के लिए टोकरी लाया हूँ।

जाति भेद के कठोर निर्मूलन के कारण ही ब्रह्मावादि से संबंधित कुछ जाति में उत्पन्न ब्राह्मणी संतों ने विद्वत्-मति का मार्ग अपनाया और भक्तिपूर्ण अमंगों की रचना की। ब्राह्मणी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सत्य नामदेव माने जाते हैं। उनकी रचना सूर की तरह सुकम्पत पदों में हुई है तथा उनमें वन-वन कृष्ण की रासलीलाओं से सम्बन्धित शृंगार-प्रधान पद भी समाविष्ट हैं। परन्तु ऐसे पद उत्तान शृंगार की मात्रक स्त्रीकी प्रस्तुत न करके भाव-वर्णन और परम्परा को ही चरितार्थ करते हैं।

संत ज्ञानेश्वर और नामदेव के पूर्व ही उत्तर भारत में यवन राजाओं ने मुस्लिमों को तोड़ना आरम्भ कर दिया था। ज्ञानेश्वर के समाधिस्थ होने के एक वर्ष पूर्व १२१५ में बकादहीन खिल्जी का दक्षिण हिन्दुस्तान पर आक्रमण आरम्भ हो गया था। इस आक्रमण में बकादहीन ने बैरगिरि पर अधिकार बनाकर अपार धन-सम्पत्ति लूटी और मादव राजाओं को अपना सामन्तिक बना लिया। सन् १२०६ में मलिक काफूर द्वारा रामदेवराय यादव पकड़ लिखा गया और बाघ में मुक्त कर दिया गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद हरपाकदेव सिंहासन पर बैठा, परन्तु मुसलमानों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करने के कारण बकादहीन की आज्ञा से मलिक काफूर ने बाघ सींघर उसकी हत्या करवासी। हरपाक-देव की मृत्यु के साथ ही सन् १२१५ में महाराष्ट्र का स्वातन्त्र्य-दीप बुझ गया और पराजय का नैराश्य भाग्य बार छा गया। सामंतों और क्षत्रियों ने मुसलमान घासकों की दासता स्वीकार कर ली। मुसलमान घासक एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में कपास लिहे हुए माने बढ़ रहे थे। अब वे हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बना रहे थे। कई ब्राह्मणों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। 'पचार के पावटी गीत के जैरव कुलकर्णी तथा उसके भेटे

१ श्री सत्य प्रसा सेनगुप्ताजी, १९०

२ श्री सत्य प्रसा, सेनगुप्ताजी, १९०।

सिमाभट ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इस सिमाभट ने ही आने बख्तर महमूद-नगर में निजामशाही की स्थापना की। एलिबपुर (बरार) की इमादशाही का स्थापक फतेहगली भी बाह्य ही था।^१

मुसलमानों के सम्पर्क एवं आधिपत्य के कारण आहमदों के आचार में जब इस्लाम को भी महत्त्व मिलने लगा था तथा हिन्दू सन्तों के समान फकीरों और पीरों की पूजा भी बल पड़ी थी। इन्हीं परिस्थितियों में दत्त-सम्प्रदाय तथा सन्त एकनाथ का प्राबुध्वान हुआ।

बीरहनी घताब्दी में दत्त-सम्प्रदाय के प्रणेता भूषिह सरस्वती तथा जगदीश स्वामी का अवतरण हुआ। दत्त-सम्प्रदाय की स्थापना में भी दत्तात्रेय के रूप में अनेक देवताओं का एकीकरण हुआ तथा आचार पर जोर देकर मुसलमानी सत्ता एवं धर्म से हिन्दू धर्म की रक्षा की गई। इस दृष्टि से दत्त-सम्प्रदाय पूर्ण रूप से समन्वयवादी रहा है। उपर्युक्त सन्तों के पिप्प बर्मावर सरस्वती गुरु-चरित्र के रचयिता माने जाते हैं। 'गुरु-चरित्र' दत्तात्रेय सम्प्रदाय का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है तथा उसका मुख्य विषय है कर्मकाण्ड। महाभारत में यह जन्म अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है तथा आज भी हजारों लोग नियमपूर्वक उसका पठन-पाठन करते हैं। वस्तुतः मुसलमानी राज-सत्ता तथा इस्लाम धर्म के सम्मुख अपने आचरण के बल पर ही स्वामी भूषिह सरस्वती ने वैदिक आतुरधर्म की स्थापना करके स्त्री-मुक्तों को आचार-धर्म का मार्ग दिखाना। संक्षेप में भूषिह सरस्वती तथा 'गुरु-चरित्र' का सिद्धान्त है—

समस्त सुखी ईश्वराधी। स्थावर अथवा रक्षिणी सन्तः।

सर्वत्र वेग असे साजी। तर्क भेद असंख्य ॥

(बड़ और बिल समस्त विषय की दृष्टि ईश्वर ने ही की है। हर वस्तु में मयदान् विद्यमान है। परन्तु तर्क और भेद असंख्य हैं।) 'गुरु-चरित्र' का रचना-काल सन् १५५७ माना जाता है।^२

सन्त एकनाथ का काल १५५५-१५६६ ईस्वी माना जाता है। एकनाथ ने 'नामवत', 'भाषार्थ रामायण', 'दक्षिणी स्वयंवर' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। ग्रन्थ बारकटी सन्तों की भाँति एकनाथ का दृष्टिकोण भी समन्वयवादी रहा है तथा आति मेवका अन्तर्नि बोर विरोध किया है। 'ज्ञानेश्वरी' के पश्चात् प्राचीन मराठी काव्य में एकनाथ की भागवती टीका अत्यन्त लोकप्रिय हुई है तथा साहित्यिक युगों में किसी भी तरह 'ज्ञानेश्वरी' का कम नहीं है। भागवती टीका के माध्यम से एकनाथ ने संस्कृत भागवत को सर्वसाधारण तक पहुँचाकर उसे लोकानु-रक्षिणी तथा लोकप्रिय बना दिया। एकनाथ का काव्य तुलसीदास के समान सरल साधारणीकरण-मुक्त तथा अर्थ-सुलभ है इसीलिए यह अधिक प्रसारपूर्ण एवं लोकप्रिय हुआ।

सन्त एकनाथ ने बहुकारण रहित जीवन्य सबके प्रति समान दृष्टि, धीनों की सहायता तथा कीर्तन-प्रवचन और सबाचार का उपदेश जनता को दिया और हिन्दू धर्म में एक नई चेतना उत्पन्न की। पीर-पूजा का निषेध करते हुए वे कहते हैं—

देऊनि बड़ा प्रवतार। करिषी पुण्यांसा लंहार।

पुढे कमीना प्रवत वरण। देवसे राहिली लज्ज ॥

१. मराठी सन्तों का सांघिक कार्य. डॉ० वि० वि० कोकटे, पृ० ६५।

२. मराठी भाषा काव्य इतिहास दूसरा खण्ड पंजाब, पृ० ११६।

सीमें लांबोनी महिमान, धठरा बर्न एक भासे ।
स्नेह्ये नाबिर्ने देवमपता, महिमा पळोविला सर्वथा ।
न भसे अपतप तत्पता, एक क्य सर्ब भासे ।
बया बार लाव ।^१

(बयाकतार बारन करके तुमने बुष्टों का संहार किया । अब कलिमुम का प्रथम बारन आता है । तीर्थ छोड़कर देवता छिप रहे हैं । कठारह बर्न एक हो गए हैं । स्नेह्यों ने देव भक्तों को बिछल कर दिया है । उनकी महिमा का उच्छ्वास कर दिया है । अप-तप काम नहीं देता । सब कोम एकस्य हो गए हैं । हे देवी अब तो बरबादा बन्ध करो !)

एकनाथ की परम्परा के मुख्य कवि दासोर्वत (१२२१—१९१५ ई०) श्यामकराव (१२०० ई० के लगभग), शिवकल्याण (१२९५—१९१८ ई०) तथा रमावस्त्रभवाच वादि हैं । इनके काव्य में सर्वत्र कृष्ण प्रेम की ही अभिव्यंजना हुई है । श्यामकराव का ग्रन्थ 'आत्मयोग वेदास्त' तथा अँकारोपासनापरक है । शिवकल्याण ने 'नित्यानन्दक्य क्षीपिका', 'रास वंशाध्यायी' 'ब्रह्मस्तुति' आदि ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका मुख्य विषय श्रीकृष्ण-चरित्र-मायन ही है । रमावस्त्रभवाच की पीठा पर 'चमत्कारी टीका' प्रसिद्ध है । 'चमत्कारी टीका' में पीठा के अध्यात्म को और भी सुबोध एवं बाह्य बनाया गया है तथा समस्त ग्रन्थ कृष्ण-भक्ति रस से भरा प्रोव है ।

प्राचीन मराठी काव्य की अन्तिम कड़ी के रूप में मुक्तेश्वर का नाम जाता है । इनके काल के विषय में अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता पर अधिकतर विद्वान् इन्हें सन्त एकनाथ का भानजा मानते हैं तथा उनका समय १६०० से १६५० के आसपास निश्चित करते हैं । मुक्तेश्वर की सबसे प्रसिद्ध रचना 'महाभारत' है पर वह सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है । उसके अतिरिक्त सभा वन विराट तथा छीष्टिक पाँच ही पर्ब आज उपलब्ध हैं । मुक्तेश्वर की कविता में लोकोत्तर प्रसाद, दिव्य ओजसिता तथा सृष्टि-सौन्दर्य की अमृ पम कोमा बँधरीत है । उनकी सबसे बड़ी विशेषता है आत्मान कविता की सर्वथा नितके सर्वप्रथम प्रवर्तक मुक्तेश्वर रहे हैं । सन्त ज्ञानेश्वर को यदि सन्त-साहित्य का भित्ति-पास्क^२ कहा जा सकता है तो मुक्तेश्वर की लौकिक साहित्य की नींव डालने वालों में अग्रवर्ग माना जा सकता है । महाभारत के अतिरिक्त मुक्तेश्वर ने कुछ स्फुट प्रकरणों तथा आरतियों की भी रचना की है जिनमें कई नीति-पत्र भी हैं ।

ब्रह्मसुत विरय की सीमार्जी के अन्तर्गत कृष्ण भक्ति-परम्परा के अन्तिम मुख्य सन्त कवि के रूप में तुकाराम उल्लेखनीय हैं । तुकाराम का जन्म-काल १६०५ ई० माना जाता है । तुकाराम ने अपने काव्य की रचना बर्मों में की है । उनके सभी वर्ण्य भक्तोपवीवी हैं । संकीर्तन इनके आचार का प्रभाव जंग होने के कारण उनके सभी वर्ण्य हृदय से प्रस्फुरित हुए हैं । इसीलिए उनमें देवता के ताप-भाव हृदयमत्त बावों के आरोह-अवरोह का सुन्दर चित्र अंकित हुआ है । तुकाराम के वर्ण्य परमेश्वर-विषयक, अनुभव-विषय, उपार्जन दास्य,

१ वचनत्रय दास्य, पन् १४१५ ।

२ बरा बरत है कि श्रीगणेश बापक कोमी ने पेट के पक्षर पर भी ज्ञानेश्वर ने कस दोषन को जगजग या विष पर है कस समय बँडे हुए थे ।

प्रेम, वास्तव्य भावों से ओत-ओत है तथा उनका काव्य स्वानुभूत एवं हृदय से स्फुरित होने के कारण महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। तुकाराम ने कृष्ण-गोपी-सीताओं को लेकर भी कुछ अर्थों की रचना की है पर वे संख्या में बहुत कम और परम्परानुसृत होने के कारण उनमें अन्त तुकाराम की स्वाभाविक मानुषता तथा बिह्वलता के, जो अन्य अर्थों में झूट-झूटकर भरी हुई है, दर्शन नहीं होते। कबीर की भाँति अन्त तुकाराम ने भी व्यावहारिक रस और पावन्य को भाड़े हाथों किया है तथा कबीर की ही भाँति उनकी रचनाएँ भी लोकोक्ति-रूप बन गई हैं।

तुकाराम के जन्मनामक एवं जोरस्वी अर्थों ने मौखिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक नैतिक-वस्तु-संश्लेषण का कार्य किया है। इस चरित्र के साथ-ही-साथ धर्माभिमान स्वामि निष्ठ एरीर-मुक्त की अपेक्षा धर्म-नीति का अष्टोत्तर धर्म-कर्म की अपेक्षा चित्त शुद्धि तथा सहाचार का महत्त्व आदि उच्चतर जीवन-मूल्यों का परिचय अन्त तुकाराम ने सर्वसाधारण जनता को कराया। उनके इस विधायक कार्य में ही विवाही के कार्य के लिए उपयोगी ध्येयनिष्ठ सुसंघटित तथा कार्यक्षम मराठा समाज पैदा किया।^१

सन् १६४६ में महाराष्ट्र में स्वराज्य-स्थापना के आत्मीय यत्न संस्कारों को उठाड़ फेंकन और भारतीय संस्कृति की पुनः स्थापना करने का भरसक प्रयत्न होने लगा। छान्ति के इस युग में संस्कृत छन्दों का अध्ययन हुआ और साथ ही पौराणिक और संस्कृत छन्दों का मराठी में अनुवाद भी होने लगा। संस्कृत छन्दों का मराठी में अधिकारिक प्रयोग होने लगा और भाषा भी संस्कृत के ढंग पर लिखी जाने लगी। छान्ति और समृद्धि के इस युग ने मराठी के पंडित कवियों को जन्म दिया। पंडित कवियों की प्रवृत्ति काव्य-मुक्तों और शृंगारिक-वर्णनों की ओर अधिक थी। यह प्रवृत्ति कृष्ण-सीता-वर्णनों में अधिक प्रकट हुई है। परन्तु, प्राचीन परम्परा अन्त-काव्य और स्वराज्य-काल के नैतिक बन्धनों के कारण उनके शृंगार में हिन्दी-उत्पल-शृंगार का रंग अधिक नहीं बढ़ सका। ऐश्वर्या-काल में जब महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता का बीज हृदयमें होने लगा और विचारिता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। तब यही शृंगारिक प्रवृत्ति अदलीक छावधियों में मुखरित हो उठी।

उपरोक्त परिस्थितियों से स्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्रीय छन्दों ने गीता और महामातृ के कृष्ण को ही अपने काव्य का विषय नवीं बनाया। वास्तव में कृष्ण के इन कव्यों का तुलना करते पञ्चमूक समाज में धर्म की पुनः स्थापना करना ही इन छन्दों की अभीष्ट था। इसीलिए आमजन-मुखा का पर्याप्त प्रचार होते हुए भी छन्दों ने कृष्ण की केकि-सीताओं को अपने काव्य में अधिक महत्त्व नहीं दिया बल्कि परम्परा से ज्ञात कृष्ण के योगेश्वर रूप का ही मुख्यतः वर्णन किया है। शृंगारिक और बाल-सीताओं का वर्णन प्रासंगिक मात्र है। इस दृष्टि से मराठी कृष्ण-कविता बहुविध है। उसमें हिन्दी की भाँति एकरसता दृष्टिपथ नहीं होती।

मराठी कृष्ण-काव्य के स्वरूप-निर्धारण में महाराष्ट्र की मौखिक स्थिति ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। महाराष्ट्र पहाड़ी प्रदेश है। उत्तर भारत की भाँति वहाँ की धूमि जगजाह्न नहीं है। बिना कठिन परिश्रम के फलक नहीं होती। अतः वहाँ की जनता उत्तर

पाठ की अपेक्षा कमहीन है। बिना एड़ी-चोटी का पसीना एक किये पेट भरना बनता के लिए असम्भव है। इसीलिए महाराष्ट्र के लोग स्वभाव से ही परिश्रमी हैं। वे बुद्धिजीवी और धर्मजीवी एक साथ हैं। जीवन का सारा समय जीवन-साधन में व्यतीत होने के कारण भिक्षाधिका की ओर प्रवृत्त होने के लिए न तो उनके पास समय है और न साधन। बनता की इस स्वभाविक और प्रवेश की शैक्षणिक विशेषताओं का भी मराठी के कल्प-काव्य पर प्रचुर मात्रा में प्रभाव पड़ा है और इसीलिए मराठी कवियों की प्रकृति कल्प की श्रुतिमय शैलियों की ओर खिंची नहीं रही जिसकी अन्य प्रदेशों के कल्प-अर्थ कवियों की रही है। मराठी कल्प-काव्य पर राष्ट्रीयता का बहुत रंग पड़ा हुआ दृश्यमान होता है।

दक्षिण में आबाधों द्वारा कल्प भक्ति की स्थापना और महाराष्ट्र में कल्प-भक्ति की स्थापना लगभग एक ही काम तथा एक-ही ही परिस्थितियों में सम्पन्न हुई-सी प्रतीत होती है। दक्षिण की ही शक्ति महाराष्ट्र में भी कल्प-भक्ति मार्ग पर कर्नाटक का प्रभाव तथा जासवारों का विशेष प्रभाव अधिकजित होता है। जासवारों की विद्वत्ता की कल्पना मात्र विद्वत्ता तथा रसवित्त भवनों की शोकप्रियता ही बहु कारण प्रतीत होती है जिससे विष्णु के धर्म अवतारों की अपेक्षा कल्पा प्रचार की केन्द्र ही भक्ति-काव्य की उत्पत्ति हुई। इसका अर्थ है कि कल्प-भक्ति में कल्प को पुत्रों की परम्परागुस्तार विष्णु का ही पूर्ण अवतार मानकर बतलाना को प्रयत्न दिया। कल्प और विष्णु के अन्तर की इस कल्पना के लिए जिस प्रकार पुत्रों का सम्बन्ध बापों इतिहास उत्तरदायी रहा है, उसी प्रकार धार्मिक भाषा में महाराष्ट्र पर कर्नाटक का प्रभाव भी उत्तरदायी रहा है। महानुभाव पन्थ द्वारा विद्वत्ता मार्ग का स्वीकार तथा ब्राह्मण पन्थ में विद्वत्ता की कल्पना इस विद्या में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं।

पहले कहा गया है कि विद्वत्ता कर्नाटक की कल्पना है। पांडुरंग मन्दिर के दिनांक में संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा का प्रयोग^१ की विद्वत्ता का कर्नाटक के ज्ञान निश्चित करता है। विद्वत्ता मूल की प्राचीनता भी इसी बात को सूचित करती है। मैसूर राज्य के एक सिमावेष्ट के अनुसार पृथ्वीक का समय यादगिराहन तथा के अन्तर्गत एक के समय निश्चित होता है। विद्वत्ता कल्पना पांडुरंग की प्राचीनता प्राचीन संत-भावों में भी व्यक्त हुई है। मास संकराचार्य कहते हैं —

परशुरामिन् मने पांडुरंगम् ।^२

नामनेन उन्हें महाईन गुण से ईंट पर राखा हुआ पाते हैं—

‘युने महाईन विद्वत्ता कला ।’^३

(महाईन गुणों से ईंट पर लगे हैं।)

जानने नामनेन के मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

‘हे मधु आधिकारिन् युने महाईनिक ।’^४

१ महाराष्ट्र के बीच सम्बन्ध १०१३ बीसवीं, १०१४।

२ महाराष्ट्र, कर्नाटक १६२४, १०१५।

३ महाराष्ट्र के बीच सम्बन्ध १०१५।

४ बी, १०१५।

(जि वाचकक ही नाही अट्टाईस युगों से यों ही बडे हैं ।)

तुकाराम का कथन है—

‘युगे प्तासी अट्टावीस अणुनी न हानयी बैस ।’^१

(अट्टाईस युग हो गए, परन्तु अब भी बैठने की बात नहीं कहते ।)

उपरोक्त सभी उल्लेख विद्वत् की प्राचीनता की पुष्टि करते हैं । पर विद्वत् के प्राचीन होते हुए भी महाराष्ट्र में विद्वत्-भक्ति का प्रचार कई सताब्दियों के बाद होना इस बात को स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि महाराष्ट्र में प्रविष्ट होने के पूर्व विद्वत्-भक्ति कर्नाटक क्षेत्र में विद्यमान थी । मूर्ति के मस्तक पर शिखरिण का अस्तित्व भी कर्नाटक में प्राचीन काल में विद्यमान शिव और विष्णु के भेद एक तदनन्तर ऐक्य का चोत्क है । बसायी में विद्यमान चार प्राचीन मन्दिरों में से एक में हरिहर की मूर्ति इसी कथन की पुष्टि करती है ।

शक्ति की मूर्ति महाराष्ट्र में भी वैष्णव-शैव विरोध का सर्वथा अभाव रहा है । ऐसी दशा में विद्वत्-मूर्ति में शिव-विष्णु का ऐक्य महाराष्ट्र की किसी धार्मिक प्रवृत्ति-विशेष को सूचित नहीं करता ।

कर्नाटक में विद्वत्-भक्ति का प्रचार कव्य कई बाँधों से भी प्रभावित होता है । ई० स० १२८० के लगभग छायट नामक कन्नड़ कवि ने बगल्लाव को ही विद्वत् कहा है ।^२ वेण्णवी-वीरुवी सताब्दी में विद्यमान कन्नड़ कवि बीररत्न ने पंढरी क्षेत्र का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है ।^३ कन्नड़ कवि हरिबात तो उसके विद्वत्-भक्त ही थे । धात्र क्षेत्र में आज भी पांडुरंग के कई मन्दिर बने हुए हैं । इसी प्रकार तेलुगु छोकगीतों में पांडुरंग तथा पंढरी के कई वर्णन मिलते हैं ।^४ कर्नाटक के हरिबातों का विद्वत्-भक्ति में विशेष हाव रहा है ।^५

बारकरी पर्व के आचारवर्ग के अन्तर्गत विष्णु और शिव का ऐक्य कव्य वर्गों के प्रति उदारता भाति-भेद का अन्तर्गत भाति में भी कर्नाटक का विशेष हाव रहा है । कन्नड़ के प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि कव्य वर्गों के प्रति कर्नाटक का दृष्टिकोण भारम्भ से ही अत्यन्त उदार रहा है ।^६ पर आश्चर्य की बात यह है कि इसी की सातवीं सताब्दी तक कर्नाटक में कृष्णोपासना का कोई भी स्पष्ट ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता । द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा निमित्त विद्या श्याम लोकेस्वर, कासी विचयनाथ मल्लिकार्जुन आदि प्राचीन मन्दिरों के स्तम्भों पर श्रीकृष्ण-जीवन-विषयक कथाओं के लिप्य^७ से इतना अवसर मिलित होता है कि सातवीं सताब्दी के पूर्व लोक में कृष्ण-कथाओं का बहुलता से प्रचार हो चुका था । यही स्थिति अल्पाधिक भाषा में गुजरात की भी रही है । ऐसी दशा में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मराठी कृष्ण-कव्य को कर्नाटक की देन विद्वत् की कल्पना हरिहर

१ महाराष्ट्र के गीत संग्रहण पृ० ८० ।

२ मार्तण्ड पञ्चम नाम की नीलर मुद्रकपी, पृ० ११० ।

३ वही ।

४ वही ।

५ कर्नाटक दर्शन, पृ० २३४ ।

६ कर्नाटक दर्शन पृ० १०६ ।

७ वही, पृ० १२१-२४ ।

ऐस्य तथा बार्मिक सहिष्णुता ही रही है पर भारुही-बारुही सताही में महाराष्ट्र में कृष्णोपासना के स्वतंत्र रूप से आरम्भ में विनियतता मुबरात का ही ह्रास रहा है जो महानुभाव पन्थ के उदय में अनिच्छित होता है।

मराठी काम्य पर मुबरात के प्रभाव का विवेचन करने के पूर्व प्राचीन मुबरात में कृष्ण-भक्ति के स्वरूप पर विहंगम दृष्टि डालना समीचीन होगा। मुबरात और काश्याबाइ के प्राचीन शिष्य के अवलोकन से प्रतीत होता है कि इसी की मुबरात का प्रभाव और भीषी-भीषी सताही में युक्त राजवंश के आगमन के पूर्व मुबरात महानुभावों के दृष्टि में वैष्णव उपासना का कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।^१

वस्तुतः इसी की आरम्भिक सतावियों में मुबरात में हीन वर्ग का ही प्रचार था। तत्पश्चात् बीड एवं बीन वर्गों के बढ़ते हुए प्रचार की प्रक्रिया-स्वरूप सताही सताही के लगभग मुबरात में लक्ष्मण पादुपत सम्प्रदाय का प्रभुत्व ही हुआ तथा यह समस्त बुर्जर देश में लोकप्रिय हो गया। इस सम्प्रदाय का उल्लेख आदि शंकराचार्य ने भी किया है।^२

इस वस्तुस्थिति का समर्थन मुबरात के प्राचीन मन्थिरों एवं शिवालयों के अवलोकन से भी होता है। मुबरात के सभी प्राचीन मन्थिर या तो शिव के हैं या शिव-विष्णु के। विष्णु के स्वतंत्र मन्दिर के सम्बन्ध में केवल एक ही प्राचीन शिवालय उपलब्ध है।^३ इसी प्रकार भीमर की देवपाठन प्रशस्ति से रोहिणी-स्वामी मन्दिर का पता चलता है।^४ यद्यपि मन्थिर में कैलाश की ही मूर्तियाँ थीं, तथापि उनके नामकरण से प्रतीत होता है कि उसका निर्माण ब्रह्मन् तथा रोहिणी की पुष्प-स्मृति में हुआ था।^५ मुबरात में स्वतन्त्र रूप से कृष्ण भक्ति का सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रमाण जनाबाब का शिवालय है जो सन् १३४८ का माना जाता है।^६ इस शिवालय में कृष्ण-पूजा के लिए दान तथा उसमें गीतवोचिन्म के आरम्भिक वर्गों के उद्धार से प्रतीत होता है कि मुबरात में सर्वप्रथम कृष्ण-भक्ति का स्वतन्त्र रूप से प्रचार गीतवोचिन्म की रचना के पश्चात् हुआ।^७ अतः आवश्यक था कि मुबरात की आरम्भिक कृष्ण भक्ति में मामूली वर आचारित अवसर की धृष्ट-प्रधान भक्ति तथा प्राचीन वासुदेव-सम्प्रदाय की कृष्ण-भक्ति दोनों का प्रभाव पड़ता। यह प्रभाव स्वामी ब्रह्मन् द्वारा प्रशस्ति महानुभाव पन्थ के उत्प-निकषण में दृष्टिवोचर होता है।

महाराष्ट्र के बापि बार्मिक सम्प्रदाय महानुभाव-पन्थ के प्रवर्तक स्वामी ब्रह्मन् माने जाते हैं। स्वामी ब्रह्मन् स्वयं महाराष्ट्रीय नहीं थे। वे नरवत (नरवान मर्दोच) के मुख राठी राजा विद्यादेव के पुत्र थे तथा उनका पहलेका नाम हरिपाददेव था। यही हरिपाद-देव जाये ब्रह्मन् महाराष्ट्र में 'ब्रह्मन्' के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक बने। जन्मत मुबराती होते हुए भी महारानी ब्रह्मन् ने बापिक कार्य के लिए

१. आम्बेजोरी बीड मुबरात पन्थ की संकलित, १, २२।

२. यही।

३. यही।

४. यही।

५. यही।

६. यही।

मुद्राराक्षस को छोड़कर महाराष्ट्र को कुला तथा महाभुजंग तत्त्वज्ञान का कोक-माया मराठी में प्रचार करके जनता को सच्चे धर्म की ओर अग्रसर किया। धर्म प्रचार के लिए महात्मा चक्रवर्त का गुजरात की अपेक्षा महाराष्ट्र को चुनना दो बातों पर प्रकाश डालता है। एक यह कि उस समय मुद्राराक्षस में पाशुपत, जैन तथा बौद्ध धर्मों के अत्यधिक प्रचार के कारण वहाँ किसी भी नूतन धार्मिक विचारधारा का उद्भेद असम्भव था तथा दूसरे, महाराष्ट्र में बहु-व्यापार के अस्तित्व उसके प्रति जनता की असीम आस्था तथा सामाजिक दुर्बला के कारण सबसे पहले महाराष्ट्र को ही मार्म-वर्धन की आवश्यकता थी। स्वयं महात्मा चक्रवर्त के बचन 'महाराष्ट्री बचावे' (महाराष्ट्र में रहना चाहिए) इसी पार्श्वभूमि को सूचित करते हैं। वहाँ महाभुजंग पन्थ के तत्त्वज्ञान तथा उसके अन्तर्गत कृष्ण के स्वरूप का विवेचन करने से लोके जन परिस्थितियों पर विचार करना अनिवार्य है जो इस पन्थ के आधिपत्य के कारण नहीं।

मराठी काव्य-ग्रन्थों का आरम्भ समथग बाह्यही सताम्बी से होता है।^१ जिस समय महात्मा चक्रवर्त का महाराष्ट्र में आगमन हुआ तब से लेकर उनके प्रभाव-काल तक महाराष्ट्र पूरी तरह स्वाधीन था तथा परछाया के दुष्परिणामों का उसे तनिक भी अनुभव नहीं था। यह वह काल था जब महाराष्ट्र पर पाषण राजाओं का राज्य था। बादव राजा स्वयं धर्मशील थे तथा देशांत में उनकी पूर्ण आस्था थी। ऐसी वृत्ता में आवश्यक था कि अनेक विद्वान् पंडित राजाधन प्राप्त करते और वस्तुस्थिति भी यही थी। राजाओं की उदार एवं सहिष्णु प्रकृति के कारण जैन, क्रियायत, जोगी, नाथ बौद्ध आदि संप्रदायों के अनुयायी भी अपने-अपने मतों का वन-वन प्रचार कर रहे थे। ई० स० ११८५ में मुकुन्दराज द्वारा उचित 'विवेक सिन्धु' से इसी वस्तुस्थिति का पता चलता है।^२ पर राजाधन के कारण मुकुन्द वैदिक धर्म का ही शोषणात्मा था। दूसरे धर्मों में महाराष्ट्र चक्रवर्त के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में चातुर्वर्ण्य अत्यंत विपन्न रूप धारण कर चुका था तथा उसकी विपन्नता केवल बाह्याधिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर दैनिक व्यवहार में भी व्याप्त हो चुकी थी। इस विपन्नता के अन्तस्वरूप समाज का निम्न वर्ग तथा स्त्रियाँ धर्म से वंचित रह गई थीं। उत्क्रांतीन हैमात्र पंडित की 'चातुर्वर्ण्य विष्ठासमिति के 'प्रतयम्ब' में विभिन्न वैद्यकों की उपासना के लिए धर्म में व्ययन दो प्रकार वर्गों के आयोजन से पता चलता है कि इस समय अनेक वैद्यकों की उपासना के साथ-साथ अनेक वर्गों का पाकन करना धर्म का एक आवश्यक अंग बन चुका था जो स्पष्ट रूप से जन्म वर्गों पर बाह्यधर्मों की सत्ता को सिद्ध करता है। जन्म वैद्यकों की उपासना के कारण ही आचार में भी अनेक तत्त्व समाविष्ट हो गए थे यथा भोजन-अष्टमी, यमोज-चतुर्नी के व्रत और नवरात्र में देवी की पूजा के साथ-साथ विजया दशमी को भैंसे का बलिदान। इस प्रकार एक ही ध्येय तक पहुँचने के लिए एक साथ अनेक मार्गों का अनुशीलन हो रहा था। महात्मा चक्रवर्त ने इसके परिणाम की समझा और बहु-वैद्यवाद के दुष्परिणाम की रोकने के लिए एकेस्वरभाव पर जोर दिया। अपने प्रतिपादन में ईश्वर-निर्वाण एक दृष्टि में उन्होंने ८१ कोटि तथा काष्ठ वस वैद्यकों की माता तथा उनके मृनाधिक सामर्थ्य के अनुसार जनक पत्नी को भी धिन्-प्रिन् बताया। उन्होंने इस बात पर

१ मराठी ग्रन्थों का सामाजिक कार्य डॉ० वि० वि० कोल्होटे पृ० १ ।
२ पृ० १, १११।

बोरो दिया कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनेक छोटे-बड़े देवताओं की उपासना करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वास्तव में ये सब देवता ईश्वर के अंगीन हैं तथा मोक्ष देने में सर्वथा असमर्थ हैं। मोक्ष केवल ईश्वर ही दे सकता है। अतः अनन्य माय से उसीकी उपासना करने से जीव उन्हींके फल को प्राप्त करता है। पुण्य का अर्थ होते ही फिर से अपनी मूल अवस्था में पहुँच जाता है। एकेश्वरवाद के प्रतिपादन के लिए महारामा चक्रवर्त ने संकराचार्य के अद्वैतवाद का सफाई करके ईश को माना है तथा अनेक देवी-देवताओं की उपासना से भीय-माय को मुक्त करने के लिए उन्होंने वेदों को अयोग्य बतलाया क्योंकि उनके मतानुसार वेदों की दृष्टि केवल माया अथवा शैतन्य देवता तक ही सीमित है—

‘कथंवा एषु हि विभक्त्यैतन्मात्रेण व्यस्तित्वस्यैवाने’^१

(वेदों की दृष्टि केवल शैतन्य देवता अथवा माया तक ही सीमित है।) और माया है परमेश्वर की शक्ति। केव विपमया का मुक्त आचार होने के कारण उन्होंने उनकी अव्यक्तता सिद्ध की तथा इस प्रकार चातुर्वर्ण्य की शुद्धता से समाज को मुक्त करने का प्रयत्न किया। साथ ही अपने अनुयायियों को ‘चातुर्वर्ण्यं चरेत् प्रीत्यम्’^२ का उपदेश देकर उन्होंने बाह्य सम्पत्ती भेदाद्वेद का उन्मूलन किया। उन्होंने धृष्ट और श्मी—दोनों को सम्पास का अधिकारी माना तथा आवश्यकता पड़ने पर असुखों की बस्ती में जाकर भी धर्म का ज्ञान प्राप्त करना स्वीकार किया—

‘महारथाऽहोमि भवुं कदापि’^३

इसी प्रकार उन्होंने कुमार्सुत का विरोध करके यक्ष को निषिद्ध माना—‘मत्त इक्ष्य न सेवा गा’^४ तथा अहिंसा के साथ सम्पास को प्रचलित दी। अतः हम देखते हैं कि महारामा चक्रवर्त ने उन सभी तत्त्वों को अस्वीकार किया जो अवस्था को उन्नति की ओर ले जाने वाले थे। इन सभी तत्त्वों का जीव नीचा ले होने के कारण उन्होंने गीता को प्रभावपूर्ण माना तथा कृष्ण को साक्षात् परमेश्वर का अवतार मानकर संकराचार्य के पंचात्मन को बस्ती फार करते हुए भी सत्ताभेद (एकमुखी) श्रीकृष्ण, श्री चक्रवर्त, श्री योगिन्द्र प्रभु तथा श्री चक्रवर्त को साकार परमेश्वरावतार मानकर ‘पंचकृष्ण’ की उपासना को मान्यता दी।

महानुभाव उपजाय का मुख्य आधार गीता होने के कारण महानुभाव उपजाय के रूप में एक प्रकार से गीता के ही शिक्षाओं की पुनरुत्पत्ति-सी प्रतीत होती है। जिस प्रकार गीता में प्राचीन ज्ञान कर्म और धर्म को एकत्र करके विभिन्न साधना-मार्गों में सामंजस्य स्थापित किया गया है, उसी प्रकार महारामा चक्रवर्त ने सभी प्रचलित धर्म-तन्त्र धर्मों के अनेक तत्त्वों को एकत्र करके वास्तविक धर्म का स्वरूप निश्चित किया। उनका कथन—

सक्यही धार्म्यं वा सास्त्राणि विज्ञातिः परे हि कथंवाही न भिन्नः^५

१. उपपाद सं० ३० या देवे विकलकला १४।

२. श्री चक्रवर्तिका २१।

३. श्री चक्रवर्तिका, १४१।

४. श्री, उपदेश, ५ ३।

५. उपपाद, विचार, ४० १३१।

गुजरात को छोड़कर महाराष्ट्र को चुना तथा महाभुजा तत्त्वज्ञान का खोक भाषा मराठी में प्रचार करके जनता को सच्चे धर्म की ओर आकर्षित किया। धर्म प्रचार के लिए महात्मा चक्रवर्त का गुजरात की अपेक्षा महाराष्ट्र को चुनना दो बातों पर प्रकाश डालता है। एक यह कि उस समय गुजरात में पालुपत जैन तथा बौद्ध धर्मों के अत्यधिक प्रचार के कारण वहाँ किसी भी नूतन धार्मिक विचारधारा का उद्रेक असम्भव था तथा दूसरे, महाराष्ट्र में बहु देववाद के अस्तित्व उसके प्रति जनता की असीम आस्था तथा सामाजिक दुर्बला के कारण सबसे पहले महाराष्ट्र को ही मार्ग-चिह्न की आवश्यकता थी। स्वयं महात्मा चक्रवर्त के वचन 'महाराष्ट्री असाधे' (महाराष्ट्र में रहना चाहिए) इसी पार्श्वभूमि की सूचित करते हैं। अतः महाभुजा पत्र के तत्त्वज्ञान तथा उसके अन्तर्गत कृष्ण के स्वरूप का विवेचन करने से पहले उन परिस्थितियों पर विचार करना अनिवार्य है जो इस पत्र के आविर्भाव के कारण बनीं।

मराठी काव्य-ग्रन्थों का आरम्भ लगभग बारहवीं शताब्दी से होता है।^१ जिस समय महात्मा चक्रवर्त का महाराष्ट्र में आगमन हुआ, तब ही लेकर उनके प्रयाण-काल तक महाराष्ट्र पूरी तरह स्वाधीन था तथा परछावता के दुष्परिणामों का उसे तनिक भी अनुभव नहीं था। यह वह काल था जब महाराष्ट्र पर यादव राजाओं का राज्य था। यादव राजा स्वयं वर्मखील से तथा वेताल में उनकी पूर्ण आस्था थी। ऐसी दशा में आवश्यक था कि अनेक विद्वान् पंडित राजाधम प्राप्त करते और वस्तुस्थिति भी यही थी। राजाओं की उदार एवं सहिष्णु प्रकृति के कारण जैन विचारधारा जो भी नाम बौद्ध धार्मिक संप्रदायों के अनुयायी भी अपने-अपने मतों का वचन-तन्त्र प्रचार कर रहे थे। ई० स० ११८५ में मुकुन्दराव हाठ रचित 'विवेक चिन्तु' से इसी वस्तुस्थिति का पता चलता है।^२ पर राजाधम के कारण मुख्यतः वैदिक धर्म का ही शोकासा था। दूसरे शब्दों में महात्मा चक्रवर्त के आगमन के पूर्व महाराष्ट्र में चातुर्वर्ण्य अत्यन्त विषम रूप धारण कर चुका था तथा उसकी विषमता केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर वैदिक व्यवहार में भी व्याप्त हो चुकी थी। इस विषमता के फलस्वरूप समाज का निम्न वर्ग तथा स्त्रियाँ धर्म से वंचित रह गई थीं। उत्काशीन हेमाद्रि पंडित की 'चातुर्वर्ण्य चिन्तामणि' के 'वृत्तसूत्र' में विभिन्न देवताओं की उपासना के लिए वर्ष में लगभग दो हजार श्रृंगों के आभोजन से पता चलता है कि इस समय अनेक देवताओं की उपासना के साथ-साथ अनेक श्रृंगों का पाकन करना धर्म का एक आवश्यक अंग बन चुका था जो स्पष्ट रूप से अन्य वर्गों पर ब्राह्मणों की सत्ता की छिद्र करता है। अनेक देवताओं की उपासना के कारण ही आचार में भी अनेक तत्त्व समाविष्ट हो गए थे जहाँ बौद्ध-जट्टनी गणेश-चतुर्गुरु के श्रृंग और नगराज में देवी की पूजा के साथ-साथ विद्वत् ब्रह्म की मैसे का बलिदान। इस प्रकार एक ही ज्येष्ठ तक पहुँचने के लिए एक साथ अनेक धर्मों का अनुशीलन हो रहा था। महात्मा चक्रवर्त ने इसके परिणाम की समझा और बहु देववाद के दुष्परिणाम को रोकने के लिए एकेस्वरवाद पर जोर दिया। अपने प्रतिपादन में ईश्वर-निमित्त एक सृष्टि में उन्होंने ८१ कोटि सत्ता साक्षर देवताओं को माना तथा उनके प्लुताधिक सामर्थ्य के अनुसार उनके शक्तियों को भी निम्न-निम्न बताया। उन्होंने इस बात पर

१ मराठी ग्रन्थों का सामाजिक कार्य डॉ. दि० वि० कोल्ते २०-१०।

२ को०, १ ११।

ब्रह्मण्य साधनों की भी मुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनसे सब-बन्धन नहीं छूटता ।)

इसी प्रकार सन्त तुकाराम जी बैकुण्ठ के मुख को मासवान् मानते हैं—

“मनो बैकुण्ठीया वास । असे तथा सुखा नाथ ।”

(मुझे बैकुण्ठ का मुख नहीं चाहिए, ऐसे सुख का नाथ होता है ।)

श्रीकृष्ण को परमेश्वरानुसार मानने के साथ-साथ महाशुभाव पण्य ने भागवत में वर्णित कृष्ण-मीसामों को भी मान्यता दी है । कृष्ण और गोपिधों का रास जसौकिक क्रीड़ा है तथा उसमें हिंसी-कृष्ण-काव्य की भाँति लौकिकता का कहीं भी पट नहीं है । इसी प्रकार महाशुभाव पण्य के सन्त-कवियों ने राजा और कृष्ण को लेकर भक्ति शृंगार के पर्वों से काव्य भण्डार को नहीं घरा है । अपने सिद्धांत-निरूपण में उन्होंने प्रेमरास को ब्रह्म स्वीकार किया है, पर वहाँ प्रेम का स्वस्व कुछ प्रेम-भाव है क्योंकि परमेश्वर स्वभावतः कृपाधु है तथा वह अवतार की भक्तों के उद्धार के लिए तथा उन्हें अपना साम्निध्य प्रदान करने के लिए ही नाराज करता है । भक्तों को मोक्ष प्रदान करना उसे अस्पृश्य प्रिय है जिसके लिए वह स्वयं बारम्बार साकार होता है ।

‘परमेश्वर निर्विकार निराकार असे, परिकृपावर्ध साक्षी

साक्षात् होए, अवतारे, आपुलें समिधान दे ।”

(परमेश्वर निर्विकार, निराकार है, किन्तु कृपावश वह साकार होकर अवतार होता है तथा भक्तों को अपना साम्निध्य प्रदान करता है ।)

धर्मराचार्य की भाँति केवल ज्ञान को ही मोक्ष का साधन न मानकर महाशुभाव पण्य के आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति दोनों को मान्यता दी है । परमेश्वर की अनन्य-भक्ति के लिए ईश्वर, जीव वेष्टा और प्रपञ्च का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है । जो वैसा है, उसे वैसा जानना ही ज्ञान है—

“जो जेसे असे ते तेसे जाणिके तें ज्ञान”

(जो वैसा है उसे वैसा समझना ही ज्ञान है और यही ज्ञान की सार्वकता है ।)

इस प्रकार मराठी भक्ति-काव्य को महाशुभाव आचार्यों की देन है—जनेक देवी देवताओं को छोड़कर केवल परमेश्वर की ही अनन्य भक्ति मात्र से उपासना, विध्यु से भी ओष्ठ परमेश्वर के रूप कृष्ण का स्वीकार, परमेश्वर का मुख रूप में निराकार होना तथा कृपावश भक्तों के लिए साकार होना बलिष्ठ और घोषित वर्ग को वर्ग का अधिकार, हिंसा और मादक द्रव्यों का निषेध तथा संन्यास की आवश्यकता । इन सभी बातों का परवर्ती मराठी काव्य पर गूनाधिक प्रभाव पड़ा है ।

महाशुभाव पण्य के प्रमुख ग्रन्थ सात माने जाते हैं—१ ‘वत्सहरण’, २ ‘सिधुपास वच’, ३ ‘उद्धव गीता’ ४ ‘नरैन्द्र कवि कृत ‘रुक्मिणी स्वयंवर’, ५ ‘आज्ञापुर वर्णन’, ६ ‘सहपात्रि वर्णन’ तथा ७ ‘ज्ञान प्रबोध’ । इन ग्रन्थों के आधार-सूत्रम श्रीमद्भगवद्गीता तथा भागवत होने के कारण ‘वत्स हरण’ ‘सिधुपास वच’ तथा ‘रुक्मिणी-स्वयंवर’ में भक्ति शृंगार की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है । ‘रुक्मिणी-स्वयंवर’ में शृंगार रस की प्रधानता होने के कारण यह ग्रन्थ

(सभी सात्वत इसमें आ जाते हैं, परन्तु यह स्वयं सबसे निम्न है।)

इसी सत्य की ओर निर्देश करता है।

महानुभाव पंच धीकृष्ण का उपासक होते हुए भी वैष्णव पंच नहीं हैं क्योंकि वह कृष्ण को अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों की भाँति विष्णु का अवतार न मानकर साकार परमेश्वर-वतार मानता है।

“आह्वयधुवनस्तोत्राः पुनरावर्तिनोऽर्चन”^१

के आधार पर ब्रह्मलोक सहित सभी लोक पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य हैं। तब भक्त विष्णु का वैकुण्ठ भविष्यी कंठ हो सकता है और विष्णु-उपासना का फल है वैकुण्ठ-प्राप्ति।

“तत्तद्विह कर्मवित् लोकः क्षीयते एकमेवमुक्त्येव पुण्यमितः लोकः क्षीयते”^२
यै भी पुण्य द्वारा प्राप्त किये हुए परलोक का सब माना गया है। इस प्रकार महा-नुभाव पंच के कृष्ण की कल्पना दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों से प्रभावित न होकर कृष्ण-विषयक प्राचीन साहित्यों पर आधारित है तथा उसका सीमासम्बन्ध द्वारावती या द्वारका से है जहाँ ईसा-पूर्व कममव दूसरी शताब्दी तक कृष्ण विष्णु के अवतार न समझे जाकर परमेश्वरवतार माने जाते थे। अब इस साहित्य में प्राचीन परम्परा का ही निर्वाह बहिः कक्षित होता है जिसे परवर्ती सन्तों ने भी वच-वच स्वीकार किया है यद्यपि साधना के क्षेत्र में वे पूर्वस्वेष वैष्णव ही थे। सन्त रामदास के वचन—

“वैकुण्ठनाम विष्णुमुपास्ये। सत्य लोक नाम ब्रह्ममुपास्ये।

धरतरुती इन्द्राये, स्थल जामिनी ॥१३॥

धरे क्या देवाये नमन कराये। धरे त्या देवभोली रहाये ॥२३॥

मुकुट पाये तब जीसिन्ही मुकुट सरताय इकमुन देती।

साधन देवते भस्ती। बीसे सीसे ॥२६॥^३

(विष्णुलोक का नाम वैकुण्ठ है और ब्रह्मलोक का सत्यलोक। इन्द्र का स्थान धर रावती उनसे नीचा है। यहाँ जिस देवता की शक्ति करोवे उसी के लोक में पहुँचोये। जब एक पुण्य होया सुखों का उपभोग करोये। पुण्य समाप्त होते हैं पुन भूतलोक में जाला पड़ता है परन्तु देवता बीसे से बीसे ही रहते हैं।)

महानुभावपन्थी इसी मान्यता का समर्पण करते हैं।

सन्त एकनाथ कहते हैं—

न लये मुक्ति मुक्ति न लये स्वर्नधास

नकी वैकुण्ठनाथ देवराया।

न लये योग याप सदाय साधन,

न जुसे बन्धन देवे काहीं ॥^४

(न मुझे मुक्ति चाहिए, न मुक्ति। न स्वर्न-सुख। न वैकुण्ठ। योग-याप जारी

१ गीता ८-१६।

२ चारोम्व कर्मवित्, ८-२६।

३ ब्रह्मसूत्र ४।१।

४ एकनाथी वाक्य, भाषा १८८२।

अष्टांग साधनों की भी मुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनसे भय-अन्धन नहीं दूरता ।)

इसी प्रकार सत्य तुकाराम भी वैकुण्ठ के मुख को नाशवान् मानते हैं—

“मको वैकुण्ठीचा वास । असे तथा सुखा नाश ।”^१

(मुझे वैकुण्ठ का मुख नहीं चाहिए, ऐसे मुख का नाश होता है ।)

धीकृष्ण को परमेश्वरवतार मानने के साथ-साथ महाभुज्ज पन्थ ने मामूली भक्ति कृष्ण-सीताओं को भी मान्यता दी है । कृष्ण और गोपियों का रास भौतिक प्रेम है तथा उसमें हिन्दी-कृष्ण-काव्य की भाँति लौकिकता का कहीं भी पट नहीं है । इसी प्रकार महाभुज्ज पन्थ के सत्य-कवियों ने राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति भूगार के पथों से काव्य भण्डार को नहीं मघा है । अपने सिद्धान्त-निरूपण में उन्होंने प्रेमदान को अवश्य स्वीकार किया है, पर वहाँ प्रेम का स्वरूप कुछ प्रेम-भाव है क्योंकि परमेश्वर स्वभावतः कृपासु है तथा वह अवतार भी भक्तों के उद्धार के लिए तथा उन्हें अपना साम्निष्य प्रदान करने के लिए ही बारम्बार करता है । भक्तों को मोक्ष प्रदान करना उसे अत्यन्त प्रिय है जिसके लिए वह स्वयं बारम्बार साकार होता है ।

“परमेश्वर निबेडो निराकार असे, परिकृपात्म्यो सखिबो

साकार होय, अवतारे, पापुर्गे सामिबाव है ।”^२

(परमेश्वर निर्विकार निराकार है, किन्तु कृपावश वह साकार होकर अवतार लेता है तथा भक्तों को अपना साम्निष्य प्रदान करता है ।)

चक्राचार्य की भाँति केवल ज्ञान को ही मोक्ष का साधन न मानकर महाभुज्ज पन्थ के आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति दोनों को मान्यता दी है । परमेश्वर की अनन्य-भक्ति के लिए ईश्वर, जीव शेषता और प्रपञ्च का अन्तर्गत ज्ञान आवश्यक है । जो जैसा है, उसे वैसा जानना ही ज्ञान है—

“जे जैसे असे ते तेसे जाणिये ते ज्ञान”

(जो जैसा है उसे वैसा समझना ही ज्ञान है और यही ज्ञान की सार्थकता है ।)

इस प्रकार मराठी भक्ति-काव्य को महाभुज्ज आचार्यों की श्रेण है—अनेक देवी शैवताओं को छोड़कर केवल परमेश्वर की ही अनन्य भक्ति भाव से उपासना, विष्णु से श्री योद्ध परमेश्वर के रूप कृष्ण का स्वीकार, परमेश्वर का मुख रूप में निराकार होना तथा कृपावश भक्तों के लिए साकार होना, भक्ति और शोषित वर्ग का वर्ग का भक्तिकार हिंसा और दादक द्वयों का निषेध तथा संन्यास की आवश्यकता । इन सभी बलों का परस्पर मराठी काव्य पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है ।

महाभुज्ज पन्थ के प्रमुख ग्रन्थ प्राप्त माने जाते हैं—१ ‘वत्सहरण’ २ ‘शिशुपास वध’ ३ ‘उद्धार गीता’ ४ ‘नरेश कवि कृत ‘रामिनी-स्वयंवर’ ५ ‘अष्टपुर वर्णन’, ६ ‘सह्याद्रि वर्णन’ तथा ७ ‘ज्ञान प्रदीप’ । इन ग्रन्थों के आधार-संरम्भ धीमद्वयवर्णीता तथा भावगत होने के कारण ‘वत्स हरण’ ‘शिशुपास वध’ तथा ‘रामिनी-स्वयंवर’ में भक्ति-भूगार की ही बहुलता दृष्टिगोचर होती है । ‘रामिनी-स्वयंवर’ में भूगार रस की प्रधानता होने के कारण यह ग्रन्थ

१. तुकाराम गण्ट, सि. सा. मे. ७७, १९३६ ।

२. ए. ५५, हरि अष्टावध नेने, प्रथम सूत्र ।

मन्त्र-कवि परब्रह्म की उपासना मगवान् बाबुरेव के रूप में करते थे ।^१ उनकी मूर्ति ऐका-
तिक मूर्ति थी तथा उसमें मधुर भाव की प्रधानता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । भारद्वाज
कोई के पदों में तो काष्ठ भाव का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है । साहित्य सूत्रा में मन्त्र
विरूपण के लिए मन्त्र-तन्त्र मानवीय प्रेम के उत्पत्तियों के पश्चात् सर्वप्रथम भावधार मन्त्र-
कवियों के पदों में ही मधुर भाव का सर्वप्रथम वर्णन होता है और सम्भवतः भाववत्-पुराण
में प्रतिपादित मधुर-भक्ति पर भी भावधारों की मधुर भक्ति का विशेष प्रभाव रहा है ।
भाववत् तथा पद्यपुराणों में ब्राह्मि देश के नाट्यवीर्य भक्तों का उत्पन्न सम्भवतः भावधारों
को लेकर ही हुआ है^२ तथा उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि करता है । वर्ये भी भावधारों का
धारण ईसा की दूसरी-तीसरी सताब्दी से माना जाता है^३ तथा भाववत्-पुराण का रचना
काल ईसा की छठी से लेकर आठवीं सताब्दी से पहले नहीं पहुँचता ।^४

भावधारों की मधुर-भक्ति तथा भाववत्-पुराण के रास-वर्णन ने बौद्ध से ही समस्त
भारत में बौद्धही सताब्दी में समस्त शास्त्रों एवं दर्शनों का एक ओर ठेककर कृष्ण भक्ति
की प्रवृत्ति द्वारा प्रभावित हो उठी तथा मधुर भाव के लिए सभी भवना कर्मिणी बौद्ध न
होने के कारण राधा का प्रादुर्भाव हुआ । कृष्ण की राधा के रूप में राधा का ऐतिहासिक
उत्पत्ति अनोमवर्ष राधा की १८०० की प्रसिद्धि में सिद्धता है ।

भाववत् में बौद्धिक की रास कीड़ा का अत्यन्त सरस वर्णन है । इसी प्रकार बाह्य-
कीड़ा-वर्णन, मधुर-वर्णन गौर कीड़ा मधुमाद-वर्णन, गोपी-वस्त्रहरण सरस् मधुर-वर्णन, कृष्ण
गोपी-वस्त्राव गोपियों की प्रार्थना, गोपियों का विरह, विद्याप भीष्मक-वर्णन कृष्ण द्वारा
गोपियों का समाधान आदि शृंगार भक्ति के अनेक विवरण भाववत् में हैं । भाववत् ने
शृंगार-भक्ति का भाव्य बलीकृत तत्त्वज्ञान के निरूपण के लिए लिया है तथा भक्ति के
ती प्रकार माने हैं—

मन्त्रं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पारसेवकम् ।

प्रार्थनं व्रतं वासवम् लक्ष्म्यमात्मनिवेशकम् ॥

पारव सूत्र में पुनः महात्मनाभक्ति कृपावक्ति पूजावक्ति स्मरणावक्ति दासावक्ति
सखावक्ति कातावक्ति, वारवणावक्ति आत्म-निवेदनावक्ति लक्ष्म्यसावक्ति परमविहृ-
तवक्ति आदि भक्ति के पारव प्रकारों में कातावक्ति तथा परम-विहृतावक्ति को भी मानता
ही गई है तथा इसीका विचार वर्णन भाववत् में हुआ है ।

इस प्रकार शृंगार भक्ति के मूल में बलीकृत तत्त्व-ज्ञान के निरूपण का स्वेय होता
हूए भी सरस वर्णन-शैली तथा उसमें विरह, विरह आवक्ति आदि भावमान लौकिक
पुण्यों का समावेश होने के कारण भक्ति के क्षेत्र में मधुर भाव की प्रधानता मिली जिसके
परिणामस्वरूप ईसा की बारहवीं सताब्दी में बलिष्ठ में निष्कार्णिक्य द्वारा राधा और कृष्ण
की भक्ति पर विशेष बल दिया गया तथा विष्णु स्वामी ने भी इसी भक्ति-पद्धति को स्वी
कार किया । ईसा की दसवीं सताब्दी में पतञ्जल्युक्त बीज वर्ण के प्रभाव में ब्रज में निर्वाण

१ गुप्ताय सरस् इत्यु सिद्धोक्त, के० पय० मुम्बई, १० १७४ ।

२ भाव्य भाव्य पदं दर्श० नील कुलकर्णी १० १७१ ।

३ बर्ह, पुन १८४-४५ १८१ ।

४ गुप्ताय सरस् इत्यु सिद्धोक्त, के० पय० मुम्बई, १० १७४ ।

इतना लोकप्रिय हुआ कि परवर्ती-काल में इसकी देखा-देखी कई कवियों ने इसीमनी स्वयंवर लिखे। उपर्युक्त ग्रन्थों में शृंगार की प्रचुरता अवश्य रही है परन्तु वह महानुभाव पद्य की माय्यता में होकर कवियों की व्यक्तिगत रुचि को ही सुचित करती है। छत्राहरण के लिए 'सिंधुपाल रघु'-जैसे शृंगार-प्रधान तथा लोक-प्रिय ग्रन्थ की रचना करने के पश्चात् भास्कर भट्ट बोरीकर ने जब ग्रन्थ अपने मुख्यशुभाभाष्य को लिखाया तब वे कह उठे 'भट्टो हा ग्रन्थ निका हाका असे' परि निवृत्तोयोगा नह्य पि हा शृंगारिया प्रवृत्ता बोवा बाका असे" (भट्टो ग्रन्थ सुन्दर बन पड़ा है पर वह निवृत्ति-मार्गानुयायी के लिए न होकर शृंगारिक प्रवृत्ति-मार्गानुयायी के योग्य है।)^१ गुड मार्ले के अभिमत से कवि इतना बाहृत हुआ कि अपने बर्षे बर्षे उसने भावगत के एकाग्र स्वरूप पर 'रत्नचरीता' नामक निवृत्तिपरक टीका लिखी। शृंगार-प्रधान काव्य में भी महानुभाव कवियों ने इसीमनी और कृष्ण को ही अपने शृंगार का विषय बनाया है जो साम्यत्व या कान्त-भाव पर ही आधारित है। हिन्दी भक्ति काव्य की भाँति उसमें राधा का सर्वत्र जगज्ज है। महानुभाव कवियों द्वारा प्रवर्तित इसी परम्परा को ग्रन्थ परवर्ती साम्प्रदायिक कवियों ने भी निभाया जिसके फलस्वरूप मराठी भक्ति-काव्य में राधा और गोपियों को लेकर निरुद्ध शृंगारिक काव्य का समावेश न हो सका जैसा उत्तर भारत के भक्ति-काव्य में उपलब्ध होता है।

अश्वमेध की पीठि-
परम्परा और वैष्णव
कृष्ण-पीठों का पद
और भजन-साहित्य
पर प्रभाव

मराठी भजन और पद-साहित्य पर अश्वमेध की पीठि-परम्परा और वैष्णव कृष्ण-गीतों के प्रभाव का विवेचन करने से पूर्व दक्षिण और उत्तर में भक्ति के स्वरूप तथा भजन एवं पद-साहित्य की सर्जना के लिए उत्तरवासी परिस्थितियों पर विचार कर लेना निराला आवश्यक है।

हम पहले देख चुके हैं कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी तक वासुदेव की उपासना के रूप में जनम भक्ति का प्रचलन महाराष्ट्र में विद्यमान था। ईसा की चौथी शताब्दी से संस्कृत साहित्य में भक्ति की प्रधानता अभिलक्षित होती है तथा उसी शताब्दी तक यह प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती हुई दिखाई देती है।^२ उसी शताब्दी समित्त बंयासी मराठी कन्नड़ भाषि प्रान्तीय भाषाओं का उदय-काल होने के कारण भक्ति की इस पूर्व-पीठिका का उस पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर सोमवर्षी शताब्दी तक का प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य भक्ति प्रधान साहित्य रहा है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में प्रान्तीय विशेषता तथा भाषानुसृत भक्ति का स्वरूप अवलोक्य रहा। दक्षिणी साहित्य में कर्मेठता मराठी साहित्य में बुद्धिवाद तथा समाक-हित हिन्दी में शृंगार तथा रंजीतता और बंगला में स्वधिकाता इसी प्रान्तीय विशेषता को सुचित करती है।

संस्कृत के बाद परम्परागत प्राकृत भाषा में भी भक्ति की प्रधानता रही। समित्त जसम्भार कवियों का साहित्य वैष्णव-भक्ति का सबसे प्राचीन प्राकृत साहित्य है। आलम्भार

१ मराठी साहित्यचर्चा मद्रास भक्ति, अं० ५० नं० बोरी, पृ० ७६।

२ दण्डीय भक्तिकाल, अं० ५० नं० बुधवार, पृ० १४१।

मत्त-कवि परब्रह्म की उपासना मगभाय् वासुदेव के रूप में करते थे ।^१ उनकी भक्ति ऐक-
 ठिक भक्ति की धारा उसमें मधुर भाव की प्रभावता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । भाषाभास
 कोई के पदों में ओ कान्त भाव का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है । साहित्य सूत्रों में भक्ति
 निरूपण के लिए पञ्च-तन्त्र मानवीय प्रेम के उल्लेखों के पश्चात् सर्वप्रथम भास्वत्त-मत्त-
 कवियों के पदों में ही मधुर भाव का सर्वप्रथम दर्शन होता है और सम्भवतः भावमत्त-पुराण
 में प्रतिपादित मधुर-भक्ति पर भी भास्वत्तों की मधुर भक्ति का विशेष प्रभाव रहा है ।
 भावमत्त तथा पद्मपुराणों में शक्ति-वेद के गायत्रीमयी भक्तों का उल्लेख सम्भवतः भास्वत्तों
 को लेकर ही हुआ है^२ तथा उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि करता है । वेद भी भास्वत्तों का
 आरम्भ ईसा की दूसरी-तीसरी सताब्दी से माना जाता है^३ तथा भावमत्त-पुराण का रचना
 काल ईसा की छठी से लेकर आठवीं सताब्दी से पहले नहीं पहुँचता ।^४

भास्वत्तों की मधुर-भक्ति तथा भावमत्त-पुराण के रास-वर्णन के योग से ही समस्त
 भारत में चौदहवीं सताब्दी में समस्त शास्त्रों एवं शस्त्रों को एक ओर ठेककर कृष्ण भक्ति
 की प्रथम वायु प्रवाहित हो गयी तथा मधुर भाव के लिए कभी भयना दक्षिणी भोज्य न
 होने के कारण रास का प्रादुर्भाव हुआ । कृष्ण की लक्ष्मी के रूप में राधा का ऐतिहासिक
 उल्लेख भगवद्गीता की ६.८० की प्रसिद्धि में मिलता है ।

भानवत में श्रीकृष्ण की रास क्रीड़ा का अत्यन्त सरस वर्णन है । इसी प्रकार बास-
 क्रीड़ा-वर्णन ऋतु-वर्णन पात्र क्रीड़ा वेकुलाव-वर्णन, गोपी-वस्त्रहाराण सरस् ऋतु-वर्णन, कृष्ण-
 गोपी-संवाद गोपियों की प्रार्थना, गोपियों का विरह विभाष श्रीकृष्ण-दर्शन, कृष्ण द्वारा
 गोपियों का समाधान आदि श्रृंगार भक्ति के अनेक विवरण भावमत्त में हैं । भानवत ने
 श्रृंगार-भक्ति का आश्रय बौद्धिक उत्पन्नान के निरूपण के लिए किया है तथा भक्ति के
 भी प्रकार माने हैं—

अवर्णन कीर्तन विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम् ।

अर्चन वंदन वास्यम् सख्यमात्मनिवेशनम् ॥

गार्य सूत्र में गुण-महात्मावक्ति, क्पावक्ति, पूजावक्ति, स्मृत्तावक्ति, दातावक्ति,
 सखावक्ति, कातावक्ति, बासवत्तावक्ति, आत्म-निवेशनावक्ति, लग्नवत्तावक्ति, परमविरहा
 वक्ति आदि भक्ति के सारह प्रकारों में कातावक्ति तथा परम विष्णुवक्ति को भी मान्यता
 दी गई है तथा इसीका विस्तार वर्णन भावमत्त में हुआ है ।

इस प्रकार श्रृंगार भक्ति के मुख में बौद्धिक उत्पन्न-भाव के निरूपण का प्रयत्न होते
 हुए भी सरस वर्णन-सीढ़ी तथा उसमें विरह, भिन्न, भाववक्ति आदि भावमान शौकिक
 गुणों का समावेश होने के कारण भक्ति के क्षेत्र में मधुर भाव की प्रभावता मिली, जिसके
 परिणामस्वरूप ईसा की बारहवीं सताब्दी में दक्षिण में निम्बार्काचार्य द्वारा राधा और कृष्ण
 की भक्ति पर विशेष बल दिया गया तथा विष्णु स्वामी ने भी इसी भक्ति-पद्धति को स्वी
 कार किया । ईसा की दसवीं सताब्दी में पद्मपुराण बीस वर्ष के प्रभाव में बंगाल में निर्याव

१ एकराज दत्त दत्त विद्वत्, के० पन्० मुम्बई, पृ० १७४ ।

२ मार्बटा भास्वत्त कर्मा दर्शन और श्रृंगार, पृ० १४२ ।

३ मरी, पृ० १४२-४३ १४२ ।

४ एकराज दत्त दत्त विद्वत्, के० पन्० मुम्बई, पृ० १७४ ।

का एकमात्र साधन गुरु के सम्मुख क्षीर समर्पण करना माना जाने लगा था तथा प्रशस्ति प्राप्त-कीर्तियों तथा लोक-गीतों के कारण राधा और कृष्ण का प्रेम लोक-प्रिय बन चुका था।^१ इन दोनों बातों की पार्श्व-सूचि पर समापति ने आधारहीन और विद्यापति ने बार-बार धृति में राधा और कृष्ण को लेकर सम्मोह और निप्रलम्भ गृहार में भक्ति का पुट देकर सुन्दर चित्र ब्रिंके तथा भक्ति के निरूपण के लिए राज्य स्पर्श रूप रस गन्ध का भाग्य लेने की एक प्रथा-सी बरू पड़ी। इसके पूर्व ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति के लिए सबसे सेंट सुबानन्द के रूप में मानवी गृहार का आश्रय लिया गया था क्योंकि ब्रह्मानन्द की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए कोई भी भाषा समर्थ नहीं है। अतः अलौकिक सुख की एक अवस्था विद्येय को यत्किञ्चित् अनुसूतिगम्य बनाने के लिए ही सम्मोहजनित मानव सुख सुखद अनुभूति की उपमा ली गई। बेन्स प्रिट ने भी भाषा की असमर्थता को ही बर्म में गृहार के समावेश का कारण माना है।^२ इतना ही नहीं अपने मत की पुष्टि के लिए उसने सन्त प्लाटिनस को भी उद्धृत किया है। सन्त प्लाटिनस कहते हैं—

"Those to whom this heavenly love is unknown may get some conception of it from earthly love, and what joy it is to obtain possession of what one loves most."

गृहार के माध्यम से ब्रह्मानन्द की अनुभूति का यह प्रकार केवल भारतीय भक्ति-काव्य में ही नहीं मिलता अपितु संसार के सभी धर्मों में उसके वर्णन होते हैं। सूफी पंथ में इस्कवाही को (मानवी प्रेम को) इश्क हकीडी (ईश्वरी प्रेम) का एक उपानाम माना गया है। सूफी पंथ की यह मान्यता भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करती है।

आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए मानवी गृहार को माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेने के कारण विषय-निरूपण तथा रस-निष्पत्ति के लिए गृहार के सभी उपानामों का प्रासंगिक विचार आवश्यक है इस आवश्यकता-पूर्ति के लिए गृहारिक हास-भाषों के विरल वर्ण और वनसाधारण में आध्यात्मिक अनुभूति के अस्तित्व के जमाव के कारण परिणाम में अनुभवजन्य होने के कारण ही गृहार, जो वस्तुतः माध्यम होता है वनसाधारण के लिए प्रमाण बन जाता है और भक्ति गीत रह जाती है। मध्य-युगीन कृष्ण भक्ति-काव्य की ऐतिहासिक के उत्तम गृहार-प्रमाण काव्य में परिणति का नहीं रहस्य है।

मानवी गृहार कन्या आध्यात्म-तत्त्व आभयानुभूत अनुभूतिगम्य और भाव-बहन होने के कारण रस स्थिति में आश्रय की अभिव्यक्ति का संक्षिप्त चरित्र तथा संकीर्णता होना आवश्यक है। मध्ययुगीन पदों तथा भक्ति-गीतों की सर्जना के पीछे यही सत्य कार्य करता हुआ प्रतीत होता है। मध्य-युग का समस्त भारतीय भक्ति-काव्य आनुभूति पर आधारित होने के कारण संकीर्णतामय है तथापि कृष्ण को लेकर गृहार प्रमाण भक्ति-पदों एवं गीतों के स्रष्टा के रूप में आकाश कोटि के पश्चात् ही अवश्य आते हैं परन्तु कृष्ण राधा और दूती को लेकर गृहार प्रमाण भक्ति-पदों की रचना में अवश्य प्रथम स्थिति होती है। अवश्य के काव्य में गृहार के साथ भक्ति का सुन्दर सम्मेलन होते हुए भी उनका पीछेपेछिन्न प्राथमिक रूप में गृहार-प्रमाण पीति-काव्य है। भाषा-शीघ्रता लक्ष्मी की भवितव्यता रसनिष्पत्ति

१. एम्पल गवर्नर स्टुडियोज, के. एम. सुनी ५० १९५५।

२. रेजिनाल्ड कनोपेस, जे० डी प्रिट, ५० १८-१९।

बीर भावभावों तथा विजय की निशिष्टता के साथ-साथ काव्य का विषय राधा और कृष्ण होने के कारण गीतगोविन्द अत्यन्त अल्पकाल में लोकप्रिय बना तथा बीस ही समस्त भारत के भक्ति-साहित्य में इसे अनुपम स्थान मिला। भक्ति और शृङ्गार के मधुर संमिश्र तथा मधुर संगीत के साथ-साथ कोमलकांत पदावली के कारण रवीश्वरनाथ ठाकुर तक के सभी श्रेष्ठ कवियों पर अवशेष का प्रभाव अभिलक्षित होता है।^१ इतना ही नहीं परवर्ती साहित्य सास्त्रकारों ने अनुराग, विरह, उत्कंठा, मित्रता तथा अभिचार आदि के विवेचन के आधार के रूप में अवशेष का ही उपयोग किया है। काव्य प्रकाशकार मम्मट तथा साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने अवशेष के अलंकार-संग्रह पर ग्रन्थ होकर अपने संबंधों में इसके उदाहरण दिए हैं। वस्तुतः जनता को कृष्ण-गीत पाने के लिए स्फूर्ति प्रदान करने वाले काव्यों में गीतगोविन्द का सर्वप्रथम स्थान है। जनार्दन के चिन्तासेख (सन् १९४८ ई०) में गीतगोविन्द के भाषात्मिक पहलू का उत्प्रेषण^२ गीतगोविन्द की लोकप्रियता ही सिद्ध नहीं करता बरन् अन्य प्रवेष्टों पर उनके प्रभाव को भी निरूपित करता है। तेलुगु कृष्ण-गीतों में अवशेष की पदावली का प्रभाव स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है, क्योंकि एक तो गीतगोविन्द संस्कृत की रचना थी तथा एक श्रेष्ठ भक्ति-काव्य के माते भारत का कोई भी प्रवेश उसके अनभिज्ञ न था और दूसरे जबकि तेलुगु कृष्ण-गीतों की रचना ईसा की बीसवीं शताब्दी के पश्चात् आरम्भ हुई थी^३ तात्कालिक अण्णम्माचार्य (ई०स० १८२८—१९०९) ने शुरू की ही गति कृष्ण-भक्ति से प्रभावित शृङ्गारपरक हठारों पर बिछे हैं। पर उनकी शृङ्गारिक रचनाओं में भावक वासना न होकर मावों की स्वाभाविक मधुरिमा है।^४ अण्णम्माचार्य तेलुगु पद-साहित्य के प्रणेता माने जाते हैं। तेलुगु के कृष्ण-गीत एवं पद अवशेष की ही गति शृङ्गारपरक हैं। इस दृष्टि से तेलुगु-पद-साहित्य पर अवशेष का प्रभाव केवल विषय-वचन की ही दृष्टि से अभिलक्षित होता है, गीतात्मकता की दृष्टि से नहीं क्योंकि तेलुगु स्वयं ही संगीत-मधुर भाषा है तथा महान भाषाभूमि की अभिव्यक्ति संगीत द्वारा ही सम्भव हो सकती है। फिर भी यह न नुस्खा चाहिए कि तेलुगु कृष्ण-गीतों पर अवशेष का प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रूप में ही इन्द्रित होता है क्योंकि तेलुगु कृष्ण-गीतकारों का विषय वस्तुतः गीतगोविन्द का ही विषय न होकर कोक-रश्मि का भी विषय था। गीतगोविन्द ने इस कोक-रश्मि को काव्यबद्ध करके कृष्ण-भक्ति-परक शृङ्गारिक गीतों की परम्परा बसाई। इस परम्परा-निर्वाह में ही अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में अवशेष का प्रभाव अन्तर्निहित है।

मराठी में भी अवशेष का प्रभाव शृङ्गारिक काव्य की परम्परा के रूप में ही देखा जा सकता है क्योंकि आरम्भ से ही मराठी काव्य घात रस प्रभाव रहा है। ऐसी रक्षा में वन-वन शृङ्गारिक निरूपणों का समावेश को घात भाव का पूरक नहीं है, प्राचीन निरूपण सीढ़ी तथा कोक-रश्मि को ही परिचय करता-सा प्रतीत होता है। पहले कहा गया है कि मराठी कृष्ण भक्ति-काव्य में श्रीकृष्ण तथा रमिणी को लेकर काव्यभाष को ही प्रथम मिला

१ मराठी साहित्यटीका मधुरासमन्विता, डॉ० प्र० ल० कोटी, पृ० ६०।

२ आनंदेजीजी श्रीधर गुजरात, पृ० ८१ संगति १० १२५।

३ तेलुगु और उसका साहित्य, इन्दुपन्थाजी 'मधुमति' पृ० ६०।

४ वही, पृ० ६६।

है। यत्र-तत्र गोपी-भाव का समावेश लोक-वर्ण के समाधान के लिए ही हुआ है। समस्त मराठी काव्य में कृष्ण का कविमयी-पति अथवा कविमयी-वर के रूप में वर्णन^१ इस कथन की पुष्टि करता है। मराठी भक्ति-काव्य की विद्याभूता में मधुर भाव-विषमक पक्षों का नयम्यप्राय समावेश भी लोक-वर्ण के रूप में बाह्य प्रभाव की ही सूचित करता है। सर्वभी ब्रह्मर ब्रह्मेश्वर रामदेव, तुकाराम आदि के वचनों में जो बोझ-सा मृदुत्कार का पुट मिलता है, वह केवल तत्त्व-निरूपण के लिए ही हुआ है। इन उल्लेखों की भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक में परमेश्वर और जीव-सम्बन्धी निरूपण के लिए पति और पत्नी का रूपक वाता है और दूसरे भाग में कृष्ण-कीर्ति विषमक परम्परा निर्वाह अथवा कृष्ण की गोपियों के साथ लीलाओं के उल्लेख। इन दोनों प्रकार के वर्णनों में मृदुत्कार के स्पष्ट उपकरणों का सादर ही कहीं आश्रय दिया गया हो। सभी स्थलों पर भाव को ही प्रमाणता दी गई है। उदाहरण के लिए ब्रह्मेश्वर के निम्नलिखित अर्थों का उद्देश्य पति और पत्नी के आश्रित का विश्र बंकिट करना न होकर परमेश्वर और जीव के मध्य तथा दोनों के मिलन से होने वाले आनन्द का आवास करा देना यह है—

तिये आश्रितन बेछीं होय आवे आप कसली ।

तेज जळ बेसे जळीं, बेयळें न दिते ॥

कां आकाशीं बाबु हरपे। तेज बोलीं हूँ माय लोवे ।

तैसें तुज्जाच जरे स्वर्ग्ये । सुरती तिये ॥^२

(आश्रितन के समय स्त्री अपने-आप अत्यन्त कोमल बन जाती है तथा बिच प्रकार चल चल में मिलने से एकक्य हो जाता है। उसी प्रकार स्त्री अपने पति से मिल नहीं विश्वास देती। बिच प्रकार आकाश में व्याप्त बाबु आकाश से मिल नहीं करी जाती तथा उसके लिए दो की माया का प्रयोज नहीं होता। उसी प्रकार पति से आश्रितनबद्ध होते ही स्त्री का निजी अस्तित्व न रहकर सुरति के रूप में केवल आनन्द की ही अनुसुति बनी रहती है।)

ब्रह्मदेव के एक दूसरे उदाहरण—

तुजविन बेहूआय केँ तुज सोहस्य ।

रकुमादेवी वर दिच्छल सेजेन लये बोझा^३ ।

(तुम्हारे बिना कैसा तुज और कैसा मनोरंजन। दिच्छल के बिना तो सेना पर बाँझ भी नहीं लगती।)

यै भी मिलन की आसुरता ज्वलित होती है विकास की उत्तेजना नहीं।

पाहे पाँ कस्तमावे मिरयामें, तिया कस्तानांची मिर्जे

भजबीनबीठा काय जाले । स्वयं न मळुती ॥^४

(गोशुक की दीपिकाएँ यदि मुझे पति समझकर अपने अन्तःकरण मुझे समर्पित करने लगे तो क्या मैं बिना मुक्त हुए यह आयेगी ?)

क्योंकि—

१ केशवदास टीकाकार वरद वरद मारवरी रेविकास सिद्धमृत, भांडारकर, १ = ६।

२ मराठी साहित्यमीमा मधुसूदन, ५ नं० कोटी ६० १९७।

३ कादेस्त्री (पुष्ट) ६ ४५५।

अपावरी प्रोढ़ावयाची लागी । मोहो मिळो कां परितोषी सोभी ।

का ये मिळतिये प्रसंगी । सोमैव हीर्षित ॥^१

(जरे, जोड़े के बन से भी पारस छोड़ा जाए, तो भी पारस के स्पर्श से कोहा सोना ही बन जाएगा ।)

उपवृक्ष दोनों धर्मों से शुद्ध प्रेम ही अभिव्यक्ति होता है ।

स्वामी चक्रवर ने भी अपनी प्रभुत वाणी में श्रुतिारिक वर्णनों को स्वान न लेकर विषय-वृत्ति को पादवी वृत्ति माना है । परमेश्वर को निम्न देवी-देवताओं के क्षेत्र में भी उन्मूलित विषय को केवल भावरूप माना है—

‘अत्राकृष्टा होइये, तो उसीटा मिळो भोगमें कीं’

किछो तों ह्रासमानोंनि भोगो सरे ।^२

(धार्मिक सम्मोह तो बूझ सम्मोह है । सम्मोह तो ह्रास भावों में ही समाप्त हो जाता है ।)

नामदेव के वर्णनों में श्रुतिारिक पदों का विपुल वर्णन मिलता है पर उसका नाभार घामबल-पुराण ही रहा है ।

देखतांचि नाब मोक्षलोका मारी, पाहावका हरि निघताती ।

स्वप्न बैला बाळें ठाकिनीं सुनि-सी, मोक्षलोका केही निघताती ॥

(बंदी की प्पनि धुलते ही हरि के वर्णन के सिद्ध गोपियां सिद्धुओं को ब्रह्म पितादे-पिताते अपने बाळ बनि विना ही बीड़ पकती है ।)

इस पद में वर्णित गोपियों की सम्यक्ता तथा भाव-बीड़ भागवत-पुराण के वर्णन^३ से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है । और फिर कृष्ण और गोपियों की केकि-क्रीड़ाओं का विपुल वर्णन करने के परचात् निम्नलिखित वर्णन में नामदेव को बताया गया है कि समस्त गोपियों का ‘काम’ शांत करने पर भी कृष्ण की ‘बीर्यवृत्ति’ नहीं हुई—

कळकळीका करी लखीका पती, लाळ घोटताती बैव विप्रया ।

बम्ब स्वा गोपिका बम्ब त्याचें पुष्प, गोपिता ही कट्ण पुर्चं बट्ट ॥

नामा म्हणे होव कामाची ते पूर्ती । नव्हे बीर्यवृत्ती गोविवाची ॥^४

(कळ-क्रीड़ा में भीकृष्ण को समभाव बैलकर देवांगमाई भी कळका रही हैं । वे गोपियां बम्ब हैं, उनका पुष्प बम्ब है जो पुर्ण-व्रत कृष्ण को भोग रही हैं । नामदेव कहते हैं कि गोपियों का काम तो पूर्ण होता है पर कृष्ण की बीर्यवृत्ति नहीं होती ।)

नामदेव की मति मुकाराम ने भी गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं पर वर्णन किछे हैं, पर वे बहुत जोड़े और परम्परा के निर्बाह के लिए ही किछे गए प्रतीत होते हैं क्योंकि वस्तुतः उनके आराध्य विठोबा गोपी-नामक कृष्ण न होकर बालकृष्ण से परिपूर्ण मातृ रूप परमेश्वर हैं । वे कहते हैं—

१. बानेसरी (कुण्डे) ४.१२ ।

२. हरिप्रमदन नेने दास सम्पादित ‘श्रुतपाठ’ विचार, १९४८ ।

३. भागवत-पुराण १०. १४. ४. ११ ।

४. बानेसरी बानेसरी (बानेसरी) भाग्य १९१५ ।

कैसे जातो तेबे, तू भासा सांभासी
 जालवीसी हाती घरोनीया ।
 जामोबाटे जाम्ही तुशाधि मापार,
 जालवीसी भार तबे मासा ।
 जोनों जाता बरस करिती तें भीठ,
 येनी जाज भीठ केतो देवा ॥^१

(यहाँ भी जाता है तुम मेरे साथ होते हो और मेरा हाथ पकड़कर तुम मुझे बहाते रहते हो । मैं अपना भार्य-वापन तुम्हारे ही सहारे करता हूँ । अपना समस्त भार तुम पर छोड़कर बस्ते का मुझे अम्यास-सा हो गया है । मेरी अनर्गल बातों को तुम्हीं सुबाधे रहते हो और मेरे संकोच को दूर करके तुम्हीं मुझे ढीठ बनावा है ।)

इस विवेचन से उपर्युक्त कवन की सम्पुष्टि होती है कि मराठी संत-कवियों की कविता में जहाँ कहीं भी सम्मोग या विप्रलम्भ शृंगार का संस्कार हुआ है, वहाँ उसका स्वल्प लौकिक न होकर अधिकृतः आध्यात्मिक ही रहा है । इसी स्मरणीय बात यह है कि जयदेव तुकाराम आदि प्राचीन मराठी संत-कवि निम्न बातियों में उत्पन्न हुए थे तथा संस्कारबद्ध उन्हें अपने काव्य में निम्न बातियों में प्रचलित कृष्ण की रास-लीलाओं को स्वागत देना पड़ा । इस परम्परा-निर्बाह तथा श्रृंगारपरक वर्णनों में विद्यमान उतकी उदत्तता के कारण ही उनके श्रृंगारिक पर स्वागुसूति पर आधारित नहीं है और न ही उन्होंने रस के उपादानों अथवा संघारी आदि भावों का ही कोई वर्णन किया है जैसा कि जयदेव, विद्यापति आदि में मिलता है । संक्षेप में उनकी पहुँच लौकिकता से अलौकिकता की ओर अभिविहित होती है जबकि जयदेव विद्यापति आदि ने अलौकिक का आचार लौकिक के रूप में ग्रहण किया है । जयदेव कहते हैं—

स्वाम प्राप्य ममि स्वयंवरपरां क्षीरोवतीरोवरी ।

सकि मुन्दरि । कालकूटमपिबन्धूरी मुडानीपति ॥

हृत्वं पुर्वकथानिरम्यमनसो निमित्त्य बासोचलं ।

राधायाः स्तनकोरकोपरिचलन्नेतरो हृदि पातुच ॥^२

इन वंशियों से यदि राधा और कृष्ण के नामों को हटा दिया जाए तो वे एक उच्च कोटि का शृंगार-काव्य कहें जा सकती हैं । इन कवियों के श्रृंगारिक वर्णनों की मामिकता तथा विषय भी स्वागुसूत होने के कारण वे भक्ति की अपेक्षा मानवी शृंगार के ही अधिक घोरक हैं । इस दृष्टि से मराठी संत-कवियों पर जयदेव का यत्किंचित् प्रभाव भी दृष्टिगत नहीं होता । परम्परा निर्बाह में तेलुगु, कर्नाटक तमिळ आदि कृष्ण-गीतों का अवश्य कुछ प्रभाव रहा है । लोकोक्ति है—

‘मल्लि आनिडु ऊपजी लाये रामालम्ब’

कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर्नाटक के कवियों ने ‘रगळे (भाव-भीत) गाकर किया है तथा मराठी का कृष्ण-लीला-विषयक सभी परवर्ती काव्य भीतों के रूप में ही निमित्त हुआ

१ तुलसीदास का गाना (देवगढ़ कृत) अर्ध १४२६ ।

२ गीतगोविन्द १२. ४. श्रीरामा संदीपा

है। तैसुमु साहित्य संगीत-अभान साहित्य रहा है। इतना ही नहीं जाग्य प्रवेद्य दक्षिणी संगीत-पद्धति का उत्पत्ति-स्रोत माना जाता है तथा तैसुमु का कृष्ण नरित-काव्य सम्पूर्णतः नीतात्मक है। अतः जाग्य के साथ निकट सम्बन्ध होने के कारण मराठी काव्य पर भी तैसुमु की पीठात्यक्ता, वाय कम तथा कलेवर का निश्चित रूप से प्रभाव इष्टित होता है तथा यह विषय स्वतन्त्र विवेचना की अपेक्षा रखता है।

हमाप जीवन सभा से संगीतमय रहा है। प्रत्येक उत्सव पर्व और स्वीहार के अवसर पर समयोचित गीत गाकर मनोरंजन करना हमारे जीवन का एक आवश्यक अंग है। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक युग में भी इन पर्वों के अवसर लोक-गीतों का मराठी पर मनोहर गायकों के गाने का निर्वैद्य वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध कृष्ण-काव्य पर प्रभाव होता है। मैवावणी संहिता में विवाह के अवसर पर 'मावा' गाने की विधि का उल्लेख है।^१ वाल्मीकीय रामायण में राम-जन्म के समय तथा भीमप्रभावत में कृष्ण-जन्म के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गीत गाने का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

वैदिक साहित्य में विन गायकों का उल्लेख स्थान-स्थान पर हुआ है वे ही हमारे लोक-गीतों का पूर्व रूप प्रतीत होती हैं। 'गावा' का अर्थ है पशु वा गीत। इसी अर्थ में गावा पशु का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक स्थानों में हुआ है।^२ गावाओं की इस परम्परा का निर्वाह महाभारत-काल में भी हुआ है। महाभारत के आदिपर्व में दुष्यन्त के पुत्र मरुत के सम्बन्ध में अनेक गावाएँ मिलती हैं जो अत्यन्त प्राचीन मान पड़ती हैं। वैदिक गावाओं के समान ही अवेस्ता में भी कई प्राचीन गावाएँ उपलब्ध होती हैं।^३ ताकि गावा में किसी हुई गावाओं में तत्कालीन विद्यमान लौकिक कहानियों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। गीतों की बातक-कबाई में गावाओं का ही एक अन्य रूप है। इससे प्रतीत होता है कि भारतीय लोक-गीतों का स्वल्प चाहे जो रहा हो उसका प्रचलन बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। तब तो यह है कि भारत में ही भारतीय संस्कृति से विभिन्न ब्राह्मणों में प्रवाहित होती चली आई है। विहित वर्ग में यह केवल, उपनिषद् आदि के कर्म में प्रवाहित हुई है और अविहित वर्ग में लोक-कथाओं और लोक-गीतों के रूप में।^४ इसीलिए आचार्य पं० हनारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक-गीतों को आर्यतर सम्प्रदाय के रूप कहा है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि वे लोक-गीतों की मध्य-वर्गीय साहित्य की श्रेणी से पृथक् कर के यह कहना चाहते हैं कि लोक-गीत-साहित्य अमर और अनारि है।^५ लोक-गीत जीवन से उत्पन्न होने के कारण जन में सहज वाचनार्थों के बिना कहीं-कहीं सरलीकृत तक पहुँच गए हैं परन्तु जीवन की सम्पूर्णता में काम का अभिमुख होने के कारण उन्हें अस्वीकृत नहीं कहा जा सकता। वे गीत जीवन की विभिन्न अनुभूतियों से उत्पन्न होने के कारण ही समाज के सभी ऊँच-नीच वर्गों में समान भाव से गाए जाते हैं तथा विभिन्न प्रदेशों में एक नाम से चामू पड़े हैं।

१ ऐतरेयी संहिता : १. ५. ३।

२ अवेस्ता ५. ३११।

३ ऐतिहासिक 'अमर' वेदाधिक में कृष्णदेव उपाध्याय का लोचनीय पर लेख।

४ प. एच. डी. बरोन्सन ओरिजिन, क. ब. विद्यापीठ, १० ११।

५ भारतीय साहित्य, भाग ३, पृ. १६१।

सार्वजनिक सम्पत्ति होने के कारण उनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित नहीं होता। यदि जन्म विवाह आदि विषयक अन्तरधार्मिक पीढ़ों का अध्ययन किया जाए, तो उनमें साहस्य और समानता ही अधिक मिलेगी। इतना अवश्य है कि संघर्षशीलता के कारण ये पीढ़ें वेद-काव्य के अनुकूल अपना परिधान बरस डेते हैं और उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है। वह स्थानीय प्रभाव ही उन्हें मिला संज्ञा प्रदान करता है। लोक-गीतों का जन्म-जीवन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण उनमें जीवन की समस्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। मुझ रिक्त जीवन के ये स्वर कभी तीखे कभी बहुहासपूर्ण तो कभी कोमल, कभी विवेकशील तो कभी नीत्कारपूर्ण होकर गूँज उठते हैं। इन पीढ़ों में ऐहिक जीवन की अनुभूतियों के साथ साथ जनता-जगत् के धर्म मानना तथा लोक-नायकों के चरित्रों की भी अभिव्यक्ति होती रही है। भारत के लगभग सभी प्रदेशों के लोक-गीतों में राम और कृष्ण अत्यन्त प्राचीन समय से लोक-जीवन के आधार रहे हैं। अब हमारे लोक-गीतों में एक और धर्म की पुनीत मानना अभिव्यक्त हुई है तो दूसरी ओर उद्दाम वासनाएँ। जीवन के विविध प्रसंगों और प्रकृति की परिवर्तनशील श्रृंगारों को लेकर जनेक लोक-गीतों का निर्माण हुआ है। इनमें से कुछ लोक-गीत जो कृष्ण-काव्य से सम्बन्ध की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं वे हैं—होली सूझा रसिया कबरी बाख्शासा छावणी बबलभी बिरहिनी बभिकासा। इनमें से होली सूझा रसिया कबरी और बाख्शासा आदि का प्रचलन उत्तर भारत में है और लावणी, गबलभी, बिरहिनी और बभिकासा का महाराष्ट्र में।

लावणी की उत्पत्ति कई विद्वान् पेशवाकाशीन कवियों के अपरिमित कल्पना-समय तथा भाषा-निरूपण में मानते हैं। किन्तु यह मत बुद्धि-मुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि पेशवा काल से बहुत पहले लावणी लोक-गीत का प्रचलन महाराष्ट्र की बाह्यज अहीर तथा चमार जातियों में था। ये लोकगीतों केतों में जावळ के पीछे जगते समय गाये जाते थे इसीलिए इनका नाम जावणी पड़ा। जाव भी छोटा गावपुर, छत्तीसगढ़ आदि भागों में ये पीढ़ें जावळ के पीछे जगते समय बड़ी भावमग्न से गाए जाते हैं। ये पीढ़ें कुछ बात व्यक्ति ही माते हैं और सेव स्त्री-पुरुष केवल सुर-में-सुर भिजाकर उनका साथ देते हैं। ये पीढ़ें कदा प्रमान होते हैं तथा इनका स्वरूप भी बरेसू-सा सरल और स्वाभाविक होता है। जावणी लोक-गीतों का यह मूल रूप पेशवाकाशीन 'धाहिटी' काव्य से सर्वथा भिन्न है। इन गीतों के निश्चित स्वरूप का पता लगाने के लिए पिछले कई वर्षों से प्रयत्न हो रहा है और जब तक पर्याप्त शोध-कार्य नहीं होता तब तक इनकी कथा-वस्तु के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना अनुचित होगा। इतना अवश्य है कि महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना होते ही पराक्रम के साथ सैन्य की भी वृद्धि होने लगी और धिमाजीराशीन पीछे सरल और पथ सहज 'पोदावा काव्य-प्रकार को पीछे छोड़कर गीत-पीढ़ें और शृंगार से युक्त जावणी-गीतों की नई परम्परा जन्म पड़ी। ये शृंगार रस प्रधान जावणी-गीत महाराष्ट्र में अत्यन्त लोक-प्रिय हुए हैं। कई जावणी-गीतों में गीतों का वर्ण-विषय राधा और कृष्ण का विकास है। यथा,

‘होली खेलते हरी कबलि राधा गढ आपन मदी’
(स्वयं मदी बनकर और राधा की गढ बनाकर कृष्ण होली खेल रहे हैं।)

रामचोटी प्रभाकर, होनामी माहि सावणीकारों ने राधा-कृष्ण-प्रेम तथा गोप गोपियों के बिलास को लेकर कई सावणी-गीत लिखे हैं। अमरावली के बन्नाबस सावणी गीत का विषय यद्यपि कृष्ण-गोपी-प्रेम ही है। फिर भी उधम उग्राम लौकिक सुभार का ही मायक वर्णन हुआ है। परसुराम के सावणी गीतों में राधा और कृष्ण के बिलास-वर्णन पर अम्यात्म का रंग बड़ाने का प्रयत्न भी दिखाई देता है। प्रभाकर के कई सावणी-गीतों के मायक स्वयं बाजीराव देखाये थे। उनका बिलास-वर्णन करते समय कवि ने उन्हें कृष्ण बना बाटा है।

बबलची का अर्थ मराठी में 'बातियों' होता है। 'बबलन' या 'पीलन' मराठी का वह कोक-गीत है जिसमें गोपियों के कृष्ण प्रेम को अभिव्यञ्जना हुई है। महापद्य में इन कोक-गीतों की लोकप्रियता के कारण ही सम्भवतः मराठी सन्त-कवियों ने 'पीलन' शीर्षक के अन्तर्गत गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रेम का चित्रित किया है। नामदेव एकनाथ और तुकाचाम के 'पीलनी' अर्थों में कृष्ण की बास-लीलाओं और गोपियों का विरह को अत्यन्त मनोहारी अभिव्यञ्जना हुई है। अपनी सरसता और स्वाभाविकता के कारण ही इन सन्तों के ये 'पीलनी' अर्थ महापद्य में अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। गोपियों के कृष्ण-प्रेम की कितनी सरस और प्रभावपूर्ण अभिव्यञ्जना एकनाथ के निम्नलिखित 'पीलन' में हुई है—

बाजी गो काही कृष्ण गयीं जाता ।
 झुबोनी बंध करी पीलनी जाता ॥
 काय हो ऐतें देही जावता गो बाळा ।
 कां हे न येती बाळा नबाबिया ॥
 कथन देवा नवली नवपुं ।
 कबया मुक्ते मार्ग पुष्ट ॥
 के भिरेल हा हृदिकेष्ट ।
 झुबोनि मन बाह्ये जवातु ॥^१

(भावार्थ है। धाम को बन से लौटने में कृष्ण को ढेर हो जाती है। गोपियों चिन्तित हैं। प्रस्तुत वर्णन में गोपियों की मनोशया का सुन्दर चित्रण हुआ है। कवि कहता है कि अभी तक कृष्ण को न जाना देखकर गोपियाँ डुबी हो रही हैं। वे मन-ही-मन कृष्ण से अनुभव विनय करती हैं और मन्द-मन्दन को बुझाती चुप्पी हैं। कभी उनका मन में किसी बेबी-देवता की मानता करने का विचार आता है तो कभी कितनी कुछ से मार्ग पुष्टने का। बाध है किसी भी उपाय से क्यों न हो कृष्ण खीझ ही घर बापस आ जायें। उनका न जाने से गोपियों का मन अत्यन्त उदास हो रहा है।)

विरहिणी बनवा विराणी गीतों में कृष्ण के विनय में गोपियों की मनोव्यथा का चित्रण मिलता है। विराणी कोक-गीत महाराष्ट्र के मध्य-पश्चिमी निम्न-वर्ग में प्रचलित लोक-प्रिय है। इन कोकगीतों का सामान्य जनता में प्रचार होने के कारण ही सम्भवतः मराठी सन्त कवियों ने, अल्प संख्या में ही क्यों न हो 'विरहिणी' पदों की रचना की है। सन्त एकनाथ के 'विरहिणी' अर्थों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इतिहासता अथवा गोपासकाला महाराष्ट्र का वह सार्वजनिक उत्सव है जिसका सीधा सम्बन्ध बाळ-कृष्ण की सीला से है। इसका आयोजन जगन्नाथजी के दूधरे दिन होता है। एक हाँडी में बही मक्का की सीलें बीरा आदि मिलाकर उसे किसी सार्वजनिक स्थान में बहुत ऊँचे पर झटका दिया जाता है। उस हाँडी तक पहुँचने के लिए किसी अन्य साधन का निषेध होता है। उस बाळकों को एक-दूसरे के कन्धे पर चढ़कर ही इस तक पहुँचना होता है। अतः बस्ती ने बाळक एक-दूसरे के कन्धे पर इस प्रकार चढ़े होने की व्यवस्था करते हैं जिससे किसी अन्य सहारे के बिना सबसे ऊपर बाळा बाळक हाँडी तक पहुँच जाए। जो बाळक इस झूह-रचना के सहारे हाँडी तक पहुँचने में सफल होता है वही हाँडी छोड़ता है। तत्पश्चात् हाँडी की सामग्री सभी आबाक-वृद्ध-बनिता प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं। महाराष्ट्र में इसकी प्रतियोगिताएँ भी होती हैं। स्पष्ट ही इस खेल का सम्बन्ध कृष्ण की गोरख-चोरी से है। इसका प्रचलन महाराष्ट्र में कब से है यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता किन्तु कृष्ण-सीलानों से सम्बन्धित यह खेल महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। सच तो यह है कि केवल महाराष्ट्र में ही नहीं अपितु समस्त भारत में कृष्ण-सीलानों का इतना प्रभाव पड़ा है कि सर्वत्र इन सीलानों से सम्बन्धित पर्वों खेलों गुर्यों आदि का प्रचलन है। प्राचीन मराठी सप्त-कवियों ने बौलबी बिरहबी आदि कतिपय अंशों में कृष्ण की श्रृंगारिक सीलानों को जो बौद्धा-बहुत स्थान दिया है, वह भी सम्भवतः लोक-परम्परा का ही परिणाम है। यह परम्परा महाराष्ट्र में अवश्य ही बसवती रही होगी क्योंकि हाळसातबाहन की प्राकृत 'बाबा छप्पलती' में राधा का सर्वप्रथम उल्लेख उपलब्ध होता है और विद्वानों की धारणा है कि राधा छप्पलती की रचना महाराष्ट्र में ईसा-पूर्व तीसरी या चौथी सताब्दी में हुई थी तथा उसमें महाराष्ट्र का जीवन ही चित्रित है।^१

१. अश्वमेध, पृष्ठ ८ 'प्राचीन मराठीतील लोक वाङ्मय, अंकी संख्या', प्रो. म. रा. धोपाडकर।

हिन्दी-कृष्ण काव्य की ऐतिहासिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

हिन्दी-कृष्ण-काव्य की पृष्ठभूमि मराठी कृष्ण-काव्य की पृष्ठभूमि से सर्वथा भिन्न रही है। पिछले अध्याय में देखा गया है कि मराठी कृष्ण-काव्य का उन्मेष स्वतन्त्र बातावरण में हुआ था। उसके उद्देक में राजनीतिक परिस्थितियों का उतना हाथ नहीं रहा है जितना नासिक अथवा सामाजिक परिस्थितियों का। महाराष्ट्र में भक्ति के उदय के पीछे प्राचीन बामुदेव भक्ति की परम्परा स्पष्ट रूप से हाज़िर होती है। यद्यपि लोक-कल्याण के लिए विभिन्न कार्यों की आवश्यकताओंनुसार उसका स्वरूप न्यूनार्थिक माना में बदलता रहा है। काव्यमयानुसार यह रूप-परिवर्तन होते हुए भी भक्ति का मूल बाजार-पीठा ही रहा है। यद्यपि लोक-रक्ष को दृष्टि में रखते हुए भागवत-पूजाण से भी बहुत-कुछ घेरना भी पड़ा है। पर हिन्दी भक्ति-काव्य की सजना के लिए कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ उत्तरवासी रही हैं। उत्तर भारत में भक्ति का आत्मोत्थन स्वामीय परम्परा का काव्यानुसृत निर्वाह न होकर पूर्ण रूप से काल-विशेष की आवश्यकता प्रतीत होता है।

हिन्दी-भक्ति-काव्य के पूर्व आविर्भाव में बीर और भुंवार रस-प्रधान-काव्य का युग था। इसीको बीर-गाथा-काव्य भी कहते हैं। समस्त बीर-काव्य की रचना हिन्दू राजाओं की सख्ताया में होकर भी उसमें भक्ति का अभाव यह सिद्ध करता है कि उत्तर भारत में उस समय बनता भक्ति की ओर जतनी उन्मुख नहीं थी जितनी बीर और भुंवार की ओर। बीरगाथा-काव्य की परिस्थितियों पर विचार करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बीर-काव्य की सर्जना के लिए राजाश्रय को एक कारण माना है।^१ बीर किसी हूर तक यह सत्य भी है, फिर भी यह कारण तत्कालीन बस्तुस्थिति पर पूर्ण प्रकाश नहीं डालता। हिन्दू राजाओं की बुद्ध तथा भुंवारप्रियता अल्प ही बीरगाथा-काव्य के साहित्य की मूल प्रेरणा रही है। पर उसमें भक्ति अथवा नासिक साहित्य का अभाव इस बात को सूचित करता है कि तब समय वर्म के विषय में हिन्दू राजाओं का न तो कोई विशिष्ट दृष्टिकोण था और न ही विशेष रक्ष। सामन्त वर्म एक स्वी मान बना हुआ था, जिसका शासन आत्मिक आवश्यकता न होकर दिनचर्या का एक साधारण भाग बन गया था। ऐसा न होता तो बीर-काव्य के साथ नासिक काव्य की भी बहुत माया में सर्जना हुई होती। यह मान लेने पर भी कि बीर गाथा नाथ के समग्र मभी कवि राजकवि ने तथा इस दृष्टि से उनके काव्य में राजाओं से

केवल गोस्वामी तुलसीदास की काव्य-सृष्टि में ही दृष्टिगत होता है, उससे पहले नहीं। उससे पहले का साहित्य आवश्यक रूप से तत्कालीन धार्मिक माध्यमों की प्रक्रिया के रूप में ही उत्पन्न हुआ है। विदेपठ निर्गुण अथवा आन-मार्गी शाखा का तत्त्वज्ञान तत्कालीन ब्रह्मपान के महानुपवाद तथा योग-सम्बन्ध आदि मठ और स्त्री-विषयक साधनों की ही प्रक्रिया थी।

बीड़ धर्म के तांत्रिक रूप प्रारण करते ही उसमें बनेक बोधिसत्त्वों का समावेश हो गया। ब्रह्मपान में महानुपवाद के अन्तर्गत ब्रह्मानन्द रति-भुक्त का समकक्ष बन गया और देवताओं की उनकी सत्तियों-सहित जल भूतियों को धार्मिक क्षेत्र में माध्यम मिला। ये भूतियाँ सम्मोय की अस्तीक मुद्राओं में बनने लगीं तथा 'बुद्ध समाज' या 'भीष्ममात्र' की स्थापना हुई। ब्रह्मयानियों एवं कापालिकों की धर्म-सामना का स्त्री-सर्व तथा मठ-सेवन एक आवश्यक अंग बन गया यहाँ तक कि कुलीन स्त्रियों की सत्त्व रखा एक समस्या-ही बन गई।^१ मुक्तकालों के भारत में जाने के समय जयजय समस्त उत्तरायण म (विषयपत्र पूर्वी विभाग में) धर्म का यही रूप बोल पड़े हुए था। इस धार्मिक दुराचार के परिणामस्वरूप ही स्वाभाविक केला के रूप में हिन्दी की ज्ञानात्मकी शाखा तथा तत्त्ववादात्मक भक्ति-मार्ग का उदय हुआ। मुक्तकाली राज्य की स्थापना तथा इसका प्रचार इस दिशा में केवल योग रूप से ही उत्तरदायी रहे हैं। इस प्रकार ईसा की चतुर्थी शताब्दी के लगभग दक्षिण में उद्भूत भक्ति-मार्ग में अवधारण का उत्तर भारत पूर्ण रूप से अधिकारी था। स्मरम रत्ने की बात है कि दक्षिण का भक्ति-मार्ग अपने मूल रूप में कृष्णपरक था, परन्तु उत्तर में स्वामी रामानन्द हाथ राम भक्ति का प्रचार सम्भवत उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थिति के कारण ही हुआ। इसमें शन्देह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास की राम विषयक कल्पनाओं ने स्वामी रामानन्द के अभीष्ट को पूर्ण किया। इस प्रकार उत्तर भारत के भक्ति-ग्रन्थोक्त में यदि मुक्तकाली राज्य की स्थापना कहीं भी अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रही है तो वह केवल राम की उपासना की प्रवृत्तियों में।

उत्तर भारत तथा महाराष्ट्र की कृष्ण भक्ति का वर्णन-क्षेत्र यद्यपि दक्षिण का ही भक्ति-ग्रन्थोक्त रहा है तथापि रामानन्द-सम्प्रदाय की वरम्परा के कारण महाराष्ट्र में कृष्ण भक्ति ने वास्तविक प्रारण किया वह उत्तर भारत की कृष्ण-भक्ति से बहुत-कुछ भिन्न है। कृष्ण का योगेश्वर, लोकनायक, महाभारत के प्रत्येक बीज का दिव्य संरक्षक होने वाला तथा वाक-रूप मराठी कविता का प्राण है। अतः मराठी कविता में सर्वत्र वास्तव और वास्तव्य-मार्गों की ही प्रधानता है जबकि हिन्दी-कविता का मुक्तक वास्तव और वास्तव्य की अपेक्षा काल्पना का मधुर भाव तथा सत्य की ओर ही अधिक है। दूसरे स्थलों में, मराठी कृष्ण काव्य का अभीष्ट लोक-हित है जबकि हिन्दी-कृष्ण-काव्य का लोकदर्शन।^२ यही कारण है कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों ने भावगत के आधार पर कृष्ण की रास-लीलाओं से ही अधिक प्रेरणा ली है।

हिन्दी-कृष्ण-काव्य के इस विविध दृष्टिकोण का कारण संक्षिप्त रामचन्द्र युक्त के बलमाचार्य ने भक्ति-मार्ग को माना है।^३ धार्मिक निदाओं के अनुप्रास की दृष्टि से यह १. हिन्दा साहित्य का इतिहास, भाषाई रामचन्द्र युक्त, १०-१०।

२. यदा, १०-१२५।

३. यदा, १०-१२५।

सम्बन्धित मृगार, युद्ध राज्यप्रसंगा आदि तत्त्वों का उदाहरणार्थ आवश्यक था, इन कवियों का अपना निजी व्यक्तित्व भी था और इस बातें उनकी भाषा में तत्कालीन सामाजिक दशा की अभिव्यक्ति एक मानवीय आवश्यकता थी। इस आवश्यकता-पूर्वक का अभाव क्या यह मही सुचित करता कि उस समय लोक में धर्म के विषय में कोई विशेष आसक्ति विद्यमान नहीं थी। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि हिन्दी निर्गुण काव्य पारा के पूर्व जो भी अपभ्रंश का धार्मिक काव्य उपलब्ध होता है वह मुख्यतः जन सिद्ध वीर नाथ साधुओं द्वारा रचा गया है।^१ उसका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धार्थों का प्रचार करना था। इन रचनाओं की सर्जना तथा राज-कवियों की धार्मिक काव्य-रचना के प्रति उदासीनता स्पष्ट रूप से इस बात को सुचित करती है कि उत्तर भारत में प्राचीन वैदिक परम्परा लोक में निष्प्राण-सी होने लगी थी तब धार्मिक वैद्यन्य नगण्य। उत्तर भारत की इस धार्मिक पार्श्वभूमि के कारण ही ईसा की दसवीं शताब्दी के समय वसिष्ठ से उभरी हुई भक्ति-आरा उत्तरी भारत को व्याप्त कर सकी।

हिन्दी साहित्य ने भक्ति-काव्य की पूर्व परिस्थितियों पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं— 'वेद में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में वीरत्व गर्व और उत्साह के लिए वह व्यकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देव मन्दिर गिराये जाते थे देवमूर्तियाँ ठोड़ी जाती थीं और पुष्प पुष्पों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी वस्था में अपनी वीरता के नीत न तो वे जा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। जाने चकरकर जब मुसलिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इसी भारी राजनीतिक उछट फेर के कारण हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। जपन पौष्य है इत्यादि आदि के लिए भयबानू की सक्ति और कस्मा की ओर ध्यान के जाने के अतिरिक्त कुछ मार्ग ही क्या था? अब धार्मिक स्थिति देखिए। धार्मिक के अन्तर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार ब्रह्मगानी, सिद्ध, कापाकिक आदि शैख के पूर्वी भागों में और नाथपंथी जोषी परिचयी भागों में रमते बसे जा रहे थे। इसी बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्म भावना कितनी दबती जा रही थी। उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था हिन्दी साहित्य के आदि-काव्य में धर्म तो सर्व-सुख विधि-विधान वीरपटिन और पर्व-स्तन इत्यादि के संकुचित क्षेत्र में पड़े से बहुत-कुछ बह चला जाता था। धर्म की भावनात्मक अनुसूति या भक्ति, बिधका सुनपाठ महाभारत-काव्य में और विस्तृत प्रवर्तन पुराण-काव्य में हुआ था, कभी कभी दबती कभी कभी उभरती किसी प्रकार बची भर जा रही थी।

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-भक्ति-काव्य की सर्जना के लिए मुख्य कारण उत्तरी और पश्चिमी भारत में मुसलमानी राज्य की प्रतिष्ठापना को माना है तथा तत्कालीन धार्मिक अवस्था को उसमें सहायक। पर वस्तु स्थिति इससे ठीक विपरीत प्रतीत होती है। मुसलमानी राज्यस्था की प्रतिष्ठापना का परिणाम

१. हिन्दी साहित्य का आदि-काव्य, डॉ. इब्राहीम मसाल द्वितीय १०११।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, १०२।

समुद्र सत्ता को भी स्वीकार किया है एवं विष्णु-परम भक्ति के कई स्तोत्र लिखे हैं^१ तथापि भक्ति का उन्होंने केवल चित्त-मुक्ति का साधन माना है। भक्ति के रामानुजाचार्य विष्णुसहस्रनाम प्रचार एवं अनुशीलन के लिए स्वस्वरूपावस्थान (स्वस्वरूपावस्थान) भक्ति रित्यभिधीयते- विवेक ब्रह्ममणि) आवश्यक है। उपास्यो-पासक भाव के बिना भक्ति सम्भव नहीं पर उपास्योपासक का यह भाव ब्रह्म का विरोधी है इसलिये सांकर मत में परमेश्वर और भक्त के सम्बन्ध का प्रश्न^२ नहीं उठता।^३ अतः उपासना के लिए भक्ति का कोई महत्व नहीं। सद्युक्तोपासना अथवा प्रतीकोपासना को मान्य करते हुए भी^४ इस प्रकार की उपासना का फल उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति न मानकर ब्रह्मलोक प्राप्ति ही माना है।^५ ब्रह्मलोक में जीव और परमेश्वर के भेद की प्राप्ति हुए उस अवस्था से उन्होंने केवल ब्रह्म-मुक्ति की प्राप्ति को स्वीकार किया है। सद्युक्ति की प्राप्ति को नहीं। मोक्ष तो केवल एक ज्ञान से ही मिल सकता है (ज्ञानादेव तु कैवल्यं) अतः उपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन ज्ञान है और ज्ञान ही ब्रह्म प्रतीति। ज्ञान-वस्था में कर्म का कोई स्थान नहीं होता। उसकी महत्ता केवल चित्त-मुक्ति के लिए हो सकती है, अतः चित्त-मुक्ति प्राप्त होते ही कर्म-त्याग अनिवार्य है। अन्तर्मा जीव ज्ञानावस्था को प्राप्त कर लेने पर भी कर्म करने से मुक्तिकारका से ब्रह्मवस्था में उतर आया। कर्म मात्र से यदि मोक्ष-प्राप्ति सम्भव हो तो कर्म ही उपासना का एक-मात्र साधन होता।^६ सिद्धान्त की दृष्टि से संकट चार्य वा ब्रह्मचर्य परम तत्त्व कपी एक ही तत्त्व का समर्थक होते हुए भी उपासना पद्धति में चित्त विष्णु पूर्ण चित्त तथा भक्त्य आदि पंचायन-युवा का समन्वय होने के कारण बहु देवताओं का तथा इस प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र में उनके सिद्धान्त और उपासना में परस्पर विरोध दृष्टिगत होता है। यह ज्ञान से पर भी कि संकराचार्य ने किसी संकुचित दृष्टिकोण से किसी देवता की उपासना अथवा सम्प्रदाय को नहीं बल्कि वा तथा तत्त्वार्थ पर ही अधिक ध्यान दिया था। जन-जन पर उसका प्रस्ता परिणाम हुआ और ज्ञान से अनभिज्ञ भक्ति-विज्ञान जनता में अनेक वैयक्तियों की एक साथ उपासना की पद्धति चल पड़ी। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह उपासना-पद्धति स्वयं सांकर सिद्धान्त की विरोधी थी। इस वस्तुस्थिति को रामानुजाचार्य ने उसका तथा इसीका निष्कर्ष महाराष्ट्र के महानुभाव एम् के अन्तर्गत एकरात्र के रूप में कृष्ण की जन्य उपासना को स्वीकार करके स्वामी बनकर ने किया।

वासुदेव-युक्त बालबालों की परम्परा के आविर्भाव होनेके कारण रामानुजाचार्य ने विष्णु की उपासना को स्वीकार किया, क्योंकि उनके समय तक सांकर वासुदेव और विष्णु का ऐक्य पूर्ण रूप से सम्भव हो चुका था। सांकराचार्य वा ज्ञान-मार्ग केवल बौद्धिक एवं अनुभवमय होने के कारण जनसाधारण के लिए सुलभ नहीं था, अतः सांकर के छोटे ज्ञान का विरोध करते हुए रामानुजाचार्य ने भक्ति की उपासना का माध्यम बनाया। कही नहीं, कर्म-योग की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होंने भक्ति को ही परम साध्य भी माना है। पीठा

१. वास्तु सागरा इत्यादि संस्कृत 'विरिमीहेकरोपध'।

२. देखिए, अध्यात्म, १-४ पर सांकरवाच्य।

३. पदो ४ १-२ पर सांकरवाच्य।

४. देखिए अध्यात्म ४-३ १ ४ १-४ ४ ४-४-१३ पर सांकरवाच्य।

५. एम् अध्यात्म ३ अर्थात् विष्णोपनिषद्, श्रीविश्वेश्वर साहसी, १ १५०।

अनुमान अनुचित नहीं है तथापि हिन्दी-कृष्ण मक्ति का मुख्य आधार बल्लभाचार्य के शक्ति सिद्धान्तों में खोजने के पहले उत्तर भारत में पुष्टि-मार्ग की स्थापना एवं विकास के कार्यों पर विचार करना नितास्त आवश्यक है। ब्रज-मंडल में बल्लभाचार्य द्वारा अपने सिद्धान्तों के प्रचार का शोक-विविध कारण है ब्रज-मंडल का कृष्ण-योगियों की सौका-भूमि होना। इसी लिए तेजसु भापी होते हुए भी बल्लभाचार्य ने अपने मत के प्रचार के लिए ब्रज-भूमि को चुना। पर यह शक्तिशाली सत्य है। क्योंकि बल्लभाचार्य का उत्तराश्रम आग्र-भूमि पर स्थापित कर भी उनके सिद्धान्तों के बहुमुख आग्र का तत्कालीन वातावरण नहीं था। तेजसु देश का उत्कृष्ट करते हुए स्वामी ब्रजधर ने उसे विषय-बहुल देश कहा है तथा अपने शिष्यों को नहीं जाने से मना किया है। वे कहते हैं—

कालवेष्टा तैलवेष्टा म बचावेष्टा से विषयबहुल देश ।

(तैलम और कलक प्रदेश में निवास नहीं करना चाहिए क्योंकि वे विषय-बहुल देश हैं।)

स्वामी ब्रजधर का कास बाणेश्वरी सतायी माना जाता है। अतः बल्लभाचार्य के सिद्धान्त-निरूपण पर प्राचीन परम्परा का रंग पड़ा हो तो आश्चर्य की बात नहीं और अपने मत प्रचार के लिए ब्रज-मंडल को चुनने से पूर्व भी उनके सम्मुख उत्तर भारत की शक्तिशाली प्रवृत्ति ही रही होगी क्योंकि ब्रज प्रचार और शोक-विविध का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है।

पहले देखा जा चुका है कि सिद्ध और राम-मार्गी साधुओं की उपासना-प्रवृत्ति में स्त्री-सहवास एक आवश्यक अंग बन गया था तथा इस प्रकार की उपासना का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो रहा था। उपासना के क्षेत्र में यह उत्पन्न अव्यवस्थित होते हुए भी उसका बराबर प्रचार होता गया। इसका एक-मात्र कारण था प्राचीन काल में काम-पूजा का प्रचलन। जापान चीन बंगाल तथा पूर्वी एशिया के प्राचीन साहित्य एवं शोक-विश्वासों के परीक्षण से पता चलता है कि यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से योगि के रूप में परम-तत्त्व या परमेश्वर की उपासना की प्रवृत्ति विद्यमान थी क्योंकि योगि सर्वज्ञता की प्रतीक है। यही योगि अथवा परमेश्वर की सर्वज्ञ-शक्ति की उपासना काबान्तर में निरुद्ध रूप में परिवर्तित होने लगी पर उसका प्रभाव अग-मन पर बराबर बना रहा। इस विश्वास के उत्तरोत्तर विकास के कारण ही साम्प्रदायिक क्षेत्र में परमेश्वर के साथ-साथ स्त्री स्त्री शक्ति को स्थान मिला और उपासना के लिए प्रेम-साधना की प्रवृत्ति कोकप्रिय होने लगी। हिन्दी के कृष्ण-मक्त कवियों की राधा-कृष्ण उपासना और ब्रजधर के वैष्णव-सम्प्रदाय की उपासना में उत्तर भारत की परम्परा से प्रभावित ये ही भावनाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। इन भावनाओं के सूक्ष्म प्रेम-साधना के अत्यन्त निकट होने के कारण ही प्रायः उनमें मुक्तिमय सम्प्रदाय का प्रभाव भी देखा जाता है।

बीज-वर्णन का वर्णन करने के लिए ईश की माधवी सताम्बी में वेद उपनिषद् तथा पीठा के आधार पर ब्रह्म में संकराचार्य ने ब्रह्मवाद का प्रचार करके बीच और ब्रह्म की एकता मानकर माया को मुख्य अथवा मिथ्या कहकर ब्रह्मवाद का प्रचार किया— ब्रह्म सर्व अन्विष्या बीजो ब्रह्म ना पर, यद्यपि संकराचार्य ने ब्रह्म की व्यावहारिक

भक्ति पर अधिक बल देने के कारण निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का विशेष महत्त्व है। निम्बार्कचार्य ने परमेश्वर और जगत्—दोनों को साथ माना है तथा जीव को नित्य। मुक्ता पन्था में जीव ईश्वर से साक्षात्कर्म का अनुभव करता है तथा वह ईश्वर की शक्ति का भोग होने के कारण उसीमें वास भी करता है। इस प्रकार जीव ईश्वर से भिन्न और एक रूप भी है। मुक्तवत्त्वा भक्ति से ही प्राप्त होती है। निम्बार्कचार्य के अनुसार जीव को वेद-वर्जित कर्मों की आवश्यकता ज्ञान प्राप्ति तक ही होती है। ज्ञान प्राप्त कर ज्ञान के पश्चात् ज्ञानी को वेदोक्त कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती। उनके मतानुसार जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञानात्मक है। वह एक साथ ज्ञाता कर्ता तथा मोक्ष है। वह जगत् कर्ता और मुक्तवत्त्वा में भी कर्ता रहता है। इस दृष्टि से उसमें जीव ईश्वर से केवल भिन्नता और नियम का भेद है। ईश्वर सत्पुत्र और निर्दोष है। जो कुछ भी इष्टमान एवं बोधयम्न है उस सबके बाहर और भीतर ईश्वर व्याप्त है। वही परब्रह्म भववान् पुण्योत्तम नारायण कृष्ण भावि विविध नामों से सम्बोधित होता है। निम्बार्कचार्य ने ही सर्वप्रथम राधासहिष्णु कृष्ण को महत्त्व दिया है। उनके मतानुसार जलस्थ मोर्चियों से घिरे हुए राधाकृष्ण हैं। राधा और कृष्ण की सीमा ही सृष्टि का रहस्य है। बार बार जीव जलस्थ जलस्थ कृष्ण के ही हैं। निम्बार्क मत के अनुसार जल पदार्थ तीन प्रकार का होता है—प्राकृत अप्राकृत और काक। प्राकृत वह है जो मद्धु तत्त्व से लेकर महाभूतों तक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है अर्थात् जल। अप्राकृत वे पदार्थ हैं जिनका प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं तथा विष्णुपद परमपद भावि।

आचार्य निम्बार्क वैष्णव मत के सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रतिनिधि माने जाते हैं^१, पर उनके मत के विषय में अभी कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। निम्बार्क मत को सनकादिक सम्प्रदाय हंस-सम्प्रदाय तथा वैष्णव-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इस मत के प्रवर्तक हंसवद्वार भगवान् माने जाते हैं। भगवान् हंस ने अपने शिष्य सनत्कुमार को इस मत का उपदेश दिया था और सनत्कुमार ने अपने शिष्य नारद को। नारद से वह निम्बार्कचार्य को मिला।^२ आद्यतन से पता चलता है कि सनत्कुमार को योग-विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही भगवान् ने हंसवद्वार नारद किमा था।^३ जहाँ बहुत सम्भव है कि भगवान् हंस ही इसके मूल प्रवर्तक रहे हों। लारोन्व जगन्निपत् में नारद के सनत्कुमार के शिष्य होने का प्रमाण मिलता है।^४ ब्रह्म-विद्या शास्त्र की परम्परा का जलस्थ करते हुए महापात्र के महानुभाव पंच के आद्य-प्रवर्तक स्वामी ब्रह्मर ने भी ब्रह्म-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश हंसवद्वार द्वारा माना है।^५ निम्बार्क मत के अनुसार ईश्वर और जीव के विभाजित का प्रमाण उत्तर भारत के संत-साहित्य पर पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है। विशेषतः बुद्ध नामक और कबीर भावि पर। सागर में बूँद और बूँद में सागर के समान ब्रह्म में जीव और जीव में ब्रह्म—यै मूल भाव की आस्था इसी विभाजित को दृष्टिगोचर करती है।

१. भगवत् सम्प्रदाय, कन्दर्प वृत्तान्त, पृ० ३१३।

२. भगवत् सम्प्रदाय, कन्दर्प वृत्तान्त, पृ० ३१३।

३. लोभरत्नाकर, ११।१५।१६।

४. भगवत् सम्प्रदाय, कन्दर्प वृत्तान्त, पृ० ३१३।

५. पुरुषार्थ, पृ० भा० ३३, विचार, पृ० ३३।

साध्य की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—अर्जुन को युद्ध के लिए प्रवृत्त करने के निमित्त परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन रूप वेदास्त-वर्णित ज्ञान-कर्म-योग द्वारा साध्य अपने विषय में भक्ति-योग भगवान् ने प्रकट किया। स्पष्ट ही उनका अभिप्राय है कि मीठा में भक्ति-योग का ही प्रतिपादन हुआ है। रामानुजाचार्य के मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति भक्ति से ही सम्भव हो सकती है। ज्ञान और कर्म केवल भक्ति के साधन हैं। उन्होंने भक्ति के भी दो भेद माने हैं—साधन भक्ति और परम भक्ति। साधन-भक्ति में चित्त-मुक्ति होकर बीच परम-भक्ति का प्राप्त बनता है। रामानुजाचार्य के शिष्य बेंकटनर ने 'सर्वार्थसिद्धि' नामक अपने ग्रन्थ में रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना है—'महनीय विषये प्रीतिर्भक्तिः।' रामानुजाचार्य के मतानुसार भक्ति भावना न होकर विशेष ज्ञान है^१ और बीच परमेश्वर का अंश है यह ज्ञान केना ही ज्ञान। परमेश्वर अविभाज्य होने के कारण परमेश्वर से विभक्त अंश अंश न रहकर विशेषण विशेष्य का ईश्वर और बीच का सम्बन्ध है। बीच यथार्थ में ईश्वर का भुज वर्म है यह ज्ञान प्राप्त होते ही भुवानुत्पत्ति अवस्था निरंतर चित्तन द्वारा उसकी भक्ति करना ही मुक्ति प्रदान करने वाला योद्ध योग है। भक्ति का अधिकार चारों वर्गों को है। कई स्थानों पर भक्ति और प्रपत्ति में भी भेद किया गया है। किसी-न किसी समय ईश्वर अपना अवयव उठार करेगा इस इस अक्षय्य विश्वास को लेकर अनन्य माय से भगवान् की शरण जाना ही प्रपत्ति मार्ग कहलाता है तथा उसका अधिकारी सभी वर्गों को माना गया है जबकि भक्ति-मार्ग केवल विषम तक ही सीमित रखा गया है।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि उपासना के क्षेत्र में रामानुजाचार्य ने भक्ति, ज्ञान और कर्म के समुच्चय को स्वीकार करके अलग्ग पाव हैं समुच्च ईश्वर-भक्ति पर और लेकर वैदिक धर्म को अधिक व्यापक एवं जन-मुक्त बना दिया। रामानुजाचार्य ने अपने मत प्रतिपादन के लिए ब्रह्मसूत्र उपनिषद् एवं मीठा का ही आशय किया है पर उनके उत्पन्न निष्कर्ष पर पुराणों का ही अधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है।^२ यही कारण है कि उपासना के क्षेत्र में कर्म का महत्त्व और भक्ति तथा प्रपत्ति की आवश्यकता मानते हुए भी वे बीच को ईश्वर का ही एक अंश मानते हैं। इस साम्यता में आसमान विरोध के निराकरण के लिए ही कदाचित् उन्होंने मामा की पूवक सत्ता को स्वीकार किया तथा सृष्टि को ईश्वर की कृपा माना। अगत्ता एक ही उत्पन्न का बीच और ईश्वर के रूप में विभाजन तथा भक्ति द्वारा उनका एकीकरण सैद्धान्तिक दृष्टि से अवसरत प्रतीत होता।

रामानुजाचार्य के विधिपट्टाईत में आसमान इसी विषमता के कारण भक्ति-मार्ग के समर्थक होते हुए भी माध्वाचार्य स्वामी अक्षर आदि ने द्वैतवाद का आशय किया। निम्बा-काचार्य का मत इन दोनों के बीच का मार्ग है। यद्यपि उन पर रामानुजाचार्य का काफ़ी प्रभाव दृष्टिगत होता है तथापि उन्होंने विधिपट्टाईतवाद को स्वीकार नहीं किया। निम्बा-काचार्य का मत द्वैतद्वैत सम्प्रदाय अथवा सनकायिक सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। प्रेम-

१ हिन्दी भाषा इतिहास विभागाधीन पाठशाला कथन पृ. १०-११२।

२ पृ. ११२।

३ आर्चका पालन धर्म, डॉ. नीलर कुलाकर्णी पृ. ११२।

शक्ति पर अधिक बल देने के कारण निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का विशेष महत्त्व है। निम्बार्कचार्य ने परमेश्वर और ब्रह्म—दोनों को सत्य माना है तथा जीव को निम्न। मुक्ता ब्रह्मा में जीव ईश्वर से सादारण्य का अनुभव करता है तथा ब्रह्म ईश्वर की शक्ति का भाग होने के कारण उसीमें वस भी करता है। इस प्रकार जीव ईश्वर से भिन्न और एक रूप भी है। मुक्ताब्रह्मा शक्ति से ही प्राप्त होती है। निम्बार्कचार्य के अनुसार जीव को वेद-वर्णित कर्मों की आवश्यकता ज्ञान प्राप्ति तक ही होती है। ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् ज्ञानी को वेदोक्त कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती। उनके मतानुसार जीव ज्ञान-स्वरूप और ज्ञानात्मक है। वह एक साम ज्ञाता कर्ता तथा मोक्ष है। वह अणु रूप है और मुक्ताब्रह्मा में भी कर्ता रहता है। इस दृष्टि से उसमें और ईश्वर में केवल निरन्ता और नियन्त्र का भेद है। ईश्वर समुच्च और निर्दोष है। जो कुछ भी हव्यमान एवं बोधव्य है उस सबके बाहर और भीतर ईश्वर व्याप्त है। वही परब्रह्म भववान् पुण्योत्तम नारायण कृष्ण आदि विविध नामों से सम्बोधित होता है। निम्बार्कचार्य ने ही सर्वप्रथम राधासहित कृष्ण को महत्त्व दिया है। उनके काव्यमय अंशकय गोवियों से घिरे हुए राधाकृष्ण हैं। राधा और कृष्ण की सीखा ही सृष्टि का रहस्य है। बार ब्यूह और अनेक अवतार कृष्ण के ही हैं। निम्बार्क मत के अनुसार बड़े पदार्थ तीन प्रकार का होता है—प्राकृत अप्राकृत और काक। प्राकृत वह है जो महत् तत्त्व से लेकर महाबूतों तक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है अर्थात् ब्रह्म। अप्राकृत वे पदार्थ हैं जिनका प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं, यथा विष्णुपद, परमपद आदि।

आचार्य निम्बार्क वैष्णव मत के सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्रतिनिधि माने जाते हैं^१ पर उनके काल के विषय में अभी कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। निम्बार्क मत को जनकारिक सम्प्रदाय हंस-सम्प्रदाय तथा देवयि-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इस मत के प्रवर्तक हंसावतार भववान् माने जाते हैं। भववान् हंस ने अपने शिष्य सनत्कुमार को इस मत का उपदेश किया था और सनत्कुमार ने अपने शिष्य नारद को। नारद से वह निम्बार्कचार्य को मिला।^२ भाष्यरूप से मता चलता है कि सनत्कुमार को यीशु-विषयक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही भववान् ने हंसावतार भरण किया था।^३ अतः बहुत सम्भव है कि भववान् हंस ही इसके मूल प्रवर्तक रहे हों। जांबोव्य उपनिषद् में नारद के सनत्कुमार के शिष्य होने का प्रमाण मिलता है।^४ ब्रह्म-विद्या शास्त्र की परम्परा का संस्कार करते हुए महाशय्य के महानुभाव पंच के भाग्य प्रवर्तक स्वामी जगन्नाथ ने भी ब्रह्म-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश हंसावतार द्वारा माना है।^५ निम्बार्क मत के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के भेदाभेद का प्रमाण उत्तर भारत के संत-साहित्य पर पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है, विशेषतः गुड मानक और कबीर आदि पर। सागर में बृंह घीर नूद में सागर के समान ब्रह्म में जीव और जीव में ब्रह्म—ये गुड मानक की भासा इसी भेदाभेद को सूचित करती है।

१ भाष्यर सम्प्रदाय कन्देव कथाव्यास, पृ० ११३।

२ यजुर्वेद सम्प्रदाय, कन्देव कथाव्यास, पृ० ११३।

३ श्रीमद्भगवद्गीता, ११।१५।१६।

४ भाष्यर सम्प्रदाय कन्देव कथाव्यास, पृ० ११३।

५ गुडपद, पृ० १०० केने, विधा, पृ० १००।

कबीर का पद—

माली मेरे साम की, बित बेचोँ तित नाम ।

माली बेचन मैं यई मैं सी हो गई नाम ॥

इसी प्रमाण का एक सवाहरण है ।

बल्कभाचार्य ने भक्ति को प्रेमकलनात्मक माना । उनका सम्प्रदाय पुष्टि-मार्ग के ना से प्रसिद्ध है तथा उसका सिद्धान्त है बुद्धावैतयाव जिसका आविर्भाव पन्द्रहवीं शताब्दी हुआ । बल्कभाचार्य का बुद्धावैतयाव सांकर-मत का विरोधी था । संकराचार्य ने ब्रह्म । मामा-रूप माना है, पर बल्कभाचार्य ने मायार्पित होने के कारण उसे झुठ । उनके मत मुसार कार्य और कारण रूप दोनों प्रकार से ब्रह्म झुठ है मायिक नहीं । मामा रहित हो ने कारण ही वह ब्रह्म तत्त्व है । 'सर्वं ब्रह्म इदं ब्रह्म' यह ब्रह्म है—के अनुसार सारी मूर्ति उसीरी सीमा का विकास है । बल्कभाचार्य ने वेद उपनिषद् पीठा ब्रह्मसूत्र एवं भागवत पुराण को ही प्रमाण माना है । उनका कहना है कि तर्क अथवा अनुमान से ब्रह्म का निरूप सम्भव नहीं । इस प्रकार संकराचार्य की तुलना में वे बिभुद्ध धार्मिक हैं और इस प्रकार शब्द को एक-मात्र प्रमाण मानने के कारण बल्कभाचार्य का बुद्धावैतयाव दार्शनिक सिद्धा न होकर धर्मशास्त्रीयवाक्य है ।^१ उपनिषदों में ब्रह्मिणीय सत् को ब्रह्म कहा गया है । गीत उसीको पुष्पोत्तम और मायवत-पुराण परमेश्वर या कृष्ण कहता है । बल्कभाचार्य के ब्रह्म ईश्वर अथवा परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । ब्रह्मरूप कृष्ण सविशेष और निर्विषे सव्युप और निर्व्युप अनु और महान्, अल और अचल गम्य और अगम्य—दोनों एक साथ हैं । वे सच्चिदानन्द स्वका हैं । उनका सभी गुण उनसे स्वभावतः अभिन्न हैं । वे अप्रमत्त शक्तिओं के साथ भक्तों को अपने 'व्यापी श्रीकृष्ण' में निरर्थ स्वीका किया करते हैं ।

बल्कभाचार्य ने तीन तीन प्रकार के माने हैं—पुष्टि मर्यादा और प्रवाह । ईश्वर । चिन्तन न करके निश्चय हीन मिलाने वाले तीन प्रवाह-बीज हैं । वेदानुसार वाचन करने वाले तीन मर्यादा बीज हैं तथा जो तीन ईश्वर की विशेष कृपा के लिए पात्र हैं वे ईश्वर से अनन्य प्रेम करके उसकी शरण में पहुँचे हैं वे हैं पुष्टि-बीज । इन तीनों में से पूर्ण बीज सर्वोत्तम है क्योंकि मर्यादा-बीजों को कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग से केवल कम-भूति मिलती है तथा वे कमसे पितृमान वैषयान और जीवन्य को प्राप्त करते हैं । तबका-भा करने से केवल सामोक्ष्य सामीप्य साहचर्य और सायुज्य मुक्ति ही प्राप्त होती है । पर पुष्टि बीज ईश्वर प्रेम की ही समस्त आध्यात्मिक कार्य-क्रियाओं का अर्थ और हेतु मानता है 'कठोपनिषद् के अनुसार आत्मा का ज्ञान प्रवचन और स्वाध्याय से सम्भव न होकर केवल ब्रह्म की कृपा से ही हो सकता है ।'^२ इसी का समर्थन पीठा में भी हुआ है ।^३ स्मृति-नाम में भासमान विरोध का निराकरण बल्कभाचार्य ने अपने सिद्धान्तों से किया तथा भक्ति-म की दो विभिन्न शाखाओं को माय्यता की । मर्यादा-भक्ति को उम्हने उन बीजों के लिए मा जो करने कर्मों द्वारा मुख्य होना चाहते हैं तथा पुष्टि भक्ति उन बीजों के लिए जो तीन

१ हिन्दी साहित्य कोश, ३, ७३६ ।

२ हिन्दी साहित्य कोश, ३, ७३७ ।

३ पीठा, १०, ११ ।

बसहाय है तथा सब प्रकार से साधनहीन है। पुष्टि भक्ति ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति है जो सर्वोत्तम साधना भी है और साध्य भी। ईश्वर प्रेम-विषयक इस विशिष्ट इष्टिकोण के कारण ही बल्लभाचार्य का साधना-मार्ग पुष्टि-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों ने 'पुष्टि' का मर्म मोटा-साजा या 'बाधो-विमो गीत उदाओ' समझा है^१ पर यह ठीक नहीं है। स्पष्ट ही बल्लभाचार्य ने भागवत-अध्याय 'प्रेमं तदनुब्रूह' के अनुसार पुष्टि को भगवान् का अनुग्रह माना है तथा ज्ञान मार्ग और कर्म-मार्ग के कठिन होने के कारण भक्ति का समर्थन करते हुए पुष्टि-मार्ग को ही प्रोत्साहन माना।

पुष्टि भक्ति को भी उन्होंने चार प्रकार का माना है—प्रवाह-पुष्टि-भक्ति मर्यादा पुष्टि भक्ति पुष्टि-गुप्ति भक्ति एवं बुद्ध-पुष्टि भक्ति। प्रवाह-पुष्टि भक्ति उन लोगों के लिए है जो सांसारिक जीवन गतीत करते हुए भी भगवान् की भक्ति करना चाहते हैं। मर्यादा पुष्टि भक्ति विरक्त जीवों के लिए है। पुष्टि-गुप्ति भक्ति उन लोगों के लिए है जो ईश्वर की कृपा से भक्त बनते हैं और तत्परचात् उसीकी कृपा से सहायता बन पाते हैं और कुछ पुष्टि-भक्ति वह है जिसके द्वारा जीव ईश्वर से केवल 'अपित प्रेम करता है। यह अवस्था केवल भगवान् की कृपा से ही स्थापित होती है तथा इसके तीन चोपान हैं—प्रेम, आसक्ति और ध्वस्त। गोपियों की भक्ति बुद्ध-पुष्टि-भक्ति का ही उदाहरण है। इन कोटि के भक्त साधुज्य-भुक्ति को हीन समझकर श्रीकृष्ण की रास-लीला में निरन्तर भाग लेना ही सर्वश्रेष्ठ भुक्ति मानते हैं।

बल्लभाचार्य के मतानुसार कृष्ण रास-रूप आनन्द-रूप और लीलार्थ रूप हैं। 'वे सभी रसों को, पर विशेषतः श्रृंगार रस को प्रकाशित करते हैं। संयोग और विप्रलम्भ के प्रेक्ष से श्रृंगार दो प्रकार का है। अपने भक्तों के सम्मुख वे कृष्ण दोनों की अभिव्यक्ति करते हैं। इन्हीं पर ध्यान करना पुष्टिमार्ग का लक्ष्य है।^२ पुष्टिमार्ग की स्थापना करते बल्लभाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र में आनन्द-पुराण के दस स्कन्ध को महत्त्व देकर बाल-कृष्ण और उनकी सभी रासा की उपासना-पद्धति को ही नहीं बल्कि वरन् साधना के रूप में भक्ति को और भी सरल बनाकर उसे जन-सुलभ बना दिया। भक्ति के इस व्यापकत्व तथा रंजन-स्वरूप के कारण ही रास-लीला बाल-लीला गोकुल-वर्णन, यशोदा-नामसक्य गोपियों के साथ कृष्ण की केरि-लीलाओं तथा अमर-जीत कावि का विशद वर्णन करके ब्रज भाषा के अधिकांश कवियों ने पुष्टिमार्ग का ही आशय लिखा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के क्षेत्र में रामानुजाचार्य ने बहुत हिन्दी-काव्य को ईप्सव-भक्ति की ओर प्रवृत्त किया, निम्बार्काचार्य ने बहुत कृष्ण को ही ब्रह्म-रूप माना तथा राधा को कृष्ण की ध्वज के रूप में स्वीकार किया बहुत बल्लभाचार्य ने राधा कृष्ण और गोपियों की जीजाओं को लेकर संयोग तथा विप्रलम्भ श्रृंगार से परिपूर्ण हिन्दी-कृष्ण काव्य के अग्रज स्रोत प्रवाह में सहायक बनकर बनजाने ही भक्ति को लौकिकता की ओर उन्मुख किया।

१ हिन्दी साहित्य कोश, ६० ७६६-७६७।

२ पञ्चम पुण्य, २। १०१४।

३ हिन्दी साहित्य कोश, ६० ७६५।

त्रिष प्रकार बल्लभाचार्य का पुष्टि-मार्ग हिन्दी-कृष्ण-काव्य में राधा तथा मोपिनी-
तन्वी श्रृंगार के समावेश के लिए तार्किक दृष्टि से उत्तरदायी रहा है, उसी प्रकार जयदेव
तथा विद्यापति भी कृष्ण भक्ति के इस नवीन प्रकार के लिए
उत्तरदायी रहे हैं। कृष्ण-भक्ति-मार्ग में भागवत के आधार पर
का प्रभाव सर्वप्रथम जयदेव ने ही भक्ति की पार्श्वभूमि पर संयोग तथा विप्र-
सम्भ श्रृंगार के रमणीय चित्र अंकित किए हैं। इस चित्रांकन के
ए पुराणों के आधार पर सर्वप्रथम राधा का आकार प्रकृति-तत्त्व के रूप में खड़ा किया
गया है। भागवतादि ग्रन्थों में वर्णित रास-क्रीड़ा तथा सूचित 'राधा नाम की प्रिय गोपी
स्वीकार करके जयदेव ने अपने काव्य में श्रृंगार का पर्याप्त समावेश किया है। कृष्ण
तथा गोपी तथा राधा के प्रेम का जो आदर्श जयदेव चौबीस विद्यापति प्रभृति कवियों
अपने सामने रखा उसीको चैतन्य महाप्रभु ने भी आदर्श माना। बारहवीं शताब्दी में
जयदेव द्वारा रचित 'गीतगोविन्द' में राधा और कृष्ण के परस्पर अनुराग, बिछड़
मधुर बिवेचन हुआ है। संयोग तथा विप्रसम्भ श्रृंगार का चित्रण ही 'गीतगोविन्द' में
केंद्रीय है। 'गीतगोविन्द' में यद्यपि भक्ति और श्रृंगार—दोनों का ही समावेश है तथापि
कि स्वानों पर उत्तान श्रृंगार का ही गहरा रंग चढ़ा हुआ दिखाई देता है। इन वर्णनों
देखकर यह भ्रम होने लगता है कि जयदेव मुख्य भक्त-कवि थे या श्रृंगार-कवि। इस
स के निवारण के लिए ही शायद कवि ने कहा है—

यदि हरिस्मरते सरसं मनो यदि विमलकलासु कुतुहलम् ।

मधुर कोमल कान्त पदार्पति श्रृंगारं तथा जयदेव सरस्वतीम् ॥^१

जान लेंगे योग्य बात है कि कवि की इस उक्ति तथा उसके काव्य में श्रृंगार और भक्ति का
दुर सम्मिश्रण होते हुए भी केवल हिन्दी कवियों पर ही नहीं एबीम्प्रताप ठाकुर पर भी
उका प्रभाव अखण्ड बना रहा।

वासुदेव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवद्-विषयक कल्पनाओं और जयदेव द्वारा प्रति-
पिष्ट श्रृंगार भक्ति—इन दोनों के बीच विद्यमान तार्किक भेद को देखकर ऐसा कदा है
जो जयदेव के काव्य में कृष्ण-विषयक प्राचीन कल्पनाओं को अकस्मात् एक नया मोड़
लगा। जयदेव के कृष्ण तत्त्ववेत्ता होते हुए भी रसिक अधिक थे। वासुदेव-भक्ति या कृष्ण-
भक्ति के इस आकस्मिक प्रकारान्तर के सुन जैन जागनों एवं पुराणों में बिखरे हुए निखरे
। जैन-साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'आयम' है। यह आयम भगवान् महावीर द्वारा
वित्त माने जाते हैं तथा उसका समय ई. स. ३२३ के पहले का माना जाता है। कृत
ग्रन्थ है 'बसुदेव हिंदी' जो कि चार गीतों वाली का कथा-संग्रह माना जाता है।^२ इन दोनों
ग्रन्थों में कृष्ण का चरित्र प्रचुर मात्रा में अंकित है। इन ग्रन्थों में कृष्ण की घोसह सहाय
गणियों तथा बाठ पटराणियों का उल्लेख है पर मोपिनी के साथ केसि-कीड़ाओं के वर्णन
न सर्वथा अभाव है। पहले कहा जा चुका है कि ईसा-पूर्व प्रथम द्वितीय शताब्दी एवं
प्रथम शताब्दी में बार्णव वासुदेव की पूजा प्रचलित थी तथा उसका प्रथम दर्शन महामात

के नारायणीय पर्व में होता है। बासुदेव की पूजा का मूल भगवद्गीता है। एकल भक्ति-मार्ग का वर्णन लोकप्रिय हुआ और बीता के भगवान् बासुदेव परमेश्वर के रूप में पूजे जाने लगे। इस भक्ति-मार्ग के प्रणेता बासुदेव-कृष्ण का भी चरित्र उपलब्ध है वह वात्स्यायन का न होकर बलस्कथा का है। यह कृति बाद में हरिवंश में कृष्ण की वात्स्यायन का कथा का समावेश करते पूरी कर दी गई। बत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसा-पूर्व काल में कृष्ण नटवर और अष्ट रसिया के रूप में नहीं पूजे जाते थे और न ही उस समय तक उनके वात्स-चरित्र का कहीं अधिकारमुक्त वर्णन मिलता है। कृष्ण और योगियों के प्रेम का वन-राज सस्तेज बचस्प इष्टियत होता है, पर इन उखरणों में लौकिक प्रेम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इन सब प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि राधा-कृष्ण-भक्ति का आरम्भ जयदेव ने नहीं किया अपितु उससे बहुत पहले वाली ईस्वी सन् के आरम्भ से ईसा की १०वीं शताब्दी तक यह भक्ति जनसाधारण के हृदय में अंकुरित होती रही थी। आठमाई के गीतों में गोपी-कृष्ण-लीलाओं के अनेक अनोखे वर्णन मिलते हैं। हाल की 'माहासप्तसई' (माया सप्तशती) में सर्वप्रथम राधा और कृष्ण के बिछड़ मिलन के प्रसंग सर्वथा लौकिक सम्पर्क में वर्णित मिलते हैं।^१ जयदेव के 'गीतगोविन्द' में सम्भवत इन्हीं लोक-विश्वासों ने सुझसुझ होकर निश्चित रूप धारण किया तथा आमासी भक्त-नवियों के लिए राधा और कृष्ण को लेकर भक्ति के शोभनीय पुष्पों से सुसज्जित उत्तम मृगार को लेकर काल-सर्जना के लिए मार्ग बना दिया। जयदेव द्वारा रचित राधा-माधव के कीर्तन-कलाओं की प्रतिष्ठा 'मैत्रिक-कोटिक विद्यापति की 'कोमल-कान्त-रत्नावली' में सुनाई पड़ी। संस्कृत साहित्य के प्रकाशक पंडित होने के कारण रसिक विद्यापति की भावुकता पर साहित्य शास्त्र का रस बढ़ा और जिसने राधा और कृष्ण के चरित्र की मायक-नायिका-भेद की अनुकरणीय वस्तु बना दिया। 'विद्यापति के राधा-कृष्ण भक्तों के राधा और कृष्ण न रह कर कामशास्त्र में विपुल मायक और नायिका बन गए। विद्यापति ने राधा और कृष्ण का जो चित्र खींचा है उसमें वात्स्यायन का रस बहुत ही गहरा उतरा है। आराध्यदेव के प्रति भक्त की जो पवित्र भावना होनी चाहिए, वह उसमें लेखमाण भी नहीं है। सम्बन्ध-भाव से जो संपादना की गई है उसमें श्रीकृष्ण जीवन में उग्रमत्त मायक की भाँति चित्रित हुए हैं और राधा जीवन की महिला में मरमत्त एक सुखी नायिका की भाँति। राधा का प्रेम लौकिक और वात्स्यायन है। आत्मन् ही उसका सहेरा है और शरीर उसका किना-कटाप। जीवन ही है उसके जीवन का विकास है।^२ विद्यापति की राधा वयासंघि पर पतुंभी हुई बल्लूहि किमोरी है। उनमें रीचन और जीवन का संघर्ष साकार हो उठा है। चरनों की चपकटा जीवनों ने धारण कर ली है। वह मुकुट लेकर नित्य मृगार किया करती है— 'मुकुट लह अब करई विगार। मन लपाकर वह रस-कथा सुना करती है। उनके सौन्दर्य से सब चकित हो उठे हैं। आश्चर्य-सार कृष्ण तो उनका जीवन देकर मुक्ति ही हो जाते हैं—

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ० १००।

२ भारत भक्तिपरम्परा, हिन्दी साहित्य में राधाकृष्ण की भावना का विकास, श्री संयुक्तप्रकाश प्रकाशना, पृ० १००।

‘भुरगि परस किति लग-सावन-सार’

संक्षेप में विद्यापति की राधा जीवन से परिपूर्ण वासनामयी माननी है और कृष्ण जीवन के मूर्तिमान नायक । विद्यापति की शृंगारिक पद्यावली से बंगाल की सामाजिक प्रकृति और भी उत्तेजित हो उठी । इस उत्तेजना को चंडीदास के प्रेम-गीतों ने और भी तीव्र कर दिया, यहाँ तक कि जैगन्ध महाप्रभु अवश्य विद्यापति और चंडीदास की शृंगारिक पद्यावलीयों को या-गाकर मस्त रहने लगे । इतना जरूर है कि विद्यापति और चंडीदास की व्यक्त शृंगारिक कविताओं से चैतन्य की भक्ति-भावना का संयोग हो गया और नायिका प्रेम की भावना के अनुरूप कृष्ण भक्ति को देखा जाने लगा । चैतन्य द्वारा परकीया प्रेम की भावना कृष्ण-प्रेम में अपना की गई तथा कृष्ण की भक्ति गोपी भाव से की जाने लगी । चैतन्य ने बैबी भक्ति को न अपनाकर रागानुगा भक्ति को प्रधानता दी । रागानुगा-भक्ति में भी उन्हें ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य ही अधिक लगता । माधुर्य की पाँच शाखाओं—छाँट वास्य सख्य वास्य और माधुरी—में भी माधुर्य बंगाल की प्रकृति के अधिक अनुरूप होने के कारण चैतन्य की भक्ति में माधुर्य भावना की ही प्रधानता रही है । छाँट यह है कि चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-भक्ति में परकीया प्रेम तथा राधा के प्रति कृष्ण के असीम आकर्षण को स्वीकार कर लिया । इसी प्रकार गोपी राधा परमेश्वर की वानन्व-भक्ति के रूप में भी स्वीकार कर ली गई । चैतन्य महाप्रभु तथा अन्य आचार्यों द्वारा राधा-कृष्ण की इस माधुर्य भक्ति के प्रकार के परिणामस्वरूप राधा-कृष्ण की केसि-भेदाओं का स्मरण करना कृष्ण-भक्ति का एक अनिवार्य अंग बन गया । उसमें ऐश्वर्य-बोध का समावेश होने के कारण वास्तव भावना प्रस्फुटित न हो सकी । परिणाम यह हुआ कि राधा-कृष्ण की भक्ति आदर्श और पवित्रता के अभाव में भौतिक बराबर पर उतरने लगी । इसके पुष्परिचामों को ब्रजसूय के सुरदास तथा महापद्म के नामदेव और तुकाराम आदि सत्तों ने समझा । जनता को इन पुष्परिचामों से बचाने के लिए जिस प्रकार सूर ने ईश्वर को अपनाया उसी प्रकार ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव और तुकाराम ने राधा के स्थान पर शक्तिजी को मान्यता देकर कृष्ण भक्ति को राधा और लीला-कल्याणकारी रूप प्रदान किया ।

ईसा की ११वीं शताब्दी में समापति ने तथा १२वीं शताब्दी में अवश्य ने राधा भावन को लेकर संयोग और निप्रलम्भ-शृंगार पर लब्धकोटि के काव्य का सृजन किया था ।

धीरे धीरे अपने काव्य-सौन्दर्य और विषय-विवेचन के कारण मीठ-मीठा और करसी मेहता, लोचन, भक्तों का कंठहार बन गया तथा उसकी रचना के परभाव गुजरात का प्रभाव लगभग एक शताब्दी में ही उसका प्रचार समस्त भारत में हो गया ।^{१०} गीतगोविंद द्वारा प्रतिपादित राधामायन भक्ति को चंडीदास के शृंगार प्रभाव गीतों ने और भी उत्तेजित किया । भक्ति की इसी परम्परा से प्रभावित होकर चैतन्य महाप्रभु ने गोपी भाव से कृष्ण भक्ति की प्रतिष्ठापना की तथा वैष्णव भक्ति की एक नई व्यापक-प्रकृति की ओर अग्रसर किया । उन्होंने मृदावन की यात्रा की तथा उठे भक्ति-मार्ग का केन्द्र बनाना चाहा । सन १६३० में उनके शिष्य जोरनाथ ने

दुःखान्न में वैराग्य-सम्प्रदाय की स्थापना की।^१ भारी बल्लभर बीच भीसाह में इस सम्प्रदाय की बीर भी पुराण बताया गया दुःखान्न से उद्भूत इस वही भक्ति-बारा में समस्त भारत को व्याप्त कर गया। पुत्रराज में उसका प्रचार १७वीं सताब्दी में माना जाता है।^२

विद्य समय बंगाल में वैराग्य महाप्रभु राधा-कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर रहे थे उस समय उत्तर प्रदेश के बल्लभार्य का सम्प्रदाय प्रवक्त हो चुका था। बल्लभार्य के मुद्राईत और निम्नार्क के कृष्ण चरित के मोक्ष में राधा-कृष्ण की माधुर्य मान की भक्ति का बल्लभर प्रचार किया। पुत्रराज की भक्ति-कविपित्री श्रीरामाई और नरसिंह मेहता पर दुःखान्न की भक्ति-प्रवर्तकी का विशेष रूप से प्रभाव इष्टिबोधर होता है।

कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति विस्तृत प्रेम पर आधारित है 'भोरमुकुट-मारी नन्द मन्दन' ही उसके प्रति है। निरन्तर मोपाह के अतिरिक्त किसी दूसरे से उसका सम्बन्ध नहीं है।^३ कृष्ण की बाँधी सीतली क्षति उसकी बाँधों में समाय रहती है।^४ कुछ पदों में कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम भी गोपी बाब का प्रेम अभिलक्षित होता है। ऐसे पदों में मीरा उन गोपियों की भाँति समती है जिन्होंने 'संलक्ष्य सर्वविषयास्तत्र पावमूलम्' ^५ कहकर अपने आपको मीकृष्ण पर स्वीकार कर दिया था। ऐसे पद केवल भक्ति-भावना से ही सम्बन्धित है। उनमें प्रेम तथा विरह की छाया नहीं है केवल ध्यात मान का प्राधान्य है। इसी पदों में मीरा के कृष्ण-सम्बन्धी विचार स्पष्ट हुए हैं। कुछ अन्य पदों में मीरा भोगिनी के रूप में भी प्रकट हुई है तथा बोधेश्वर कृष्ण से आत्म-निवेदन करती-सी प्रतीत होती है।^६ इस प्रकार एक ओर मीरा ने कृष्ण के प्रति विस्तृत प्रेम से विस्तृत होकर कल्याण हीन और बेचना का विचार किया है तथा काव्य बाब से कृष्ण की रूप-माधुरी वाली है, तो दूसरी ओर उसका प्रेम-मार्ग उसे ज्ञान की यक्षी की ओर ले जाता है।^७ इन पदों में उसका प्रियतम बघाटी कृष्ण न होकर विठ्ठल गिरकार परब्रह्म है। मीरा के इन दो भिन्न दृष्टिकोणों में पूर्व परम्परा का ही निर्वहण हुआ है। इनमें मीरा की निजी उद्घाटना नहीं है। हिन्दी तथा गुजराती साहित्य की मीरा की मौलिक वेग उसके वरों की मेयदा और व्यक्तित्व ईश्वर की धारना में ही अभिलक्षित होती है। उसके वरों में नन्दबल्लभ का विशेष प्रधान होने के कारण उनमें वन्दनीयता तथा महती अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है तथा उत्कण्ठता के कारण मेयदा भी उनमें बनाया ही जा गई है। गीत-व्यवस्था की सभी प्रमुख विशेषताएँ मीरा के पदों में विद्यमान

१ पुत्रराज परब इन्स सिन्दरेवा, पृ० १७६।

२ वही, पृ० १७६।

३ भोरमुकुट रसि, वरन गरी निम्न।

४ विष्ट वरन क्षति बरने मेरे नेक विष्ट वरन क्षति बरने।
 ईश्वर रूप भवन मन्दन की, विष्ट मन्दन बरने॥
 शक्ति मन्द, मन्दन डेरी मने शक्ति मन्दन रस बरने॥
 डेरी क्षति जो मुरली डेरी, डेरी नाम लर बरने॥
 'बन' मनु के रूप-प्रधानी, मन्दन मन्दन बरने॥

५ मन्दन १०१२६।१२।

६ मन्दन-मन्दन में सच विष्ट की क्षति क्षति मन्दन बरने।

७ मन्दन-मन्दन नाम लर बरने, निम्नरी हूँ मन्दन-मन्दनी॥

है। वस्तुतः मध्यकालीन हिन्दी भक्त कवियों की रचनाओं में गीतात्मकता जितने कुछ रूप में मीरा के पदों में तथा तुलसीदास की 'विजय-महिमा' में उतरी है उतनी कम किसी में भी नहीं। वास्तव में देखा जाए तो मीरा किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध नहीं थी। मीरा की भक्ति अधिकतर बिभोग प्रधान थी परन्तु उसमें दास्य और सख्य भावों की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति हुई है। मीरा के पदों में उसका व्यक्तिगत सम्पूर्णता है निकर उठा है। इसका कारण यह है कि उसकी भक्ति स्त्री-हृदय-जनित भक्ति थी। स्त्री के हृदय में सहज ही समर्पण की भावना हुआ करती है। यही कारण है कि मीरा के पद सूरदास के पदों की अपेक्षा अधिक आत्मानुसृत प्रतीत होते हैं।^१ वास्तव में हिन्दी की मीरा की कृष्ण भक्ति में अनन्यता और मधुर भाव का काम हुआ क्योंकि मीरा के दृष्टिकोण में कृष्ण लीला का उतना महत्त्व नहीं था जितना कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का था।

'चैतन्य जब तो ठेकें कहिए, ये पीर पराई जायें रे' के रचयिता नरसी मेहता ने भी कृष्ण की ही अपेक्षा दृष्टदेव माना। नरसी मेहता की कृष्ण भक्ति में भी शृंगार रस की ही प्रधानता रही है। उनका भाव गोपी भाव है तथा पदों में भक्ति और शृंगार—दोनों समा नास्तर बाराओं में प्रवाहित हुए हैं। उनकी रचनाएँ अधिकतर राय रागिनियों में ही हुई हैं। बल्लभ-सम्प्रदाय में उनके पद इतने लोकप्रिय हुए कि कवि की मूक भाषा से उनका कोई सम्बन्ध ही न रहा। नरसी के पद चैतन्य भाव प्रधान हैं। चैतन्य महाप्रभु और मीरा की ही भाँति उनके कृष्ण भी जीते-जागते दृष्टा हैं। उन्होंने रास-लीला का सर्वोच्च वर्णन किया है जो श्रीमद्भागवत के दसम स्कंध और ब्रह्मवैवर्तपुराण से ही अधिक प्रभावित है।^२ यत्र-तत्र उनमें 'वीरमोहिनी' का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'हिंडोला ना पवो' और 'संत ना पवो' में बल्लभ और काग का सुन्दर वर्णन हुआ है। कृष्ण भक्ति-मार्ग में फल के समावेश का येय वस्तुतः नरसी ही को प्राप्त है।^३ रास-लीला की ही भाँति नरसी ने भावगत के दसम स्कंध के अनुरूप कृष्ण चरित्र की लीलाओं का वर्णन भी अपने पदों में किया है जैसे बाळ-लीला बान-लीला आदि। मुख्य संश्राम में कृष्ण और राधा के बलों का पूर्वभासी की रात को परस्पर मुक्त दिखाया गया है जिसमें कृष्ण की उनके छाबी-संगी बाळ-मोराओं-सहित पराजय और राधा की जय दिखाई है। इस सर्वथा भौतिक दृश्यता में भर्वा पीनता का आभास पाने के कारण प्रोफेसर के० के० दास्ती उसे खेपक मानते हैं।^४ इसका तो स्पष्ट ही है कि मीरा के आराध्य पति-रूप कृष्ण नरसी तक पहुँचकर लोक के आदर्श प्रियतम बन जाते हैं तथा राधा और कृष्ण का विषय प्रेम जाये चसकर कमला लीकितता की ओर अग्रसर होने लगता है तथा रीति-काळ के बाधना-प्रधान प्रेम में उसका उपसंहार होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दियों में कृष्ण-सम्बन्धी विकसित विश्वास दक्षिण के आसवार संतों की वाणी में ग्रहण किये गए। जयदेव चंडीदास और विद्यापति आदि ने उनमें शृंगार को समाया। चैतन्य-सम्प्रदाय ने राधा भक्ति को आरम्भ

१ बंशी-नृसि-कृष्ण पृ० १३।

२ एनएन परब इत्य प्रोफेसर के पत्र मुम्बई, पृ० १३३।

३ यही।

४ यही, पृ० १३४।

करते मृगारमय यज्ञि की प्रतिष्ठापना की। ब्रह्ममाध्याय ने सोनी भाष को प्रभाव दिया। मीरा ने परमेश्वर को प्रति-रूप में देखकर रामानुजाचार्य की भाँति व्यक्तिगत ईश्वर की स्थापना की और नरसी मेहता ने रास-लीला-परक अपने मननों से कृष्ण-श्रेम को व्यापकत्व प्रदान किया।

मुरदास तथा अष्टछाय के कवियों में कृष्ण की कहाना को समझने के लिए उस समय की पृष्ठभूमि पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। डॉ० हरमल्लाल शर्मा ने इस पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है—मुर-साहित्य की पृष्ठभूमि भारत के मध्यकालीन युग का इतिहास है जिसमें वह महान् और व्यापक आन्दोलन अन्तर्निहित है जिसने ऐसी अनेक आघातों को बरम दिया जो एक ओर तो मानवता के लौ को विस्तृत करने वाली हैं तथा दूसरी ओर अनेक संकीर्णताओं को उत्पन्न करती हैं—भारतीय इतिहास में तो वह 'मध्यकालीन' काल गया-सा ही है परन्तु यूरोपीय इतिहास में मध्य-युग (मिडिलवुड पीरियड) सन् ४७६ से सन् १२२३ तक माना जाता है। इस काल में समाज में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का उदय हो गया था, जिनके कारण छतरोत्तर अन्धविश्वास का विकास और तन्म-विश्वास का ह्रास होता गया। केवल यूरोप में ही नहीं जिस्य के समस्त देशों में समस्त सम्प्रदायों और समाजों में इस मनोवृत्ति का महान् प्रभाव पड़ा था जिसने इतिहास का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। फिर भारत इसका अपना क्या कहे रह जाता? 'छठी सताब्दी में भारत में उस युग का सूक्ष्मतः हुआ जिसे हम यूरोपीय ऐतिहासिकों की परिभाषा में 'मध्य-युग' कह सकते हैं। इस काल की बर्म-साधना अनेक प्रभावों का समन्वित रूप कहनी या सकती है। छठी सताब्दी से ११-१२वीं सताब्दी तक का दक्षिण बड़ा व्यापक है परन्तु इसमें साम्प्रदायिकता की पूर्ण-पूर्ण छाप है। जहाँ एक ओर बौद्धों और जैनियों का अपन-अपने अस्तित्व के लिए मरणाक प्रयास है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे दलकों का भी समाज नहीं जिसका परिपाक अन्ततोगत्वा प्लुटारक ही होता है। बौद्ध-सम्प्रदाय में भी यन्-तन् इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। इन विविध मत-मतान्तरों के मेलने में पड़कर राजनीति की भी ऐसी दुर्बला हुई कि उसका रूप तो विकृत हुआ ही स्वतन्त्र रूप से पुनः बना जाता हुआ व्यक्तिगत भी समाप्तप्राय हो गया और वह साम्प्रदायिकता के हाथों में डेकने लगी। इस काल में एक ऐसी परम्परा-सी बनी, जिसका आधार वैदिक और अवैदिक भाषनाओं के मूल में केन्द्रित हुआ, परन्तु जहाँ अवैदिक सम्प्रदायों में बुद्धि हुई वहाँ वैदिक को ही अन्तिम प्रमाण मानने वाले बर्म-मतों और साधनिक सम्प्रदायों की संस्था भी एक-दो ही नहीं रही। मत-वैविध्य तथा विद्वान्-वैविध्य होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदाय अपने आपको मुनि-सम्मत मानते थे। जिस प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत ईत, मुन्ना ईत अविमल, शैवाग्रह आदि अनेक परस्पर-विरोधी मत अति को ही अपनी आपार-विद्या बतलाते हैं उसी प्रकार जैन, शास्त्र, पाशुपत याज्ञपक्य और आदि सम्प्रदाय भी अपने आपकी वैद-विहित कहते हैं। बर्षी-म्यारहवीं सताब्दी से लेकर सोलहवीं सताब्दी तक के युग को मध्यकालीन युग का उत्तरार्ध कहा जा सकता है। यह युग समन्वय की साधना को लेकर जाता। भोत्वाभी तुलसीदास तथा भक्त-कवि मुरदास इस युग के सर्वोत्कृष्ट

है। बस्तुतः मध्यकालीन हिन्दी मरु कवियों की रचनाओं में
 में भीरा के पदों में तथा तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' में उल
 नहीं। वास्तव में देखा जाए तो भीरा किसी सम्प्रदाय विशेष
 भक्ति अधिकतर विद्योग प्रधान थी परन्तु उसमें दास्य और
 अभिव्यक्ति हुई है। भीरा के पदों में उसका व्यक्तित्व सम्पूर्णता
 कारण यह है कि उसकी भक्ति स्त्री-हृदय-जन्मि भक्ति थी।
 समर्पण की भावना हुआ करती है। यही कारण है कि भीरा ५
 अपेक्षा अधिक धारानुबद्ध प्रतीत होते हैं।^१ वास्तव में हिन्दी ५
 में अनन्यता और मधुर भाव का काम हुआ क्योंकि भीरा के हृत्ति
 सतना महत्त्व नहीं था बितना कृष्ण के प्रेममय स्वभाव का था।

'वैष्णव जब तो तेज कहिए, जे पीर पराई जायें रे' के रचयि
 कृष्ण की ही अपना दृष्टिकोण माना। नरसी मेहुता की कृष्ण भक्ति में
 प्रधानता रही है। उनका भाव घोषी-भाव है तथा पदों में भक्ति और
 मान्तर भावों में प्रवाहित हुए हैं। उनकी रचनाएँ अधिकतर राव
 हैं। बल्लभ-सम्प्रदाय में उनके पद इतने लोकप्रिय हुए कि कवि की मूर्त
 कोई सम्भाव ही न रहा। नरसी के पद वैतन्य-भाव प्रधान हैं। वैतन्य
 की ही भाँति उनके कृष्ण भी भीते-जागते रहता है। उन्होंने रास-की
 किया है जो भीमद्वारागत के बल्लभ स्वर्ध और ब्रह्मवैवर्तपुराण से ही अ
 बल-रूप उनमें 'वीरमोहित' का भी पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है।
 और 'अर्धत नां पदों' में बल्लभ और फाग का सुन्दर वर्णन हुआ है।
 फाग के समानेय का योग बस्तुतः नरसी ही को प्राप्त है।^२ रास-कीस
 में आम्रवत के बल्लभ स्वर्ध के अनुकूल कृष्ण चरित्र की कीसियों का वर्णन
 किया है जैसे बाळ-कीसा दान-कीसा आदि। सुरत संगम' में कृष्ण र्व
 पूर्वमासी की रास को परस्पर मुक्त दिखाया गया है जिसमें कृष्ण की उ
 गोपालों-सहित पराजय और राधा की वय दिखाई है। इस - ५१।
 भीमता का आभास पाने के कारण प्रोफेसर के० के० धारवी उसे ओप
 तो स्पष्ट ही है कि भीरा के आराध्य प्रति-रूप कृष्ण, नरसी के ५
 प्रियतम बन जाते हैं तथा राधा और कृष्ण का दिव्य प्रेम माने ५००
 की ओर अपसर होने लगता है तथा गीत कास के वासन ५१
 होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ई ^१ कृष्ण राधाभिरों में
 विस्मय वभिण के आकाशर संतों की ५ रिजे गए।
 विद्यापति आदि ने उनमें गृन्गार को ५ १।१।

१ धर्म-सुवि-पत्र ५० ५१।

२ तुलसीदास दत्त बिहारेय के पद० सुग्री,

३ वरी।

४ वरी, इ० ११५।

माना जाता है। आज उपलब्ध हैं। इसी प्रकार ईसा की चौथी शताब्दी में निर्मित कृष्ण-चरित का विषय करने वाली कई मूर्तियाँ अनेक स्थानों में मिली हैं। महाकविपुत्रम् के मन्दिर के द्वार के अवशेषों में मोक्षार्जन-भारण मन्वीत चौथे शतक में, मनुक-वध काश्मिर-यमन बाहिर कई प्रसंग चित्रित हुए हैं। मनुष्य की मोक्षार्जनकारी मूर्ति भी ईसा की चौथी शताब्दी की मानी जाती है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चौथी शताब्दी में मोक्षार्जन जारी कृष्ण की उपासना बढ़ हो चुकी थी। सातवीं शताब्दी की बघामी की मुफ्फाओं की चित्रकला तथा चित्पाकला भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। बंगाल के पहाड़पुर की मुफ्फा में कृष्ण-मूर्ति के निकट गोपी-राधा भी दिखाई गई हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का अनुमान है कि यह राधा ही है। पर 'भक्ति रत्नाकर' तथा 'प्रेम-विकास' में कहा गया है कि कुम्भावन में कृष्ण के साथ राधा की पूजा न होने के कारण नित्यानन्द प्रभु की पत्नी बाह्यवी देवी ने किसी तपनमास्कर वायक कलाकार से राधा की मूर्ति तैयार करवाई और तभी से बंगाल में राधा-कृष्ण की उपासना आरम्भ हुई। चित्र-कला के आधार पर यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि ईसा की पहली शताब्दी से सर्वसाधारण जनता में कृष्ण की वीरता की ही चर्चा थी। बाघामी काल में उत्तरोत्तर कृष्ण के साथ राधा और गोपियों का योग होता गया।^१ इन मान्यताओं का उदय भी मुख्य जनसाधारण में हुआ। जनसाधारण की भाषा अपभ्रंस थी। अत्यन्त आरम्भिक काल में बाघीरों की भाषा ही अपभ्रंस कहलाती थी तथा उसकी साहित्यिक सम्पदा भी अत्यन्त मूल्यवान समझी जाती है।^२ आगे चलकर संस्कृत भाटकों में निम्न वर्ग के पात्रों के मुख से अपभ्रंस ही बोलवाई जाती थी। बहुत सम्भव है कि इस अपभ्रंस भाषा में कबी, लक्ष्मी सरस्वती गंगा इत्यादि देवियों के रूप-वर्णन में शृंगार की सूक्ष्म छटा विस्तारवाक्य कवियों का प्यान राधा-कृष्ण की ओर भी गया हो। मनीं शताब्दी में ज्ञानम्बरबर्जित के वेदांशोप नमू विकासगुह्यो राधारह साक्षिपत् संस्कृत लक्ष्मण की प्रक्रिया अपभ्रंस में न हुई हो, अथवा इस लक्ष्मण का आचार स्वयं अपभ्रंस में अंकित विस्वास न रहा हो यह भी माना जा सकता है। इससे यह भी सूचित होता है कि देवी भाषाओं में गोपियों की शृंगार-वेद्यों तथा कृष्ण-कथा पर फुटकर ही सही रचनाएँ अवश्य हुई होंगी पर इस विद्या में निहित रूप से कुछ कहना अब तक सम्भव नहीं है जब तक देवी भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। 'वाचा-सप्तशती' में अवश्य राधा-कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध मिलते हैं।^३ सप्तशती का रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी माना जाता है^४, पर इस बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इन लक्ष्मणों से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी तक देवी भाषाएँ राधा, कृष्ण और गोपियों से परिचित थी।

१ मन्वभाषाजि वर्म-साक्षा, डॉ० इबारी प्रसार द्विवेदी, पृ० १२२।

२ मनुष्य मणि का मराठी संस्करण, पृ० २२।

३ (१) सुप्रभासचरित चरित्र (कृष्ण) गौरीय साहित्य (राजिका) मन्वेण्ठो।

पान्थं ज्ञानवीर्यं अण्णात्तं वि गौरीयं इति (२४)।

(२) मन्वेण्ठो राजाज्योतिष राजमणि राजाज्योतिष।

अथ (कृष्ण) सुप्रभासि अर्धं विदुर्गं इति चरित्रं (अन्वयः) पृ० ११२।

४ हिन्दी साहित्य की भूमिका डॉ० इबारीप्रसार द्विवेदी, पृ० ११२।

प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने समाज के बराबर पर मानवता का सञ्चाटन किया तो सूरदास ने व्यक्तिगत साधना को महत्त्व देकर मानव हृदय के चिरन्तन समान भावों का स्पर्श किया। पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्यों ने लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐश्वर्यों की परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में समाकर उन्हें पवित्र बनाने का विचार रखा था। ईसा की तीसरी शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक यह भक्ति-आन्दोलन प्रवृत्ति से बढ़ता रहा इसी को मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन कहा जाता है। इस युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है जो अब तक की बीच का भक्ति-भावना पर बहुत प्रभाव डाल रहा है।^१

सर्वोच्च कथन में तीन बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा सूरदास एवं जयदेव के कविपदों की कृष्ण-वस्तुता का आधार खोजने में सहायक होती हैं। पहली बात है समन्वयवादी दृष्टि कोण दूसरी मानवत-पुराण की प्रेरणा तथा तीसरी लौकिक वासनाओं और ऐहिक ऐश्वर्यों की परब्रह्म श्रीकृष्ण तथा उनकी लीलाओं में कल्पना। डॉ० हरबंसदास का यह कथन कि ११वीं शताब्दी के पहले विद्यमान सभी सम्प्रदायों का सूर की कृतियों में समन्वय हुआ है अत्यन्त युक्तियुक्त है। पर उनका यह कहना कि तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन का प्रमाण सूर साहित्य में अधिक नहीं है^२ अधिक युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। तुलसी में जबकि तत्कालीन राजनीतिक धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ अपने समस्त रूप में प्रतिबिम्बित हुई हैं पर सूर के 'भ्रमर-गीत' विधान में जिस परिस्थिति का प्रतिबिम्ब दृष्टिदोषर होता है वह अपने आपमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भ्रमर-गीत की कल्पना यदि ईश काक और परिस्थिति का परिणाम न होती तो समस्त भारत के कृष्ण-काव्य में इस परम्परा का निर्वाह हुआ होता पर ऐसा हुआ नहीं। मराठी कृष्ण-काव्य में उसके सर्वथा अभाव इसी बात को सिद्ध करता है। महाराष्ट्र में तथा उसके आसपास मुस्लिम राज्य होत हुए भी वहाँ का हिन्दू समाज सबसे प्रभावित न हो सका। बल्कमाचार्य द्वारा ११वीं शताब्दी में बुद्धावन से कृष्ण-भक्ति के प्रचार का कारण भी तत्कालीन परिस्थिति ही थी। ऐसा न होता और उत्तर भारत कृष्ण भक्ति-विषयक नये निष्कर्ष के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ न होतीं तो कदापि बल्क सम्प्रदाय की स्थापना तथा विकास उत्तर भारत में न होकर बलिन भारत में होता। वास्तुतः भक्ति का उदय हुआ था। अतः हिन्दी में कृष्ण-काव्य का सूत्रांकन करते समय हमें उत्तर भारत की विशिष्ट सामाजिक राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए।

पहले कहा जा चुका है कि ईस्वी सन् की चारम्विक शताब्दियों में कृष्ण और गोपि की शृंगारिक कथाओं का प्रचलन सम्भवतः जनता में हो चुका था पर तत्कालीन साहित्य में इन लौकिक-कथाओं को मान्यता नहीं मिली थी। इस काक में कृष्ण के वीरत्व की ही पूजा का प्रचलन था^३ इस बात का समर्थन प्राचीन मूर्तिकला से भी होता है। कृष्ण-वर्णन सम्बन्धित कई पुरानी मूर्तियाँ जिनका निर्माण-काल ईसा की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी

१ डा० और कृष्ण साहित्य, डॉ० हरबंसदास शर्मा, पृ० ६१-६६।

२ वही, पृ० ६१-६६।

३ —[८] भक्तिवा मराठी कवयज्ञ, डॉ० ब्र न० खेरी, पृ० ६६।

करने वाला जीन परमेश्वर के नियम की कल्पना से ही प्राप्त स्वप्न देता है। यह अवस्था कितनी कठिन है, यह बात महात्मा जगन्नाथ के कथन 'मा बुरमे हे कदापि न भवे'—ते जैसे ना कमजाउता वियोगी उरली- तथा सत्यभामा-योगिका उरलीया 'मम प्रेम मृगमे वियोगी पुरमे यथा हंताहार्द, (वि० अ० १६३) से सिद्ध होती है। (परमेश्वर के नियम में बीच द्वारा प्राप्त-स्वप्न करना अव्यक्त कठिन बात है क्योंकि महात्मा जगन्नाथ की पत्नी कमला जबवा श्रीकृष्ण की पत्नी सत्यभामा तथा मोरिकाई विद्योवाभस्मा में भी जीवित रही थीं।) श्रीकृष्ण की अष्टनायिकाओं में कश्मिनी की ही मूर्ति औरों को भी उमय-इस्मावतार श्रीकृष्ण की पत्नी होने का सीमाय प्राप्त हुआ था। पर परमेश्वर के नियम में प्राप्त स्वप्न देने की समता उनमें नहीं थी, बल्कि परमेश्वर के प्रति उनमें प्रवाह प्रेम ही नहीं था, क्योंकि वे विषय प्रेमी नहीं थीं। कश्मिनी अवश्य विषय-प्रेमी थी। वह-झीड़ा करते समय श्रीकृष्ण के हुक्मे की बाँटो सुन्ते ही वह मूर्छित होकर मृत्युमायामी होने लगी थी। इससे सिद्ध होता है कि कश्मिनी वास्तव में 'प्रेमिका' थी। श्रीकृष्ण को अन्य सहस्रों पत्नियों को श्रीकृष्ण का विषय भोग प्राप्त नहीं था क्योंकि उनके साथ परमेश्वरावतार श्रीकृष्ण स्वयं रममाण नहीं होते थे अपन 'विज्ञान-रूपों' द्वारा निर्मित यानी अनेक होकर उनका उपयोग करते थे क्योंकि वे सब पत्नियाँ भगवान् के विषय-प्रेम की अभिकारी नहीं थीं। भागवत में भी यही तत्त्व निरूपित हुआ है यद्यपि यहाँ नीतिक ऐपचारों तथा वास्तव्यों को भी अपत्यस रूप से स्वीकार किया गया है। पहले कहा गया है कि भागवत का रचना-काल ईसा की आठवीं शताब्दी के कममय माना जा सकता है। यह सच है कि इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं तथापि अन्त-शाक्य और उत्तारकीय परिस्थितियों के सूक्ष्म निरीक्षण से इस धारणा की पुष्टि हो जाती है। पहले कहा गया है कि चक्रवार्थ के आचरन-काल तक यानी, ईसा की आठवीं शताब्दी तक, भारत में बौद्ध-धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था अतः उसकी प्रतिक्रिया के रूप में यदि भागवत की रचना यानी बाद और उसका रचना-काल बल्लभ स्याम्याय के मतानुसार, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी मान लिया जाए तो युक्तिमूलक नहीं होगा क्योंकि एक तो ऐतिहासिक भवना चिन्म के आधार पर ईसा की आठवीं शताब्दी तक इस प्रकार का कोई भी विज्ञ उपलब्ध नहीं है, यद्यपि ऐसा होना इतिहासिक या कि भागवत का साहित्यिक मूल्य तथा उसमें निरूपित कृष्ण-गीत का नया स्वरूप अपने में सर्वथा नया होने के कारण लोकप्रिय हुए बिना रह ही नहीं सकता था। दूसरे, बौद्ध-धर्म के शास्त्र के लिए यदि किसी तरह की आवश्यकता थी तो वह केवल दर्शन ही हो सकता था क्योंकि हिन्दू दर्शन की पारम्पर्य पर ही बौद्ध दर्शन की महती रैकाई उभरी थी तथा उन पर केवल ज्ञान का ही रंग चढ़ सकता था। इस तरह की और भागवतकार जैसे पंडित का ध्यान न गया हो यह मानने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। ईसा की आठवीं शताब्दी में जब चक्रवार्थ ने बौद्ध धर्म का शङ्कन करके हिन्दू धर्म की पुन स्थापना की उससे बहुत पहले से (ईसा की प्रथम शताब्दी से, सेव्ठ बोमस के भारत में आगमन के साथ) भारत ईसाई धर्म से परिचित होने लगा था। ईसाई धर्म यक्षिमायी धर्म था। ईसा की आठवीं शताब्दी में भारत पर मुसलमानी आक्रमण शुरू

ईसा की दूसरी सताब्दी से लेकर लगभग छठी सताब्दी तक विद्वानों ने वर्तमान पुराणों का रचना-काल माना है। पुराणों में भी भागवत-पुराण अपेक्षाकृत बहुत बाद की रचना है। यद्यपि इसके रचना-काल के बारे में अनेक मत-मतांतर हैं फिर भी विषय की दृष्टि से तथा अन्य पुराणों की तुलना में इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान भागवत-पुराण का रचना काल ईसा की सातवीं-आठवीं सताब्दी के पहले का नहीं हो सकता।^१ विद्वान् यह भी मानते हैं कि यह संस्करण किसी एक ही व्यक्ति का कार्य है तथा उसका वर्तमान संस्करण ब्रिजिश में हुआ और दक्षिणारव्य पंडितों के द्वारा ही इसका प्रचार आरम्भ हुआ।^२ इतना निश्चित है कि मध्यकाशीन कृष्ण भक्ति का मुख्य भाव भी भागवत-पुराण ही रहा है। भागवत-पुराण के भक्ति-निरूपण और उसमें समाविष्ट कृष्ण मोदी प्रेम एवं केमि-भेदाओं पर आये स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। यहाँ केवल इस बात पर संक्षेप में विचार कर केमा पर्वान्त होया कि भागवत-पुराण में निरूपित राजा कृष्ण और गोपियों के खरिज का मराठी और हिन्दी के कृष्ण काव्य पर कितना प्रभाव पड़ा। हिन्दी में भक्ति-सत्त्व के पहले प्रतिपादक कबीर का काव्य पन्द्रहवीं सताब्दी माना जाता है। गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास का कार्य सोलहवीं सताब्दी में प्रभावशाली हुआ। मराठी मेहता तथा मीराबाई १५वीं सताब्दी में तथा चैतन्य महाप्रभु सोलहवीं सताब्दी के आरम्भ में हुए। इस प्रकार काव्य-मनना की दृष्टि से महाराष्ट्र में १६वीं सताब्दी के आरम्भ में स्वामी चक्रवर तथा उनके बाद ज्ञानेश्वर नामदेव आदि का नाम पहले आता है। स्वामी चक्रवर तथा महानुभाव-पंथी कवियों ने भक्ति में जिस भव्य प्रेम का वर्णन किया है, वह पूर्वस्नेह अलौकिक प्रेम है। उसमें गोपियों की काम-वासनाओं की महत्त्व नहीं मिला है। वही प्रकार कृष्ण द्वारा उन कामवासनाओं की सृष्टि का भी वर्णन नहीं है। भगवान् अपने भक्तों को प्रेम-बाल व्यवस्थित देते हैं पर यहाँ प्रेम का स्वल्प शरीरिक न होकर सात्विक ही है। उदाहरणार्थ महानुभाव पंथ के तत्त्वज्ञान के अंतर्गत परमेश्वर के प्रति विषय-प्रेम की ही मुख्य प्रेम का साधन बताया गया है। पर यहाँ भी विषय-प्रेम का अर्थ समय इस्मावतार ईश्वर की पत्नी के रूप में ईश्वर का उपभोग प्राप्त कर देने वाला प्रेम किया गया है। इस प्रेम का मुख्य लक्ष्य 'विमोही मुरली' अर्थात् विमोही का न 'रहना' या विमोह की कल्पना मात्र से ही प्राप्त व्यापक बना माना गया है। परमेश्वर के प्रति जीव के प्रेम का विक्रम करते हुए स्वामी चक्रवर ने आगे कहा है—

‘मुख्य प्रेमा कर्मरहाटी बोलसाधने- एक पुरमजन बूखरे विषयप्रेम है धेरा ही पाँच सत्तम’ (वि० स्व० १३६) ‘विषय प्रेम मूलमे विषयमे आवड विमोही बुरे से प्रेम (वि० स्व० १३३)।

अर्थात् सांसारिक जीवन में परमेश्वर-की प्रेम प्राप्ति के दो साधन हैं—एक माया का शरीर धारण किये हुए परमेश्वरवतार को भोजन कराना तथा दूसरा परमेश्वर का विषय-प्रेम प्राप्त कर केना। विषय-प्रेम का अन्वय बताया हुआ महारत्ना चक्रवर कहते हैं कि विषय-प्रेम यानी जीव की विषय-भोग के प्रति रूचि। पर यहाँ परमेश्वर के साथ विषय-भोग

^१ यह और पत्रका साधित, डॉ. हरप्रसाद शर्मा, पृ० २११।

करने वाला जीव परमेश्वर के विमोच की कल्पना से ही प्राप्त त्याग होता है। यह अवस्था किन्तु कठिन है। यह बात महात्मा जबबर के कथन 'मा बुरने है कहापि न बढ़े—ते कैसे' या कमलाठसा विप्रेयी सरजी' तथा सरयभामा गोरिका सरजीया 'मग प्रेम मनुष्ये विप्रेयी मुरने मया ईसाई' (वि० न० १३३) से सिद्ध होती है। (परमेश्वर के विमोच में जीव द्वारा प्राप्त-त्याग करना अत्यन्त कठिन बात है क्योंकि महात्मा जबबर की पत्नी कमला जबरा भीकृष्ण की पत्नी सरयभामा तथा गोरिकार्य विमोचावस्था में जी जीवित रही थीं।) भीकृष्ण की अष्टमायिकाओं में शक्तिमयी भी ही शक्ति औरों की भी समब-इस्मावतार भीकृष्ण की पत्नी होने का सीमाव्य प्राप्त हुआ था। पर परमेश्वर के विमोच में प्राप्त त्याग देने की अवस्था उनमें नहीं थी, शक्ति परमेश्वर के प्रति उनमें प्रयाद प्रेम ही नहीं था, क्योंकि वे विपय प्रेमी नहीं थीं। शक्तिमयी अवस्था विपय-प्रेमी थी। अन्त-क्रीड़ा करते समय भीकृष्ण के ब्रह्म की बातों सुनते ही वह मुग्ध होकर मृत्युमार्यवानी होने लगी थी। इससे सिद्ध होता है कि शक्तिमयी वास्तव में प्रेमिका' की। भीकृष्ण की अन्य सहस्रों पत्नियों की भीकृष्ण का विपय मोच प्राप्त नहीं था क्योंकि उनके साथ परमेश्वरावतार भीकृष्ण स्वयं रममाण नहीं होते थे अपने 'विक्रान्त-रूपों' द्वारा निर्मित यानी अनेक होकर उनका उपभोग करते थे क्योंकि वे सब पत्नियों अवस्था के विपय प्रेम की अधिकारी नहीं थीं।' भागवत में भी यही स्पष्ट निरूपित हुआ है। यद्यपि यहाँ भौतिक ऐपचारों तथा वाचनाओं को भी अवग्रह रूप से स्वीकार किया गया है। पहले कहा गया है कि भागवत का रचना-काल ईसा की आठवीं शताब्दी के अवसम माना जा सकता है। वह तब है कि इस वास्त की प्रमाणित करने के लिए वर्तमान ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं तथापि अन्त-साक्ष्य और तत्कालीन परिस्थितियों के सूक्ष्म निरीक्षण से इस कारण की पुष्टि हो सकती है। पहले कहा गया है कि ईकराचार्य के भागवत-काल तक यानी ईसा की आठवीं शताब्दी तक, भारत में बौद्ध धर्म अपनी शरम सीमा पर पहुँच चुका था जब उसकी प्रतिक्रिया के रूप में यदि भागवत की रचना यानी आए और उसका रचना-काल बलदेव उपाध्याय के मतानुसार, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी मान लिया जाए तो मुक्तिमुक्त नहीं होगा क्योंकि एक तो ऐतिहासिक अवस्था विपय के आधार पर ईसा की आठवीं शताब्दी तक इस प्रकार का कोई भी विज्ञ उपलब्ध नहीं है, यद्यपि ऐसा होता इसलिए आवश्यक था कि भागवत का साहित्यिक मूल्य तथा उसमें निरूपित कृष्ण-भक्ति का नया स्वरूप अपने में सर्वथा नया होने के कारण लोकाग्रिय हुए बिना यह ही नहीं सकता था। दूसरे, बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत के लिए यदि किसी रूप की भागवतवादी की तो वह केवल धर्म ही हो सकता था क्योंकि हिन्दू धर्म की पारम्पर्य पर ही बौद्ध धर्म की नयी रीति-तरी थी तथा उन पर केवल ज्ञान का ही रूप यह सकता था। इस बात की और भागवतकार जैसे पंडित का ध्यान न गया हो यह मानने के लिए हमारे पास कोई भी साक्ष्य नहीं है। ईसा की आठवीं शताब्दी में जब ईकराचार्य ने बौद्ध धर्म का अन्तर्गत करके हिन्दू धर्म की पुन स्थापना की उससे बहुत पहले से (ईसा की प्रथम शताब्दी से, सेव्य पोमल के भारत में भागवत के साथ) भारत ईसाई धर्म से परिचित होने लगा था। ईसाई धर्म अधिकारियों धर्म था। ईसा की आठवीं शताब्दी से भारत पर मुसलमानी आक्रमण शुरू

हो गए और यह वेस एक अन्य विदेशी धर्म-प्रवृत्ति के सम्पर्क में जाने लगा। इस्लाम भी ईसाई धर्म की ही नीति भक्ति पर ही आधारित था। इतिहास बताता है कि जब-जब इस देश में विदेशी धर्म का प्रचार हुआ है तब-तब उसने अपनी धूर्त सम्राज के बलिष्ठ धर्म में ही सबसे पहले समाई है। अब तक हिन्दू धर्म ज्ञान पर ही मुख्यतः आधारित होने के कारण यह सर्वसाधारण है काफ़ी दूर था। हिन्दू समाज की धर्म-व्यवस्था ने इस अन्तर को और भी बढ़ा दिया था। ऐसी रीति में हिन्दू धर्म की बस प्रदान करने के लिए आवश्यक था कि वह एक नये बराबर पर उत्तर आता—जिस बराबर पर जिस पर सर्वसाधारण जनता की अपेक्षाओं को सन्तुष्ट किया जा सके। भागवत में भक्ति का प्रतिपादन तथा भागवती ऐश्वर्यों का व्यस्तुत रूप से स्वीकार वेस-काल की इसी आवश्यकता का समाधान करता-सा प्रतीत होता है। भागवत में स्वीकृत व्यस्तुत शृंगार का वाग्योवन भी उत्काशीन शोक-विस्वासों पर ही आधारित ज्ञान पड़ता है। इस प्रकार भागवत ने जहाँ एक ओर भक्ति की पुनः स्थापना करके हिन्दू धर्म को सजीव एवं व्यापक बनाया वहाँ दूसरी ओर उसने शोक-विस्वासों को साहित्यिक एवं धार्मिक माध्यमों के रूप में धर्म को लोकार्पण और व्यापक बनाकर देश-काव्य की आवश्यकता का भी समाधान किया। भागवत का मुख्यतः यही आधार होने के कारण आधुनिक काल की समान परिस्थितियों में यह साहित्य-सृजन का मूल श्रोत बना रहा।

महाभारत और अष्टाध्याय के अन्य कवियों के कृष्ण भागवत के ही कृष्ण हैं तथापि इन कवियों की कृष्ण-विषयक कल्पनाएँ बसंत-वैष्णव-सम्प्रदाय तथा सूर-पूर्व काल भाषा-साहित्य में कृष्ण और राधा-विषयक शृंगारिक पर्वों से भी अवश्य ही प्रभावित हुई हैं। प्रसिद्ध वैष्णव के आधार पर डॉ० धनप्रसादसिंह का भी मत है— १४वीं सदी ई. में मानी विद्यापति और जगन्नाथ के पूर्व देशी भाषाओं में मधुर भाव की भक्ति का कोई-न कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था।^१

अष्टाध्याय-काव्य की मूल प्रवृत्ति का श्रोत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बल्लभाचार्य की श्रम-समर्पण-भक्ति की ही माना है।^२ परन्तु यह धारणा अधिक रूप में ही सत्य है। अष्टाध्याय के कवि बल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इसलिये स्वाभाविक था कि वे आचार्य बल्लभ द्वारा निरूपित कृष्ण के रूप का गुणगान करते। परन्तु मधुर भक्ति के भी दो रूप होते हैं—सात्विक-स्वरूपा और लौकिक-स्वरूपा। सात्विक भाव पर आधारित मधुर-भक्ति का वर्णन मीरा के पदों में होता है। किन्तु अष्टाध्याय के कवियों की रचनाओं में लौकिकता का रंग ही अधिक पड़ा हुआ है। इस काव्य-प्रवृत्ति में तरकाशील परिस्थितियाँ सहायक हुई हैं या नहीं यह देखने का हम यहाँ प्रयत्न करेंगे। सूर-पूर्व राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। हम यह भी देख चुके हैं कि राधा और कृष्ण का शृंगारिक दृष्टी में वर्णन जयदेव के 'गीतगोविन्द' में जगन्नाथ के पदों में तथा विद्यापति की पदावली में बहुत पहले हो चुका था। संश्लेष हम यह भी दिखा चुके हैं कि ब्रज के जासूदारों ने जो भक्ति की रास प्रवाहित की थी उसी को रामानन्द उत्तर भारत में लाए थे। उक्त प्रसिद्ध है कि—

१. सूर-पूर्व मधुरा और कुरुक्षेत्र, डॉ० विष्णुदास मिश्र, पृ० २६३-२४।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२०-२४।

मरित शायरी रूपकी, साय रामलाल :

परगट किया कबीर ने साय दीप नवबंद ॥

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि अष्टछाप के कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को मरित के स्तर पर जो बिराट रूप प्रदान किया है उसका आधार क्या है ? प्रश्न यह कहा जाता है कि अष्टछाप की इस काव्य प्रकृति पर सूरजी काव्य का प्रभाव है परन्तु यह धारणा मुक्ति मुक्त नहीं जान पड़ती क्योंकि सूरियों की मरित पद्यति और कृष्ण मरित कवियों की मरित-पद्यति कई बातों में भिन्न है । सूर-पूर्वकाशीन जैन साहित्य के मूलोक्तों से पता चलता है कि उसमें रूप-सौन्दर्य आकर्षण की वस्तु हमें के कारण विचार में बाधक होता है । इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने शृंगार का बड़ा ही सक्षम वाचनापूर्ण और शोच-कारक चित्रण किया है । समग्र की मरित की महत्ता का अनुमान इन्द्रिय शोच-स्पृहा की मरित से ही किया जा सकता है । इसीलिए जैन साहित्य में नाटी के शृंगारिक रूप, जीवन और लक्ष्मण कामोत्तेजना आदि का अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण हुआ है । डॉ० चित्रप्रसादसिंह का कहना है कि 'वज्रभाषा में कृष्ण काव्य की परम्परा काशी पुरानी है । कम-से-कम उसका आरम्भ १२वीं शताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है ।'^१

१४वीं शताब्दी में संकलित पितामह-ग्रन्थ 'प्राकृत वैमलम्' में निम्नलिखित पद मिलता है—

करे रे बाहुहि कान्हूमान जोरि उपमय कुमति न हैति ।

तह इति नहिहि संसार हैह जो बाहु सो भैति ।^२

इस पद से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भाग को उपमय करने वाले कृष्ण से मोपी कहती है कि ऐसा न करो । पहले नवी वार करा दो । फिर जो बाहुते हो मे को । कृष्ण और राधा के प्रेम से सम्बन्धित एक अन्य उल्लेख 'प्राकृत वैमलम्' में संश्लेषित है जो यहाँ दिया जा रहा है—

जिमि कंस विचाविम किति पवातिम

मुनि धारि विस्तार करे विरि हृद करे ।

जयलल्लुन मरित पय भर मरित

कालिय कुल संहार करे, जय पुनय करे ।

चापूर बिह्विम विम कुल मरित

राहा पुन मनु पान करे, जिमि जमर करे ।

सो सुम्ह परमम विम बरामम

बिराह विरित होय बरा मपपीय हरा ।^३

यहाँ नारायण रूप कृष्ण का राधा के मुख-मनु का प्रेम की तरह पान करने का स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है ।

सूर-पूर्व वज्रभाषा-काव्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० चित्रप्रसादसिंह लिखते हैं—

१. सूर-पूर्व वज्रभाषा और उसका साहित्य, पृ० १६० ।

२. प्राकृत वैमल्य, पृ० १२, मंत्र ६ ।

३. पृ० १५१-१५२ ।

हो गए और यह है एक अन्य विवेची धर्म ईसाई धर्म की ही मीति चिन्ति पर ही आधारित है। ईसाई धर्म का प्रचार हुआ है। यह-स सबसे पहले बनाई है। अब तक हिन्दू धर्म का सर्वसाधारण से काफ़ी दूर था। हिन्दू समाज बड़ा दिया था। ऐसी रीति में हिन्दू धर्म को। एक नये बराबर पर उत्तर आता—उस धर्म-प्रणाली को सम्पूर्ण किया जा सके। भागवत का अग्रस्तुत रूप से स्वीकार देव-काय की होना है। भागवत में स्वीकृत अग्रस्तुत श्रुति पर ही आधारित जान पड़ता है। इस प्रकार स्थापना करके हिन्दू धर्म को सही एवं व्याप को साहित्यिक एवं धार्मिक मान्यता देकर धर्म की आवश्यकता का भी समाधान किया। न जाने की काय को समाज परिस्थितियों में बड़ा

अथवा सूरदास और अष्टछाप के ४ तथापि इन कवियों की कृष्ण विषयक कल्पना भाषा-साहित्य में कृष्ण और राधा-विषयक ७ प्राकृत पैदावार के आधार पर डॉ० चिन्मयराय मानी विद्यापति और चण्डीदास के पूर्व वेर कोई रूप अवश्य ही प्रचलित था।^१

अष्टछाप-काव्य की मूल प्रवृत्ति का प्रिय-कल्याण-चिन्ति को ही माना है।^२ परन्तु छाप के कवि बल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी बल्लभ द्वारा निर्दिष्ट कृष्ण के रूप का गुण होते हैं—सात्त्विक-स्वस्वमा और लौकिक-स्व का दर्शन मीरा के पदों में होता है। किन्तु का रंग ही अधिक बढ़ा हुआ है। इस का है या नहीं यह देखने का हम यहाँ प्रयत्न करें का विस्तृत विवेचन पिछले पृष्ठों में किया और कृष्ण का श्रृंगारिक लीला में वर्णन अ तथा विद्यापति की पदावली में बहुत पहले है कि बल्लभ के आचार्यों ने जो शक्ति व भारत में लाए थे। उक्ति प्रसिद्ध है कि—

१. यहाँ प्रकल्प और कल्प साहित्य, डॉ० प्र.
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास ४ १४७-४८।

भक्ति ब्राह्मी ऊपरही, लाग रामानन्द ।

परगढ़ किया कबोर में सप्त दीप मजकड़ ॥

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि अष्टधाप के कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम को भक्ति के स्तर पर जो बिगड़ रूप प्रदान किया है उसका आधार क्या है ? प्रायः यह कहा जाता है कि अष्टधाप की इस काव्य प्रकृति पर सूफी काव्य का प्रभाव है, परन्तु यह धारणा मुक्ति युक्त नहीं जान पड़ती क्योंकि सूफियों की मस्जिद-पद्धति और कृष्ण भक्त कवियों की भक्ति पद्धति कई बातों में भिन्न है । सूर-मुरबकासीन जैन साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि उसमें रूप-सौन्दर्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक होता है । इस मान्यता के कारण जैन कवियों ने शृंगार का बड़ा ही उद्घाटन, वासनापूर्ण और शोभ-कारक चित्रण किया है । धम्म की शक्ति की महत्ता का अनुमान इन्द्रिय भोग-वृत्ता की शक्ति से ही किया जा सकता है । इष्टीष्टि जैन साहित्य में नारी के शृंगारिक रूप जीवन और उत्तम्य कामोत्तेजना आदि का अग्रगण्य सूत्रमता से चित्रण हुआ है । डॉ० शिवप्रसादसिंह का कहना है कि 'सबभाषा में कृष्ण काव्य की परम्परा काशी पुरानी है । कम-से-कम उसका आरम्भ १२वीं सताब्दी तक तो मानना ही पड़ता है ।'

१४वीं सताब्दी में संकलित पियल-ग्रन्थ 'प्राकृत पैमलम्' में निम्नलिखित पद मिलता है—

करे रे बाहहि काहूनाय छोडि अमय कुयति न देखि ।

तह इति नइहि संतार हैड जो बाहू लो केहि ।^१

इस पद से स्पष्ट हो ही जाता है कि नाथ को अमय करने वाले कृष्ण से गोपी कहती है कि ऐसा न करो । पहले नबी पार करा दो । फिर लो बाहू लो के सो । कृष्ण और राधा के प्रेम से सम्बन्धित एक अन्य उल्लेख 'प्राकृत पैमलम्' में संकलित है जो यही रिवाज रहा है—

जिनि कंस विधासिध किनि पयासिध

गुडि अरिहु विछात करे पिरि हृदय परे ।

अमलज्जुल भजिय पय भर गंजिय

कानिय कुल संहार करे, बख जुलज परे ।

बाबुर बिहंजिय जिय कुल मंजिय

पछा मुक महु पल करे, जिनि ममर परे ।

सो सुम्ह करावज विष्य परायज

बिसह बिजिय होइ बरा भयसीय हरा ।^२

यहाँ गारावज रूप कृष्ण का राधा के मुल-महु का प्रेम की चरख पाल करने का स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है ।

सूर-मुरब ब्रजभाषा-काव्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० शिवप्रसादसिंह लिखते हैं—

१ पारसे ममया और कंस का शासन, पृ १६ ।

२ प्राकृत पैमल, पृ १२, अंश ६ ।

३ पृ १२१।२०० ।

‘प्राचीन काल के संकल्पित-काल (१२००-१४००) के साहित्य के अध्ययन से यह मासूम होता है कि परवर्ती काल की मुख्य धाराएँ—भक्ति भूतार और शौर्य—ब्रजभाषा के आरम्भ से ही मौकिक रूप में विकसित हो रही थीं। कृष्ण-भक्ति का काव्य भागवत गीतगोविन्द ब्रजभाषा विद्यापति की प्रेरणा का ही परिणाम नहीं है। ‘हेम-व्याकरण’ के दोहों ‘प्राकृत पैनकम्’ की रचनाओं में कृष्ण भक्ति के बीजांकुर विद्यमान हैं। भक्ति के कई पक्षों—स्तुति, प्रपति निवेदन तथा दृष्टदेव के रूप आदि—का वर्णन इन रचनाओं में बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। शृंगार-भक्ति के सम्मिश्रण पर बहुत वाद-विवाद होता है। अयदेव कवि के ‘गीतगोविन्द’ में भक्ति और शृंगार के सम्मिश्रण का जो प्रयत्न हुआ है वह महत्त्वपूर्ण है। ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में शृंगारिक चेतना ‘गीतगोविन्द’ का ही परिणाम नहीं है। भक्ति आरम्भिक काल में इसकी काफ़ी विकसित परम्परा भी जो सूर आदि के काव्य में प्रविष्ट हुई।^१ इससे प्रतीत होता है कि जिस समय ब्रजभाषा में बृन्दावन में वाकर ब्रजन सम्प्रदाय की स्थापना की और सूरदास आदि कवियों को कृष्ण-कीर्तनों का गान करने के लिए प्रेरित किया उस समय ब्रजमण्डल राजा और कृष्ण की शृंगारिक कीर्तनों के वर्णनों से सुपरिचित हो चुका था। अपने पक्षों की रचना करते समय सूरदास तथा वट्टदास के अन्य कवियों ने सम्भवतः ब्रजभाषा की इसी साहित्यिक एवं शोक प्रवृत्ति को अपने सामने रखा। समुद्र और निर्मूल्य ब्रह्म का विवेचन करके शङ्खोपासना का व्येष्ट दिखाने के लिए सूर नन्ददास आदि भक्तों ने ‘भ्रमरगीत’ की जो कल्पना की है उसमें भी परम्परा-निर्वाह ही परिलक्षित होता है। कृष्ण के चित्त की चंचलता दिखाने के लिए सूरदास से बहुत पहले कासिराज ‘भ्रमर’ का प्रतीक रूप में प्रयोग कर चुके थे।^२

निम्नलिखित अध्याय में लोकगीतों के स्वस्व और उनकी प्राचीनता पर विचार करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मराठी के परवर्ती काल काव्य में ब्रज-राज काल राजा और गोपियों को लेकर शृंगार की जो थोड़ी-बहुत अभि हिन्दी-लोकगीतों का वर्णन हुई है उसके मुक में सम्भवतः लोक-मायताएँ ही रही कृष्ण-काव्य पर प्रभाव होंगी। परन्तु मराठी की अपेक्षा हिन्दीभाषी प्रदेश में प्रचलित होखी मूला रचिया कबरी बारहमासा आदि लोकगीत हिन्दी के काल-काव्य के अधिक निकट दृष्टिगत होते हैं।

होली—होली हिन्दुओं का एक अत्यन्त लोकप्रिय उत्सव है। यह उत्सव ब्रजभाषा भूमि में उत्तर भारत में मनाया जाता है जहाँ भूमिभाषा से महाराष्ट्र में नहीं। उत्तर भारत में इस उत्सव के अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं, उन्हें होली कहते हैं। फागुन का मसत महीना उत्तर प्रदेश की प्रकृति के अनुकूल है। इस समय किसान अपने धर्म का साकार रूप निहारकर निहाल हो जाता है और हर्ष से गाँवने लगता है। स्त्रियाँ और पुरुष रात रात भर होली गाँव रहे हैं। यह स्त्रीहार फागुन मास की अन्तिम तिथि को मनाया जाता है जहाँ बीजपुरी प्रदेश में इन गीतों को फगुमा भी कहा जाता है। ब्रज की होली अत्यन्त प्रसिद्ध है। होली और रचिया का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। होली के भीत समवेत स्वर

१. पूर्ण ब्रजभाषा और कला साहित्य, पृ० १२१-२२।

२. उदाहरण प्रतीक, भ्रमर प्र० ४ अ येहेंहले, ‘ब्रजभारत’ पत्रिका, १९४६।

से गाए जाने वाले गीत हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति होलिका से मानी जाती है जो प्रह्लाद की बुआ थी। इस गीत के गाने वाले दो मण्डलियों में विभक्त होकर बड़े फोर से डोल तथा शीघ्र बजाते हुए नाचे हैं। पहला दल गीत की एक कड़ी गाता है तो दूसरा दूसरी कड़ी। इस प्रकार उस समय एक समी-सा रोंग जाता है। होली गीतों में राधा-कृष्ण के होली खेलने का प्रायः उल्लेख रहता है। एक उदाहरण देखिए—

रोंग डाक रे तो रे रोंग डाक, नेंकु धाये धा।

नेंकु धाये धा स्वाम तो रे रोंग डाक, नेंकु धाये धा ॥

रोंग डाक तेरे धवन साक धरे तेरे गानन रे पसवा माक बार।

नेंकु धाये धा०

एजी-नेड़ी पगिया बाँधे, धरे सिरी पगिया रे फूलरी पाक पार ॥

नेंकु धाये धा०

बन फुलहे ये छैन पनोचो धरे तो रे तन जन-बोवम बाक तेरे पार।

नेंकु धाये धा०

नेंकु धाये धा स्वाम, तो रे रोंग डाक। नेंकु धाये धा ॥^१

होली का गाना भांग धुवन पंचमी-बसन्तपंचमी में प्रारम्भ हो जाता है तथा ध्वज आस तक चढ़ता रहता है। होली के दिन एक बुरे प्रकार का गीत गाया जाता है जिसे कबीर कहते हैं। ये गीत प्रायः अस्वीकृत होते हैं। कबीर-गीत की प्रत्येक पंक्ति इस प्रकार होती है। अररर र र र र भइया सुन लठ मोर कबीर। कबीर को ठुकरा का मधुबा ही पाठा है। होली में शृंगार रस की प्रधानता रहती है और कबीर में हास्य की।

भूला—सावन का छोक-गीत है। इन गीतों में नायिक-प्रेम के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इन गीतों में यदि कैलि-कलामयी कामिनीयों का ह्ला-भाव है तो प्रोपित-पति कामों के आशुओं और परिवर्तनों के गहन निश्वास तथा ईर्ष्या सपत्नियों के बिपन्नता की भी कमी नहीं है। इन गीतों में शृंगार का चित्र-वर्णन हुआ है। शृंगार में भी बिहू का ही अधिक चित्रण हुआ है। भेद के आसपास के प्रदेय में इन गीतों को 'पंचमी के गीत' भी कहते हैं। सावनी गीतों में वहाँ भी झुलनेवाली स्त्रियों के समूह का वर्णन आया है वहाँ 'साव सहेली के झूमके' धनों छाप उनकी संख्या सदैव साव बतलाई गई है। भाग्यो वे साव सहेलियाँ नहीं अपितु स्वर-सप्तक के छोटों स्वरों के साकार स्वरूप ही हैं जिनके संयोग से संवीर स्वयं प्रकट हो जाता है। लोक गीतों की सामूहिक भेदना का इससे सुन्दर उदाहरण और क्या हो सकता है ?^२ अथर्वशत में सावन के गीत या झुका मस्तार, हिवाके आदि गीतों के रूप में गाए जाते हैं। इन गीतों में भी बर्णन पति-विधाय, जानम और प्रेम की प्रधानता रहती है तथा कहीं-कहीं राधा और कृष्ण की सीला के भी उल्लेख मिलते हैं जैसे—

भूला रे रानी राधिका जी, एजी कोई दावत गीत-मसार।

नेन्ही-नेन्ही बुँदिया बैलौ सर लयीजी एजी कोई बरतत मूसलपार।

पदुली-पठरि कर भोंटा रे रहे बी, एबी कोई झुकि-झुकि हम्म मुरार ।
 पिहू-पिहू पणहा बेंसौरी करि रह्यो बी एबी कोई वय-वापस की भ्रमकार ।
 कारे-कारे बबरा बँहता मेरी चढ़ि रहे बी, एबी कोई बरवी कामिनि नार ॥

ब्रज-मण्डल में कृष्ण-कीला सम्बन्धी हाकिमों में हिंडोला खानी का भी सम्मेलन इन्हीं लोकोगीतों से सम्बन्ध है ।

रसिया—यह लोकगीत अपने वैशिष्ट्य के कारण ब्रज में अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रिय है । यह होली का प्रमुख गीत है । रसिया के विषय में डॉ. स्वाम परमार लिखते हैं—
 संगीतज्ञों की धारणा है कि रसिया झुपड़ बराने की चीज है । झुपड़ की छड़ी को सम्मेलन लोक प्रचलित रसिया का शास्त्रीय संस्कार कहा जा सकता है । हिन्दुस्तानी सपीत को जो देव ब्रज-भापा तथा स्वामी हरिदास से प्राप्त हुआ उसका भेज बहुत-कुछ रसिया के लोक और शास्त्रीय दोनों स्वरूपों को है । 'बाहने-बकवरी' में जो प्रकार के गीतों का उल्लेख है—'मार्न पीर देखी । देखी छेछी में झुपड़ बिछेपत' उल्लेखनीय है जो चार चरणों के द्वारा बिना छन्द और मात्रा की बन्धनों के शृंगार-प्रधान विषय को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है । 'बाहने-बकवरी' में जिस झुपड़ का उल्लेख है वह क्वाचित् रसिया से सम्बन्धित हो ।”^१

रसिया में शृंगार प्रधान विषयों की बड़ी ही सरस अभिव्यक्ति हुई है । गीतों का विषय प्रायः राधा-कृष्ण का मनो-विनोद और प्रेम प्रसंग ही रहा है । रसिया की बिछेपता है उसकी चित्र-सुलभ छेछी । भापा और भावों का जो जोज रसिया में भिड़ता है वह ब्रज के अन्य लोकगीतों में दुर्लभ है । प्रेम ही उसका मूल स्वर है और यही उसकी समूची भाव धारा पर धारा रहता है । रसिया की सरसता तथा संपीतात्मकता निम्नलिखित गीत में देखी जा सकती है—

जे भाए हमारे महाराज, घाब हमें छल करके ।

ए लखवाँ, तेरे राज में कबहु न पैदी बुरियाँ कमइयाँ नर नरके,

जे भाए हमारे महाराज, घाब हमें छल करके ।

कजरी भी सावन का ही लोकगीत है । इस शब्द की व्युत्पत्ति सावन मास में आकाश में आकाशरिक्त बारणों की कालिमा से हुई है जो कामज के समान कासे होते हैं । इसी कालिमा से कजली या कजरी शब्द बना है । मिर्जापुर की कजरी प्रसिद्ध है । वहाँ इसके रचना भी हुमा करते हैं तथा पुरुष और स्त्रियाँ दोनों इसमें भाग लेते हैं । कजरी गीत शृंगार रस प्रधान गीत होते हैं । उनमें संयोग-शृंगार और विनोद-शृंगार दोनों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुमा है । गर्वित दो दलों में विभक्त होकर इन गीतों की गाया करते हैं । एक प्रसन्न करता है और दूसरा उसका उत्तर देता है । इस गीत की कम अत्यन्त सुन्दर और प्रभावोत्पादक होती है । माधुर्य कम और सुकुमारता का अनुभव निम्न लिखित कजरी गीत में किया जा सकता है ।

केंते सेते कइनु सावन में कजरिया बदरिया पिरि घाइल नगरी ।

सुत बसतु सकेसी, साने संगीन सहेली गुनगुन भिरि लीहें ।

छोहरी बपरिया बपरिया बिरि आइस गनवी ॥

बारहमासा वह लोकगीत है जिसमें किसी बिरहिणी स्त्री के वर्ष के प्रत्येक मास में अनुभूत दुःखों तथा हार्दिक मनोवेदनाओं का वर्णन पाया जाता है। वर्ष के बारहों महीनों में अनुभूत दुःख का वर्णन होने के कारण ही इन गीतों को बारहमासा कहा जाता है। प्रकृति वर्णन के रूप में इन गीतों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। वेदों में प्रकृति-चित्रण तथा संस्कृत काव्य का पद्य-वर्णन इसी परम्परा की ओर निर्देश करता है। परन्तु आरम्भ में ये वर्णन प्रकृति की आसम्मान मानकर ही हुए हैं। संस्कृत कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन रूप की भी स्वीकार कर लिया था। परन्तु प्रत्येक मास का पृथक् निर्देश कर पति विचोग के कारण अनुभूत दुःखों का वर्णन हिन्दी बारहमासों में ही हुआ है। जयजी ने 'पद्मावत' में नायमती के वियोग का वर्णन बारहमासा के शाप बड़े ही मार्मिक रूप से किया है। विद्यापति ने भी बिरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है।

गोर पिया सखि येन दुर बैस
जोवन बए येन सख सनेस
मास मयाइ जगउ नव भेष
पिया बिससेस रह्यो निरपेस
कीन पुख सखि कोन सो बैस
करब मास तहाँ जोपनि बैस ।*

लोक-साहित्य में प्रचलित बारहमासे प्रायः आषाढ़ मास से प्रारम्भ होते हैं। इन गीतों में बिरहिणी के दुःख का उल्लेख मास के क्रम से होता है। जिस गीत में बिरहिणी के केवल छः या बार मासों की बिरहानुभूति का वर्णन होता है उसे छमासा या बीमासा कहते हैं। इन जबकी पैमिनी भासनी तथा मोहपुरी आदि सब लोकियों में ये गीत पाए जाते हैं।

इन गीतों के विवेचन से पता चलता है कि वस्तर भारत में अष्टछाप के कवियों के प्रादुर्भाव के बहुत पहले से ही प्रकृति और राधा-कृष्ण की लेकर संयोग और वियोग की उग्रम भावनाओं की अभिव्यक्ति मोहरंजन के एक साधन के रूप में लोकगीतों में होती चली आ रही थी। तथा और कृष्ण की लेकर लौकिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना में सम्मिश्रित मोह की सहृदयता और सरलता ही व्यक्त हुई है, क्योंकि योग और वसंत जैसी स्निग्ध वराधना-पद्धतियों की सामान्य जनता न तो ग्रहण कर सकती है और न उन्हें ग्रहण करना उसे अभीष्ट ही होता है। वह तो सुख-दुःख गीत या-माकर अपने संवर्धनम जीवन को अधिक सुन्दर और सुखद बनाती रहती है और इसीलिए वह अपने देवी-देवताओं की अभिव्यंजना भी लौकिक रूप में सुलभता से कर लेती है।

इन लोकगीतों में अमूर्तनिहित जनता की मूर्त जेतना सम्झाह तथा विरवास के आचार पर ही कदाचित् मीराबाई, मुरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने पद या गीत पैमी में कृष्ण की सीमाओं का पुष्प-गान किया। उनके कृष्ण 'महाभारत' या 'मायवत' के कृष्ण की

* विद्यापति बाराणसी राधेश्वर देवीपुरी द्वारा सम्पादित, प्रिन्सिपल संस्करण, १० १७१ ।

अपेक्षा सर्षपाहिनी लोक-संस्कृति के अधिक अनुकूल विभित हुए हैं। कृष्ण-सीता-सम्बन्धी सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों के पद भक्त-धित्त-वर्णन मान मंगल-भीत राधा और कृष्ण की सीढाओं का विषय पनपट-सीढा कृष्ण-अनम विषयक पद आदि जीवन के इतने अधिक निष्ठा हैं कि यह कहना कि उनका सम्बन्ध लोक गीतों से नहीं है हास्यास्पद प्रतीत होता है। सूरदास का गोपियों का विरह-वर्णन भी बहुत-कुछ भारद्वाज की ही सीढी पर हुआ है।^१ वस्तुतः लोक-विश्वासों से भक्त-कवियों का बहुत-कुछ सम्बन्ध रहा है। लोक-तत्त्व से सत्तों का प्रतिष्ठ सम्बन्ध दिखाते हुए डॉ० सत्येन्द्र मिश्रते हैं—सत्य प्रकृति मूकत लोक-प्रकृति है।^२ लोक प्रकृति सामान्य रूप से बिना किसी प्रकार की शैव-भुक्ति रहे जहाँ-तहाँ में जो कुछ निम्नता है उसे संग्रह करती रहती है और यदि उसमें उसे भावना और निष्ठा हुई तो उसे सुरक्षित रखकर उसकी एक परम्परा बनाती चली जाती है। महात्माओं और कवियों ने सत्तों की जो परम्परा दी है उससे भी यही विभित होता है कि सत्तों का स्वरूप लोक-प्रकृति के अनुकूल टकता है। यह प्रकृतिधारणाहिनी होती है।^३ ठीक वही बात भक्त-कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। इन लोक-विरासों के अनुकूल अष्टछाप के कवियों में कृष्ण की कल्पना का आचार भागवत का वक्ष्य स्वरूप रहा है जबकि महाराष्ट्र के कृष्ण-कवियों ने श्रीकृष्ण के चरित्र-चित्रण के लिए महाभारत सीढा और भागवत के एकादश स्कन्ध का ही आधार लिया है। यह सच है कि हिन्दी और मराठी की काम्य-वस्तु का वैज्ञानिक तत्काशीन परिस्थितियों को सुचित करता है पर उससे इस वस्तुस्थिति का भी समर्जन होता है कि महाराष्ट्र में कृष्ण-विषयक परम्परागत कल्पनाएँ ऐसी थीं जिनके कारण वही के भक्त-कवि कृष्ण के रसिक रूप की अपेक्षा उनके योगेश्वर पराक्रमी और ज्ञानवेत्ता रूपों का ही प्रथमान करने के लिए विवश हुए, क्योंकि ऐसा न करना लोक-भाव्यताओं का खण्डन करना होता। परन्तु जिस समय ब्रह्म-सम्प्रदाय की स्थापना हुई उस समय उत्तर में ऐसे लोक-विश्वास विद्यमान थे जिनमें कृष्ण के ओकरवक रूप को ही अधिक मान्यता मिली हुई थी। भक्त ब्रह्म-सम्प्रदाय के अनुयायी भक्त-कवियों ने कृष्ण के इसी रूप की अपने काम्य में अनिवार्यता की जो बनता द्वारा सहज ही स्वीकार कर ली गई। परन्तु महाराष्ट्र के कृष्ण सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की अपेक्षा विदुष-विविधता का काम्यत्व भाव ही अधिक परिणामकारी हुआ। मज्जु-भक्ति की बड़ें महाराष्ट्र में गहरी नहीं पहुँच पाई।^४

१. मूल्युपुत्र भक्तवत्सल और उसका साहित्य शिक्षणसाल सिंह २० २२२।

२. साहित्य समेरा, सप्त-साहित्य विस्तारक ५ ८२।

३. लोक साहित्यकी कल्पना, बुधो भगवत, ५ ४१०।

मराठी और हिन्दी कृष्ण-काव्य का साम्य और वैषम्य भाव-पक्ष

काव्य के दो पक्ष माने जाते हैं—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। भाव-पक्ष के अन्तर्गत काव्य की पृष्ठभूमि उसकी विषय-वस्तु, परिचय-विषय, प्रकृति-वर्णन, भावामिष्य-वना कल्पना-उत्पत्ति तथा रस का समावेश होता है। अतः हिन्दी और मराठी कृष्ण-काव्य के भाव पक्ष का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए इन तत्वों पर विचार करना आवश्यक है।

हिन्दी और मराठी इन दोनों भाषाओं के कवि मूलतः पहले वे और कवि बाद में। अतः उनका काव्य बुद्धि-उत्पत्ति से मोक्षित न होकर सीधा-सारा हृदय-जन्य काव्य है। उन्होंने जो कुछ कहा है, अक्षि-निष्कृत हाकर कहा है। इसीलिए उनके काव्य की पृष्ठभूमि काव्य में प्रबन्ध-रचना के लिए भयंकर नहीं था। प्रबन्ध-काव्य की सर्वना के लिए कालायणी अनुप्रास की अभिव्यक्ति और बुद्धि का साम्प्रदायिक आवश्यक होता है। इन मूल-कवियों का यह अभीष्ट नहीं था। उनके काव्य में तो भावनाओं के तीव्र क्षणों की अभिव्यक्ति आत्मनिष्ठ रूप से हुई है। यही कारण है कि इन कवियों के काव्य में आराध्य के प्रति उनकी आवेष्टमुक्त मन-स्थितियों का ही चित्रण हुआ है। आवेष्टमुक्त मन-स्थिति की अभिव्यक्ति बीतों कल्प में ही हो सकती है, क्योंकि वीति काव्य का प्राच-उत्पत्ति है आत्मनिष्ठ। यह आत्मनिष्ठ चित्त की अधिक तीव्र होनी, वीति-काव्य उत्पन्न ही योग्य होगा। इन सभी कवियों ने काव्य को आत्मनिष्ठ का साधन बनाया है और इसीलिए सप्त आवेष्ट, एकमात्र तुकाराम, नामदेव, सुरदास मीरा नरसिंह मेहता आदि मूल कवियों ने वेप पर्वों की ही रचना की है।

इन कवियों ने श्रीकृष्ण की लीलाओं को अपने काव्य का विषय बनाया है, जिनका एकमात्र आधार भावगत ही रहा है। हिन्दी के कृष्ण-मूल कवियों ने भावगत के एकाग्र स्वरूप की अपेक्षा दशम स्वरूप से ही अपने काव्य के लिए सामग्री चुनाई है। 'सुरदास' के तीन-चौपाई से अधिक भाग में दशम स्वरूप को ही प्रतिध्वनित किया गया है। परन्तु मराठी के कृष्ण मूल कवियों ने भावगत के एकाग्र स्वरूप लीला और महाभारत से अधिक प्रेरणा ली है। प्रकृति के हम भेद के मूल में हिन्दी और मराठी प्रदेशों की विविध सांस्कृतिक,

राजनीतिक सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ रही हैं। परिस्थितियों की इस विभिन्नता के कारण ही मराठी कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत का सर्वथा अभाव रहा है। साथ ही उसमें संयोग और वियोग शृंगार का उतना विद्युत् वर्णन नहीं मिलता जितना हिन्दी में।

सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण की वाक्-कीड़ाओं के अनेक वर्णन किए हैं। परन्तु नितनी मामिकता और विभिन्नता। सूरदास के वर्णन तथा चरित्र चित्रण में गिहरी है। उतनी हिन्दी के अन्य कृष्ण भक्त कवियों में नहीं दिखाई देती। सूर के कृष्ण अत्यन्त सौन्दर्यान्वी हैं। कवि ने अनेक पदों में उनके शिष्ट रूप के सौन्दर्य का वर्णन किया है। 'धूर बाकी कुटिल भसकों हँसते समय तूष की बमकती हुई बैंगुलियाँ' 'विद्यालोक कोचनों' 'विफट घृष्टियों धीर विद्याल माछ मसि बिंदु के तिसरु' के साथ उनके मुख के अपार सौन्दर्य पर माता वसोदा

तथा अन्य ब्रज-नारियाँ अपना तन-मन निष्काबर करती हैं।^१ कृष्ण अत्यन्त बचक और बिनोबी हैं वे बच्चों का बच करते हैं तथा अर्धपूज्य बचकर समस्त बचकर प्रकृति में तटस्थ रहकर आशोकन उपस्थित करते हैं। कृष्ण की आयु के साथ उनका सौन्दर्य और सीझाएँ भी बढ़ती जाती हैं। इन सब कीड़ाओं के वर्णन में सूरदास की दृष्टि बहुत ही पैनी रही है।

हिन्दी की ही भाँति मराठी-काव्य में श्रीकृष्ण की वाक्-कीड़ाओं के अनेक हृदय स्पर्शी वर्णन हुए हैं। ज्ञानेश्वर कहते हैं— 'गोकुल में जो श्रीधर का कमल खिला है वही श्रीकृष्ण की प्रेम-मूर्ति का स्वरूप है। बड़े प्रेम से परचढ़ा खाँसे का भेष धारण कर दीएँ चरा रहे हैं। सिर पर कम्बल जोड़े श्रीकृष्ण एक कल्पवृक्ष के तले बिभगी गुहा में बड़े हुए हैं। उनकी पिङ्गलियाँ और लीचें सुखोन्नत और प्रकाशमान हैं। वे पीताम्बर बाँधे हुए हैं और उस पर रत्नज्वित मेलका है। प्रेम-सागर को उल्लसित करने वाली वैजयन्ती माछा पैरों पर सटक रही है। बाँतों की प्रभा इतनी अधिक है कि उसे पाने के लिए मानो हीरे भीत माँग रहे हों। कृष्ण के मस्तक पर बुझों के कोमल पल्लवों का मुच्छा घोमायमान हो रहा है। दोनों हाँठों में मुरली दबाए वे मयूरराज की घोड़ों की देखभाल कर रहे हैं। उनकी जितनी सरहना की जाए बोझी है। मुरली के साठों छिद्रों पर नाचने वाली उनकी बैंगुलियों में बैंगुलियाँ अत्यन्त घोमायमान हो रही हैं। इस बेजु के मधुर स्वर ने सभी मोपिकाओं को बेच बासा है और वे कृष्ण-रूप हो उठी हैं। ऐसे इस कृष्ण को मैंने हृदय में दब कर रखा है।'^२

ज्ञानेश्वर का श्रीकृष्ण-वर्णन और कृष्ण की वाक्-कीड़ाओं का वर्णन अत्यन्त काव्यमय और मनोहारी है। "मिट्टी में खेन्दे के कारण कृष्ण के बाँतों पर कुछ सछेरी-सी छा गई है।

वे अपने छोटे-से पाँव धीरे-धीरे उठा रहे हैं। घड़ीर का सगुछन ठीक से न कर पाने के कारण उनके पैर बममगा रह हैं। कृष्ण को उठाकर गोशियाँ उन्हें चूमती हैं। इस प्रेम-सुख का वहाँ तक वर्णन किया जाए ? कृष्ण की बैंगुली पकड़कर गोशियाँ उन्हें किसाने के जाती हैं। जिंग परमारमा का ध्यान करते हुए ब्रह्मा ने अनेक भुम बिता दिए हैं वही परमारमा

१. परचढ़ाई की मधुरपर बनी, पृ. १२४।

२. ज्ञानेश्वरी, भाषा १६७।

छोड़कर प्रपंच स्वी छाव बिछेर ली । प्रारम्भ कपी वासी बही और कर्मव्यता-कपी हृष-भलाई
 वे ली गए । हेष की कोठी काम की मुँडेर भोग से भरकर रखी हुई भलाई-बुराई कपी भी
 की बगरियाँ बादि सबको कृष्ण ने चकनाचूर कर दिया ।^१ कृष्ण चरित-विषमक भगवों में
 एकनाथ ने हिन्दी भाषा का भी प्रयोग किया है । उन्होंने वसुदेव और देवकी की मन-स्थिति
 का भी बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है । कंस के बन्धीपण में देवकी को बोहज छमे
 हुए हैं । 'येळइनि संवुरें येळ येळामा घाठार' उलझामा महागिरी 'जनी रिपून मवसर्प
 नाबाबा 'कंसादिक मीर रणाबा करामा संहार ।' अर्थात् वह बन्धनों को एकत्रित करके खेज
 सेजना चाहती है—बोधवर्धन उठामा चाहती है—पानी में पैठकर काफिया को भावना चाहती है
 और कंसादिक मीरों का संहार करना चाहती है । गर्भ का विचार करते ही उसे बाह्य और
 अन्तरंग भीकृष्ण से ही व्याप्त दिखाई देने लगता है । 'सबाह्य अंतरी । व्यापक भीकृष्ण ।'
 कृष्ण का चित्त होते ही वह वसुदेव से कृष्ण को गोकुल में ले जाने के लिए कहती है । उत्तर में
 वसुदेव कहते हैं कि जब स्वर्ग परब्रह्म ही उनके घर आ गया है तब वे कंस का भय क्यों
 करें ?^२ वे मनबान् की क्य-माधुरी देखते ही रह जाते हैं । कृष्ण को गोकुल से जाने का
 अनुरोध करते समय देवकी की मनोवस्था कवि ने 'कृष्ण व्याबा गोकुळा । पाई स्नेहाव्या
 मृकळा' कहकर बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित की है । कृष्ण के यमुना तीर पर पहुँचते ही
 यमुना हर्ष से फूल उठती है और भीकृष्ण चरण-चम्पनार्थ उसमें बाढ़-सी ला जाती है । कृष्ण
 को छिमे यमुना में प्रवेश करते समय कवि ने वसुदेव की मन-स्थिति का वर्णन करते हुए
 कहा है—'हालीबा कृष्ण बिचकन । देव बैबतां होतो दीन । मोहमतेथें महिमन । ऐसे आइ ।
 (पाद के कृष्ण को घुसकर वसुदेव कृष्ण की रक्षा के लिए देवताओं की मनीषी कर रहे हैं ।
 ऐसा वे मोह-ममता के कारण ही कर रहे हैं ।) कृष्ण की बनेक सरापणों का गोपियों के
 उलझनों का कृष्ण-विषयक यक्षोदा के प्रेम का वर्णन एकनाथ ने सूर जैसा ही किया है ।
 सूरदास की ही भाँति बाळ-कृष्ण के हठ का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

परबदा म्हुंने मारासे । कृष्ण रडतां राहिला ॥
 कृष्णें ह्मूट किनसी जैसी । जंत्र माये खेळवासी ॥
 तो न ये घरे । हातासी । कृष्ण रडतां राहिला ॥१४
 भाई ! तुझी साठसी सरसी । मज बेईं खेळायासी ।
 तो न ये बाळ । हातासी । कृष्ण रडतां राहिला ॥१५
 धारदातीत हूँ मज । तें मये हाताकारन ।
 कृष्णें माँझें निवान । कृष्ण रडतां राहिला ॥१६
 राया म्हुंने दशमगुम्हरा । तुम्हीं जना माझे मंदिरा ।
 एका जनार्दनी बातारा । कृष्ण रडतां राहिला ॥१७॥

(यद्योरा कह रही है कि मैं राये । कृष्ण ने भयव हठ छान रखा है । वे खेलने के लिए जंत्र
 मान रहे हैं और साथ समझाने पर भी छुप नहीं हो रहे हैं । परस्पर रो रहे हैं । यद्योदा
 कृष्ण को समझाती है कि जत्रमा तक हाथ नहीं पहुँच पायता । पर कृष्ण रोना बन्द ही नहीं

१ भी एकनाथ बाळ मज भाणि कार्य, म० २० पादक, पृ ३४० धर्म १४४-१४५ ।

^२ 'सरस्वत मायेरी की जाने अस्तव्यं आता कंसाचे मज कोन पाठगण्यर ।

करते । तभी के माँ की परछाईं देखने के लिए भाँगतें हैं, पर बघोरा के समझाने पर भी कि परछाईं पकड़ी नहीं जा सकती, कृष्ण नहीं भाँगते और रोते रहते हैं । जब बघोरा छीसे में बग़रमा का प्रतिविम्ब कृष्ण को दिखाती है तब भी जन्म पकड़ में न आने के कारण कृष्ण उस ओर ध्यान न देकर रोते रहते हैं । फिर राधा उन्हें मनाती है तथा अपने पर बछने के लिए कहती है पर कृष्ण किसी की बात नहीं मानते । हठ करते हैं और रोते रहते हैं ।)

इसी प्रकार एक समय पर में कवि कहता है—

साईं ब्रज माफ़ मको पञ्च माफ़ नको ।

माहीं माहीं म्यां जारलो माती ॥

(माँ ! मुझे न मारो, न मारो, नहीं नहीं, मैंने गिट्टी नहीं खाई है ।)

ज्ञानेश्वर एकनाथ और नामदेव की ही भाँति पंडित कवियों ने भी कृष्ण-रूप की माधुरी और वाक्-लीलाओं का बड़ा ही सुन्दर और मर्मस्पर्शी वर्णन किया है । कृष्ण-जन्म, मृतिका प्रसव, बाल-लीला, घोरस-हृन्म ऊबल-बन्धन बन-मुषा, वेणु-मुषा हरि-विदास इत्यादि वर्णनों के कारण ही वाग्य पंडित मराठी-साहित्य-संसार में अमर हो गए हैं । कृष्ण के मिट्टी खाने से बघोरा मूढ़ है । इस प्रसंग का समीच वर्णन नामन पंडित ने किया है—

कर भीक्रीतात्मा करकपि पाठा परि करें ।

हुवा हस्त छोपी हरिचरि जयाबलि निकरें ॥

बटावी से बेठी भयबन्धित उठे हरि करी ।

करी अंजनासे जरि कर हुवा जो पवहरी ॥^१

(बीकृष्ण का एक हाथ माठा ओर से पकड़ती है और जपत कबाने के लिए दूसरा हाथ उठाती हुई डाँटती है तब हरि की भाँसें भय से चकित हो उठती हैं । वे भयहर्ष करने वाला अपना दूसरा हाथ बचाव के लिए मस्तक पर उठावे हुए हैं ।)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट विदित होता है कि मराठी कृष्ण-काव्य में केवल कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही वर्णन नहीं हुआ बरन् इन वर्णनों का समीप्य हाथ भाँसें का सूक्ष्म विवेचन घुरबास की ही तरह बड़े मनोबलान्वित ढंग से हुआ है । इतना अवश्य है कि इन वर्णनों में अम्मात्म का ही आरोप अधिक हुआ है । विद्वान् की दृष्टि से मराठी के कृष्ण गोपियों और हिन्दी के कृष्ण-गोपियों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता परन्तु व्यापक हारिक रूप से दोनों के पात्रों में तनिक अन्तर है । मीरबसागत की ही तरह मराठी के कृष्ण विशेष रूप से वाक्य भक्ति के आत्ममग्न चित्रित हुए हैं परन्तु, घुर से सकय वात्सल्य और माधुर्यभाषों को अधिक महत्त्व दिया है । घुर के कृष्ण का व्यापकहारिक रूप अधिक निरक्षर हुआ है और सतमें मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि कृष्ण का विषय रूप बँक-सा आता है । कृष्ण में जन्म-वत्सलता की अपेक्षा प्रेम की महत्ता स्वीकार की गई है । संश्लेष में घुर के कृष्ण अधिक मानवीय हो उठे हैं । इसी प्रकार घुर की गोपियाँ भी अधिक भावुक हैं । उनमें वाक्-माधुर्य अधिक है । वे कृष्ण को उत्तर पर उत्तर देती हुई दिखाई पड़ें हैं । कहीं-कहीं तो सनकी प्रयत्नता बहुत अधिक बढ़ गई है । सनकी तुलना में भागवत की ही भाँति मराठी की गोपियाँ अनुपासित हैं परन्तु घुर की गोपियों की प्रयत्नता में भी प्राचीनता

वीर सरस्वता की एक छाप है। मराठी में विभिन्न गोपियों में कोटिक प्रेम की उत्कटता हिन्दी की ही मति है। पर ये इस सत्य के प्रति सर्वथा जाग्रत रहती हैं कि कृष्ण परमेश्वर हैं। इसीलिए उनमें सख्य की अपेक्षा वाच्य भाव ही अधिक है। मराठी में भ्रमर-गीतों के बजाय का यह भी एक कारण है। मराठी की अपेक्षा हिन्दी में विशेषकर घूर का वाच-वर्णन अधिक व्यापक रूप में हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि घूर ने अपने भावार्थ को मानवी रूप में देखा है और मराठी मत्त-कवियों ने मानवी रूप में देवत्व को।

मराठी और हिन्दी दोनों के कवियों ने कृष्ण के साथ-साथ यक्षोदा देवकी, बासुदेव नन्द तथा सावित्री-संगी बाल-नोपासों का वर्णन किया है। परन्तु मराठी में यह वर्णन प्रसंग बल ही हुआ है। संक्षेप में समस्त मराठी कृष्ण-काव्य में कृष्ण के सहचर बाल-नोपास देवकी, यक्षोदा नन्द, बसुदेव बलराम आदि परिचित हैं और केन्द्र है स्वयं कृष्ण। हिन्दी में विशेषतया घूरदास ने वर्णन में इन पात्रों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी उद्घोषित होता है। वास्तव में घूर ने समस्त पारिवारिक जीवन का जितना समग्र और स्वाभाविक चित्र खींचा है उतना मराठी कवियों ने नहीं।

भाववत्-पुरुष के दशम स्कन्ध के (चत्तीस से तीसीसवें अध्याय तक) पाँच अध्यायों को रास-यंवाध्यायी कहते हैं। रास-यंवाध्यायी को भागवत का प्राण समझा जाता है।

‘रास-यंवाध्यायी’ में रास का प्रारम्भ करने के लिए श्रीकृष्ण की गोपी तथा रास-झिड़ा अन्तर्मेष्टा का तथा सारथीय पूजिय की विभाजरी का बहुत ही प्रसंग, दशम स्कन्ध के सरस एव काव्यमयी भाषा में वर्णन किया गया है। कृष्ण के मन भ्रु गार पर आलेप तथा में रास करने का विचार आते ही समस्त वन प्रान्त अनुदाय की

उसका झण्डन काकिमा से अनुरजित हो उठा। श्रीकृष्ण ने अपनी बंधी उठाकर उसका बादन आरम्भ कर दिया। बंधी सुनते ही गोपिनी अपने समस्त कार्य-कलाप को छोड़कर वन में जा पहुँचीं। श्रीकृष्ण ने अत्यन्त सहज भाव से उन्हें पाणिपत्र-धर्म का उपदेश देकर बापस झूट जाने के लिए कहा। पर गोपियों ने किसी भी मर्वा की स्वीकार नहीं किया और आत्म-विस्मृत-सी होकर वे वन में डटी रहीं। वन्त में कृष्ण ने उनके साथ मंडलाकार स्थित होकर रास किया। रास-खीला में कृष्ण और गोपियों का मित्र संश्लेष-मृदुवार के बचतल पर विभ्रान अनुयाय संघारीभाव आदि के साथ वर्णित किया गया है।

रास-खीला का वर्णन हिन्दी के कृष्ण मत्त कवियों ने बड़े ही विशद रूप से किया है। रास-खीला को घूरदास ने ‘बखी-व्यति सुग गोपी-मोह’ व ‘रास-यंवाध्यायी श्रीकृष्ण विवाह’ श्रीकृष्ण अन्तर्धान गोपी बिरह श्रीकृष्ण मित्र गोपिन को फेर रासखीला और ‘बल झिड़ा’ इन छ धीपों में विभाजित करके उसका बड़ा ही सरस वर्णन किया है।^१ नन्ददास ने ‘रास-यंवाध्यायी’ लिखकर ३७८ पदों में रास-खीला का वर्णन किया है।^२ पर, मराठी कृष्ण-काव्य में रास का समग्र अभाव-सा ही है। श्रीधर कवि ने अवश्य रासखीला का विस्तार से वर्णन किया है, पर उसमें जोय-विवास का ही प्राधान्य है, क्योंकि श्रीधर ने

१ घूरदास डॉ० श्रीधर कवि, पृ ३२१।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ रामप्रसाद नर्म, पृ ३३३।

कुचमर्मन, ठाँहस-भक्षण अमरावृत-नाम या धारीरिक स्त्रीवार्त्ता का भी मधेष्ट वर्णन किया है। ऐसा वर्णन करने में बामन पंडित की ही भाँति धीवर कवि का भी हेतु विपरीतों को श्रृंगारिक वर्णनों से अपनी ओर आकृष्ट करना रहा है। कवि कहता है—

जि काँ विषय पर शन । न करती सीमा धरषण ।

त्योही श्रृंगार रस बाधबुन । मन लेयी आपसीरुई ॥^१

भारत के इसी स्कन्ध के श्रृंगार पर अनेक आक्षेप हुए हैं। गोविंदा मूलतः परकीया है और परकीया स्त्रियों का कृष्ण के साथ विकास कीटिक या आध्यात्मिक किसी भी दृष्टि से सामाजिक मर्यादा के अनुकूल नहीं है। रास-लीला ने समय भी रास को स्त्री-मुखम सारी मर्यादाओं का उल्लंघन करके वे बन में बाँकर कृष्ण के साथ रास करती है। रास-लीला की परिभाषा करते हुए डॉ० मुंजीराम लिखते हैं—'रास शब्द रस से बना है। रसो वै स', बर्बाद भयवान् स्वयं रस रूप हैं आनन्द रूप हैं। जननिषद् में कहा गया है—आनन्द रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए हैं। यह रस-रूप ब्रह्म वेन्द्र है और उसकी परिधि है ब्रह्माण्ड का यह पक्ष, जिसे उसकी लीला कहा जाता है।' वे आगे कहते हैं—'वैष्णव विद्वानों ने वही वैष्णव भक्ति को विवेचना के आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है वही उन्होंने रास लीला को विज्ञान-सम्मत सिद्ध किया है। इन विद्वानों की सम्मति में बाह्य बन्ध में, भौतिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित आकर्षण का एक निबन्ध पाया जाता है। इस अन्तर् आकाश में अनेक सूर्य हैं। एक-एक सूर्य के साथ कई ग्रह और उपग्रह भरे हुए हैं। सूर्य कक्ष में है और वे समस्त ग्रह-उपग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। साक्षर की शक्ति समको परस्पर सम्बद्ध किये हुए हैं। इधर-उधर भिरे नहीं वेही। रास-लीला में कृष्ण केन्द्रस्थ सूर्य है रास रास अन्य गोविंदा ग्रह और उपग्रहों के रूप में है—इस विचार से भी बहुश्रुत एक और विचार है। भौतिकशास्त्र के प्राथमिक अनुसंधानकर्त्ताओं ने अपनी मधेयता द्वारा सिद्ध किया है कि प्रकृति का एक-एक अणु कई शक्तियों के समुह का नाम है। अणु का विस्फोटन करने से ज्ञात होता है कि उसके बीच में एक कक्ष विद्युत् है जिसके चारों ओर अनेक गति और प्रवृत्ति के तार चक्कर काट रहे हैं। इनमें प्रत्येक तारों और अपरिमित पम्पन हैं। रास-लीला में वह केन्द्रीय कृष्ण अपने चारों ओर गोविंदों के रूप में ऐसी ही तारों बल्लन कर रहा है।

कुछ विद्वानों ने रास-लीला का वर्णन सारसत मूल्य की मानना के रूप में भी किया है। वे कहते हैं, यही तो सित का मूल्य है। कम कम कमर की ध्वनि इस आवाज में कीकी हुई अनगुन ध्वनि ध्वनियाँ हैं और धिक् के पक्ष-सत की कभी सभ और कभी विषम गति लात्स एवं टांडव नाम के मूल्य का अर्थ देती है। मूल्य का यही सारसत रूप रास-लीला द्वारा प्रकट किया गया है।

एक और भी विचार रास-लीला के साथ सम्बद्ध है जिसके अनुसार लीला बुद्ध रूप से अध्यात्म क्षेत्र की घटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा है और रास रास गोविंदा अनेक धीम, हुन्वावन सहस्र-रक्त कमल हैं। यही तो आर्या और परमात्मा का मिलन होता

१ श्रीरुद्र कृत इतिहास ७१।

२ आर्याय साधना और रास साहित्य, डॉ० मुंजीराम शर्मा, १०० १६३।

॥ परंतु बीसा प्रथम ही कहा जा चुका है, वैष्णव पुष्टि मार्गीय विचारों के अनुकूल भासा और परमात्मा मोक्ष में भी मिल-मिल रहते हैं। मुक्त बीध परमात्मा के साथ लीजा करते हैं, उसी लीजा में भाग लेते हैं। योपिकाएँ भी रास-लीजा में कृष्ण के साथ खेल बेसती हैं।

इस विवेचन से इस मिथ्या पर पहुँचा जा सकता है कि रास-लीजा एक प्रकार का रूप है। अमर-कोए में विद्यमान मन्त्र का एक नाम रासा भी दिया गया है। यह मन्त्र इतिका मन्त्र से बीसहवाँ मन्त्र है। पहले मन्त्र-मणना इतिका से होती थी। इस मन्त्रा के अनुसार विद्याका अर्थात् रासा मन्त्र एक बीध में पड़ता है। वैष्णव-भक्ति में रासा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अतः रास-मन्त्र के मध्य में स्थित होने के कारण कम-से-कम रास-मन्त्र के अनुसार उसका प्रथम स्थान है।^१

डॉ० हरबंसदास ने कहा है कि योपियाँ भगवान् की आनन्द-रूपिणी शक्तियाँ हैं रासा भगवान् की आकाशिकी शक्ति है इसलिये कृष्ण और योपियाँ अमिल हैं। मन्त्रम सम्प्रदाय में योपिकाएँ रसात्मकता सिद्ध करने वाली शक्तियों की प्रतीक और रासा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी गई है।

योग की दृष्टि से भी रास का महत्त्व समझा जा सकता है। अनाहतनाद ही भगवान् बीहृष्ण की बंसी-ध्वनि है अनेक नादियाँ ही योपिकाएँ हैं कुण्डलिनी ही रासा है और मस्तिष्क का सहस्र-रत्न-कमल ही मुखान्न है वहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिश्रण होता है तथा वहाँ पहुँचकर बीबात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ ईश्वरीय विभूति के साथ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य क्रिया करती हैं।^२

डॉ० विवेकानन्द स्वामि के मतानुसार रास-लीजा ज्ञान-मार्ग, योग-मार्ग, कर्म-मार्ग और शक्ति-मार्ग की सरणि है—श्रृंगार या काम वैष्णव का उसमें आधार स्वीकार ही नहीं किया गया है। रासलीजा में उपास्य काम विनयी है इसलिये इसके द्वारा काम-विषय रूप कस प्राप्त मानी जाती है।^३

उपयुक्त मतों के आधार पर यह मान भी लिया जाए कि रास-लीजा एक आध्यात्मिक प्रतीक मात्र है और उसमें काम की भावना नहीं है, तब भी यह प्रश्न बना रहेगा कि भावगत में रास की योजना योपियों के किस रूप को लेकर हुई थी? भावगत की योपियाँ मानवी हैं या ईवी? कृष्ण और योपियों का श्रृंगार मानवीय भावनाओं पर आधारित है या आध्यात्मिक? यदि उसका स्वभाव आध्यात्मिक है तो उसमें केवल योपियों का ही क्योंकर समावेश हुआ है?

अध्यात्म पुरुष और स्त्री में भेद नहीं मानता। रास-लीजा के समय कृष्ण का बंसी वादन योपों को क्यों नहीं आह्वान करता? इस प्रश्न का उत्तर तभी मिल सकेगा जब योपियों में काम-भावना की स्वीकार किया जाए। हमारे विचार में भावगत में अध्यात्म का आश्रय लेकर इसी रास का निरूपण हुआ है। मराठी भक्त-कवियों ने इस बात को समझा है और बड़ी सतर्कता से मानव-मुलम ऐपचार्यों पर अध्यात्म की अव दिकवाई है। आनन्द कहते हैं—

१. मार्गीय भासा और रास-लीजा, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, पृ० २६४-२६५।

२. रास और कृष्ण-लीजा, डॉ० हरबंसदास शर्मा, पृ० ६६४।

३. रास-लीजा सम्प्रदाय सिद्धांत और राशि, डॉ० विवेकानन्द स्वामि, पृ० २६३।

प्रभा बरी कीबलयापी जायो । सोहो मिळो कां परितोने भांगी ।

का के मिळसिये प्रसंगी । सोमेंच होईल ।^१

(अरे पारस को फोड़ने के लिए भंगे ही कोहे का धन जा जाए, पारस के स्पर्श से वह भी घोसा बन जाएगा । अर्थात् निष्काम हो जाएगा ।)

यादवत हर्षिबंध आदि पुरुषों की रचना एक विशिष्ट धार्मिक परिस्थिति की भाव समकाल-पूर्ति के रूप में ही हुई है । मागवत-पुरुष एक ही व्यक्ति की रचना प्रतीत होती है । ऐसी रचना में यदि पुराणकार में लौकिकता का आशय लेकर अध्यात्म का निरूपण किया तो आश्चर्य की बात नहीं । ऐसे निरूपण में उसकी वैयक्तिक भावना भी आवश्यक ही रही होगी । मधुरा भक्ति तथा मक्त की मनोकथा का विवेचन करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, 'परमेश्वर पति-रूप और हम सब पत्नी-रूप हैं । इस प्रकार की भक्ति को ही मधुरा-भक्ति कहते हैं । इस विषय में हर समय एक ही पुरुष बात करता है । वह पुष्प है परम-पुष्प । वह सबका पति है । एक पुरुष को कुछ प्रेम स्त्री को द सकता है या जो प्रेम स्त्री पुरुष को दे सकती है, वह सब परमेश्वर को दे देता ही मधुरा भक्ति है । भक्ति के अन्तः स्वरूपों में यह स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है ।' रचना ही नहीं, स्वामी विवेकानन्द जाये कहते हैं, "पति और पत्नी के रूप में होने वाली भक्ति से भी मक्त का बिल नहीं भरता क्योंकि पति और पत्नी के परस्पर प्रेम में सशकाव होता है । यद्यपि व्यक्तिचारी प्रेम में दुराचार का रूप विद्यमान रहता है, तथापि वह पति और पत्नी के प्रेम से अधिक उत्पन्न हुआ करता है और इसीलिए मक्त दुराचारी प्रेम को भी पक्ष्य करता है । वह नहीं चाहता कि दुराचारी प्रेम का मार्ग अनुष्ठ होता है ।"^२

हिन्दी कृष्ण-काव्य में राधा को भगवान् कृष्ण की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । वह कृष्ण की प्रमुख लक्ष्मी है—प्रेमिका है । वह कृष्ण के व्यक्तित्व की पूरक है ।

वह भोली बंबल मधुर, प्रेम-विषम और परम सुन्दरी परकीया कृष्ण की प्रमुख लक्ष्मी है । कृष्ण उस पर आसक्त हैं रति, रम्भा जर्बसी, रमा आदि उसे राधा 'दिगुदा राई' देखकर मन में बुझती रहती हैं क्योंकि वे सब कंठ-मुहाविन नहीं समुदाई क्षिप्ती, हैं और राधा कंठ की प्रिय है । वह कृष्ण के साम रति-मुक्त में सतयवामा-नैमूय मय्य है । रति-मुक्त के उपरान्त वही राधा की 'मरवनी छारी',

पत्नी कंहुकी आत्मस्य भरे नैन और बटपटे बैन, उसके सहच निर्मल सौन्दर्य में दिव्य व्यक्तिकम उपस्थित करते हैं वही रतिकराय की रस-अक्ष करने का आत्म-सन्तोष और उत्सुकता भी उसके अंग-अंग से फूटी पड़ती है ।^३ वह मानिनी नायिका है । संक्षेप में, हिन्दी-साहित्य में राधा कृष्ण की शक्ति का प्रतीक होते हुए भी वह अपने कार्य कलाप में पूर्ण रूप से मानवी चिन्तित हुई है । मराठी-काव्य में राधा के स्थान पर क्षिप्ती की महत्त्व मिठा है । दोनों प्रेयों के पक्षों के परस्पर सम्पर्क के परिणामस्वरूप मराठी के कृष्ण-काव्य में राधा का यम-तम सन्तोष हुआ समझ है, पर वह नाम-मात्र के ही लिए ।

१. बानेश्वरी, ६-६९२ ।

२. विवेकानन्द, समय मन्त्र, भाग ५, पृ. २५२ (२८) ।

३. आत्मस्य, भा. ५० सू. ५६ १६९० ।

मराठी काव्य में विद्वत्ताएँ वियोगिनी राधा का ही दूसरा नाम हैं। पर ऐसे सम्बन्ध बहुत ही कम उद्भूत होते हैं और जो हैं भी वे परवर्ती काल से सम्बन्ध हैं। वस्तुतः मराठी कृष्ण काव्य में रुक्मिणी या विद्वत् की रसुपाई को ही विशेष रूप से मान्यता मिली है। मराठी साहित्य में रुक्मिणी-स्वयंवर पर अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। सबसे पुराना रुक्मिण-स्वयंवर महानुभाव पद्य का है। महानुभाव पद्य का प्राकृर्भाव १२वीं-१३वीं शताब्दी में माना जाता है। १२०० वर्ष में महानुभाव पद्य की अनुयायिनी महद्भवा ने सबसे पाए हैं। उसका सबसे रुक्मिणी-स्वयंवर का पहला काव्य है। इसके बाद स्वयं महद्भवा ने ही मातृकी-रुक्मिणी स्वयंवर की रचना की। महद्भवा के पश्चात् नरेन्द्र नृसिंह सत्तोप मुनि कृष्णदास आदि वस-नारद महानुभाव कवियों ने तथा एकनाथ सामराज विद्वत् आदि वस-नारद सनातनी कवियों ने इस विषय को लेकर काव्य रचना की। अविष्कार मछ-कवियों ने भागवत तथा पद्मपुराण का आचार किया है। केवल एकनाथ ने हरिवंश को आचार माना है।^१

मराठी और हिन्दी के कृष्ण-काव्य का विवेचन इस बात को सिद्ध करता है कि दोनों भाषाओं के कृष्ण-काव्य का आचार भागवत और हरिवंश-पुराण होते हुए भी दोनों काव्यों में राधा की कल्पना में महान् अन्तर है। मराठी में केवल रुक्मिणी को आदर्श मान्य और पवित्रता परती के रूप में मान्यता दी गई है और इसलिये उसमें परकीया-वत्स का सर्वथा अभाव अभिव्यक्त होता है। पर हिन्दी में रुक्मिणी की अपेक्षा राधा को ही कृष्ण की विल-सक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। ऐसा क्यों हुआ ? विवेचनया वर्गीक भागवत में राधा का कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। उद्युग में भी उत्सवामा और रुक्मिणी को कृष्ण की पत्नियों के रूप में स्वीकार किया गया है। रुक्मिणी कृष्ण को अधिक प्रिय है। उसका प्रेम आदर्शम हिन्दू पत्नी का शुद्ध प्रेम है। उसमें आत्म-समर्पण का भाव है। उत्सवामा मानिनी है रुक्मिणी के प्रति ईर्ष्या है। वह कृष्ण पर सम्पूर्ण अधिकार चाहती है।

भागवत में राधा का अभाव और हिन्दी कृष्ण-काव्य में उसकी मान्यता मुख्यतः क्या इस बात को सूचित नहीं करती कि जिन परिस्थितियों में हिन्दी के कृष्ण-काव्य की रचना हुई है वे महापद्म की उत्काङ्क्षित परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न थीं ? कई विद्वानों का मत है कि आचार्य बल्लभाचार्य द्वारा बुधवार में कृष्ण-सम्प्रदाय की स्थापना के कारण ही उत्तर में राधा की मान्यता मिली। स्वयं बल्लभाचार्य का अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम राधा भाव का था। वह आश्चर्य था कि पुष्टि-मार्ग के सभी मछ कवि परम्परा-निर्वाह के लिए राधा को स्वीकार करते। वस्तुतः पुष्टि मार्ग के सभी मछ कवि अनिवार्यतः मछ पहले थे। वर्ण का विवेचन करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। इसलिये भी स्वाभाविक था कि वे अपने आराध्य देव के उठी रूप का भुज-गान करते जो उनके सामने उनके मुख में प्रस्तुत किया था। पर वहीं प्रेम का समाधान नहीं हो जाता। बल्लभाचार्य का उत्तर में आकर अपना सम्प्रदाय स्थापित करना भी निषार की अवस्था रहता है। यह सत्य है कि ब्रजमण्डल भवनात् कृष्ण की सीता भूमि या और उसे अपने सम्प्रदाय का कन्द्र बनाना बल्लभाचार्य जैसे एक प्रवर के लिए स्वाभाविक ही था। पर क्या यह भी सत्य नहीं है कि आचार्य बल्लभ ने जिस भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया उसके लिए केवल उत्तर की भूमि ही पर्याप्त थी ? वस्तुतः उत्तर भारत

की तत्कालीन परिस्थितियाँ ही बल्लभ सम्प्रदाय की परिपुष्टि का प्रमुख कारण थीं।

हिन्दी में राधा को परकीया नायिका स्वीकार करके कृष्ण भक्ति में संयोग शृंगार को माप्यता मिली। कृष्ण भक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने कहा है—

अकूर और उद्धव सम्बन्ध जो रूप निवारित किया था वह अश्वत्थ आकर्षक था। वास्तव्य महाराष्ट्र में अमर-गीत और मानुस मान की उपासना में श्रीकृष्ण के शृंगारिक पक्ष की ही का समाव प्रधानता थी। कृष्ण का सौन्दर्य गोपियों का प्रेम कृष्ण और गोपियों का विहार ये विषय बड़ी कृतकता के साथ प्रतिपादित हुए।

किन्तु इन सभी वर्णनों के प्रारम्भ में अनीकिक और आध्यात्मिक तत्त्व सम्मिश्रित थे, सार्वभौमिक आकर्षण के साथ आध्यात्मिक आकर्षण का भी इशारा था किन्तु यह रूप अपने बलकर स्थिर न रह सका। वैयम्य महाराष्ट्र ने माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना करके कृष्ण के सामान्य प्रेम के चित्रण की सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रेम के सार्वभौमिक स्वरूप की प्राप्ति वास्तविक रूप में अधिक दूर तक प्रवाहित न हो सकी। उसके आध्यात्मिक स्वरूप का ब्रह्म सभी भक्तों और कवियों से एक ही रूप में नहीं हो सका। प्रेम के क्षण में प्रेम ही का पठन हुआ और उसमें सार्वभौमिक और वैयम्य आकर्षण की दूधित मग्न हो गई।^१

कृष्ण-भक्ति में परकीयातत्त्व संयोग शृंगार की स्थापना और उसकी पुष्टि के लिए विरोध-शृंगार का प्रतिपादन अनिवार्य-सा हो गया। बिना विरोध के संयोग के आनन्द की तीव्रता का अनुभव नहीं किया जा सकता इस बात को भक्त-कवि पूर्ण रूप से जानते थे। हिन्दी कृष्ण-काम्य में विरोध शृंगार के प्रतिपादन के लिए कृष्ण का मधुरात्मन आचार बिन्दु माना गया। विरोध के उद्दीपन का कार्य अकूर और उद्धव के द्वारा परिपूर्ण होता है। अकूर कृष्ण के भक्त हैं पर कस की आज्ञा से उन्हें कृष्ण को मधुरा से जाने का निन्दुर कार्य करना पड़ता है। कृष्ण को जाने के लिए जाते समय वे सोझापुर हो जाते हैं।^२ इसी प्रकार जब कृष्ण और ब्रह्मराम को रस में भिन्नकर वे मधुरा की ओर बल्लते हैं तो फिर उनका रूप धुल से भर जाता है। वे सोचते हैं कि मैं इनकी बननी का बुझी करक योग गारियों को व्याकुल छोड़कर, नवनीत का धोवन करने वाले अश्वत्थ कोमल बालकों को कुबल, मुष्टिक, चापूर जैसे भवकर बनुओं के पास लिये जाता हूँ। मेरे इस कार्य की निकार है। मैं उसी समय क्यों न मर गया।^३

कृष्ण के मधुरा-मन और अकूर की कथा से विरोध-शृंगार का आरम्भ होता है और उसकी चरम सीमा उद्धव-सम्बन्ध में होती है। उद्धव अकूर की अपेक्षा कृष्ण के अधिक निकट है। वे योग और ज्ञान-मार्ग के समर्थक तथा मिश्रण ब्रह्म के उपासक हैं। उन्हें कृष्ण की चरम की प्रेम-वर्णों से कोई भी शक्ति नहीं है और वे शक्ति-मार्ग द्वारा प्रतिपादित समुद्यो-पासना का अन्त करने के लिए सर्वत्र कटिबद्ध रहते हैं। इसीलिए कृष्ण उन्हें 'मुरग सपा

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ११५।

२ अर सप्तम (देवटेरा में से), पृ० ४३५-४६।

३ अर सप्तम, डॉ० अनेकर वर्मा, पृ० ४४६।

और निपट होगी बंग' समझते हैं। कव्य के कहने पर ये त्रययामिनियों को निमृग ब्रह्म की उपासना का सम्यक् सुनाते के लिए जाते हैं पर गोपियों के सर्क से परावृत्त होकर उन्हीं के रंग में रंगे बापल मधुरा लीट जाते हैं। उदय और गोपियों का संवाद हिन्दी-साहित्य में अमर-गीत के नाम से प्रसिद्ध है। अमर-गीत के प्रसंग का वर्णन समग्र सभी कव्य भक्त कवियों ने किया है, पर अमर-गीत की रचना सूरदास ने सबसे अधिक विस्तार और तन्मयता के साथ की है। अपनी इस कथा का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए 'उदय जागमग हैतु' शीर्षक से वे बताते हैं कि श्रीकव्य को जब ब्रज की यात्रा आई तब उन्हीं उदय को ब्रज भिखने का विचार किया। अमर-गीत के आरम्भ में ही सूरदास सबसे पहले उदय के जाने का समाचार सखी द्वारा पद्या को ही दिखाते हैं। बिछ्छू में गोपियों का प्रेम स्थिरता प्राप्त कर चुका है, उदय आकर उसे चंचल कर देते हैं परन्तु यह चंचलता दागभंगुर है। गोपियों के गम्भीर प्रेम का परिचय पाकर उदय अपना समस्त ज्ञान झुल जाते हैं और निमृग का उपदेश छोड़ कर सगुन के चरे बन जाते हैं।^१ अमर-गीत की योजना में कव्य भक्त कवियों ने बिरहिणी ब्रजामताओं के हृदय की भावनाओं का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया है। अमर-गीत एक और बिरही हृदय का मार्मिक वर्णन करता है तो दूसरी ओर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रोत्साहित करता है। कव्य भक्ति-मार्ग के हिन्दी कवियों की बिछ्छू-व्यवस्था में अछूर और उदय वस्तुतः दो सोपान हैं। एक बिछ्छू का बातावरण निर्माण करने में सहायक सिद्ध होता है और दूसरा वियोग की व्यथना करने के लिए कारण बनता है।

मराठी में अमर-गीत का सर्वथा समाप्त है। यद्यपि अछूर और उदय दोनों पीरा युक्त व्यक्ति हैं और कव्य-कथा में इन दोनों का ही उल्लेख हुआ है। तथापि मराठी कव्य भक्त कवियों ने बिछ्छू-वर्णन के लिए इन दोनों का उपयोग नहीं किया क्योंकि बिछ्छू-वर्णन करना उन्हें असीम नहीं था। इतना ही नहीं मराठी में कव्य की मधुरा भक्ति को आरम्भ से ही मान्यता नहीं मिली। मराठी के कृष्ण काव्य का मुख्य आधार भावभक्त का एकादश स्कन्ध महाभाष्य तथा गीता ही रहा है। हिन्दी-कवियों की भाँति मराठी-कवियों ने भावभक्त के वराम् स्कन्ध से ही अपने काव्य की प्रेरणा नहीं ली।

मुरली कव्य के रूप-सौन्दर्य का एक अमिश्र बंग है। हिन्दी के कव्य भक्त कवियों ने मुरली का विषय वर्णन किया है। कव्य के प्रति सखाओं तथा गोपियों की जातकित दोनों मुरली के व्यापक प्रभाव से ओतप्रोत हैं। वस्तुतः कव्य-मुरली-गीत और उसका चरित के सम्पूर्ण काव्य में मुरली की छोड़-छोटाकारव्यापी रहस्य बराबर पर प्रभाव मयी चमत्कारित विद्यमान रहती है। हरि वय मधर पर मुरली धरते हैं तो स्मर चमके लगते हैं चर स्मर हो जाते हैं वयन चकित हो जाता है जमुना का बल-प्रवाह बल जाता है, दल मोह जाते हैं मृग-मूष भूक जाते हैं पशु मोहित हो जाते हैं गायें विमर्शित होकर मूँह में लून बहाए रह जाती हैं। शुक-सनकादि सकल मुनि मोहित हो जाते हैं उनका ध्यान नहीं लगता।^२ मुरली की चमत्कार से चिड़ों की समाधि भंग हो जाती है। यह है मुरली का व्यापक प्रभाव। बड़ बर्ष

१ ललित (वे० प्रे.), पृ. ३५३।

२ श्री, पर १२१०।

नेशन, पूर्व-नेशन सभी उसके हृदयाङ्गायक प्राथम्यपूर्ण, मनोहारी नाव से आगमिष्ठ हो उठते हैं। मुरली की धून धुनकर ब्रह्मांगमार्ग अपनी सुष-मुष भूक जाती हैं। पपीहे टेरने कपटे हैं, कोकिलें कूटने कनरी हैं और मोर नाचने समये हैं। मुरली का स्वर अध्यात्म-सौम्य में क्या है? कुछ विद्वानों ने मुरली ध्वनि को शब्द-ब्रह्म माना है।^१ जिस प्रकार ब्रह्म सर्व व्यापी है उसी प्रकार उसकी बाणी भी सर्वव्यापी है। जस मुरली ध्वनि परब्रह्म का शब्द रूप है। कई विद्वानों ने इसे नाम-सीला का रूप दिया है क्योंकि मन्त्र नाम का बाप करते समय जिस ध्वनि का अपने अन्त-स्तक में व्यवसाय करता है वही तो बंसी-ध्वनि है। हठयोग में कुण्डलिनी शक्ति के प्राप्ति होने पर जो स्फोट और नाव होता है और जो नाव ब्रह्माब्ध धर में पूँवता हुआ सुनार पड़ता है वह भी बंसी की ही ध्वनि है। बंसी को कहीं-कहीं मोय-माया के रूप में देखा गया है, जो प्रभु की अपरा-शक्ति की पर्याय है। श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग वहीं से आरम्भ होते हैं।^२ वैष्णव आचार्यों ने मुरली की व्याख्या इस प्रकार की है। वैष्णु में तीन अक्षर हैं—ब × र × म्। 'ब' ब्रह्म-मुक्त का योगक है, 'र' सांसारिक सुख को प्रमट करती है इन दोनों प्रकार के सुखों को जो 'म्' अर्थात् प्राप्त करने वाली है वह है वैष्णु। ब्रह्मभार्या वैष्णवाय का निकषय करते हुए पड़ते हैं—जब मन्त्र को प्रभु का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है तब उसके सामने बंसी बनने लगती है।^३

हिन्दी कृष्ण-काम्य में श्रीकृष्ण का स्वरूप मुख्यतः मोहन है। इस मोहन-स्वरूप का मुरली एक आवश्यक अंग है। रास-लीला एवं अन्य केसि-लीलाओं के लिए मुरली ही गोपि काओं का आवाहन करती है, उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करती है। इस प्रकार शक्ति के क्षेत्र में संयोग और विरोग-भुंजार श्री बोकला में मुरली वह बलीतिक साधन ठिठ होती है जो बेच, लोक और कृष्ण की मर्दास से गोपियों को मुरत करके कृष्ण के अमीन कर देता है और साथ ही उनके इस व्यवहार को बलीतिक स्वरूप भी प्रशान करता है। गोपियाँ मुरली की सम्मोहन ध्वनि के कारण ही अपनी सुष-मुष भूक जाती हैं और इस बारम-बिस्मृति के लिए वे स्वयं उत्तरदायी नहीं हैं, मुरली उत्तरदायी है। बात आत्म-विमोह रसा में वे मर्दास का अलंभन करके जो भी कार्य करती हैं उसके लिए एकमात्र कारण मुरली है। यह सब है कि मुरली कृष्ण की सहचरी है, कृष्ण मुरली-बादन में प्रवीण हैं, पर फिर भी मुरली-बादन और उसके प्रभाव को जितनी महत्ता हिन्दी-काम्य में दी गई है उतनी मराठी में नहीं। मराठी काम्य में भी मुरली की मोहकता का पर्याप्त वर्णन हुआ है पर वह कृष्ण चरित के एक आवश्यक अंग के रूप में ही हुआ है। उसे विस्तार प्राप्त नहीं हो सका है क्योंकि मराठी भक्त-कवि जितने श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित शारीरिक सिद्धान्तों से प्रभावित हुए, उतने मुरली-बादन या उनकी केसि-लीलाओं से नहीं।

१ अथर्वसं 'उप-वैश्वामनी' के कथ्य अध्याय में लिखे हैं—

एव सीमी पर जगत योग भावासी मुरली, ध्वनि कन्या पदुर पदुर मयन हर मुरली, बाकी ध्वनि से नियम ध्वन्य प्रपथि वर जगत् । कर मय की बाधि पादनी सब सुप्त समर ।

२ मरतन पाक्य और सर सादित डॉ० सुमतिराम शर्मा पृ० १८६ ।

३ 'पद्य पद्य सुषा भिन्नवर्तुने शीघ्र मर' वाक्ये । —दीनरामभाषा । स्कन्ध १० पृ० २१ अ० २१ वैष्णव-लोक ३ का सुमेरिनी भाष्य ।

कृष्ण के अन्य रूप

✓ हिन्दी कृष्ण-काव्य में कृष्ण का मनोहारी छोक-रंजक रूप अधिक विधित हुआ है। इस बिनांकन में परम्परागत उनकी मसीहिक सीखायों का भी यथ-तथ वर्णन हुआ है पर जितना विस्तार और मार्मिकता उनके मनमोहन रूप-वर्णन को द्वारिकाधीश भगुन प्राप्त हुई है उतनी उनके धीरे-वर्णन को नहीं। इतना ही नहीं, सारथी श्रोतरी का भाई कृष्ण के परम्परागत अन्य रूपों को कृष्ण भक्त कवियों ने अपने महामारुत के कृष्ण वर्णन का विषय नहीं बनाया। कदाचित् इसलिये कि भक्त होने के कारण वे उनकी का माधुरी के रस से ही सिक्त होना चाहते थे और "मीसिए" उन्होंने कृष्ण के द्वारिकाधीश सारथी श्रोतरी का चाई तथा महामारुत में वर्णित रूपों को अपने गुण-मान का विषय नहीं बनाया। उनके कृष्ण लक्ष्म-लक्ष्मण, योगेश्वर, रघु-विरोचन, रघु-नाथ, राधावल्लभ, गोपी-वल्लभ, मिठुर, गीरस कृष्ण हैं। इस दृष्टि से हिन्दी का कृष्ण काव्य, कृष्ण चरित्र के केवल एक ही पक्ष को लेकर विकसित हुआ है। इस विकास में भी भक्तों की निजी रूचि और भावना प्रधान रही है और कृष्ण-चरित्र की परम्परा और चरित्र का व्यापकत्व यों। पर भराठी का कृष्ण चरित्र-चित्रण के इस ढंग से मुक्त रहा है। भराठी के भक्त-कवियों ने अपने काव्य में कृष्ण के समग्र व्यक्तित्व को स्वीकार किया है। कृष्ण का दार्शनिक दृष्टिकोण उनका पराक्रम उनकी भीति उनकी घालीनता इन सबमे भराठी कवियों ने प्रेरणा ली है और काव्य का सुजन करके परम्परा को बनाए रखा है। इसी प्रकार भक्त और ईश्वर का परस्पर सम्बन्ध बड़ी ही मर्मिकता से श्रोतरी और कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध में चित्रित होता है। श्रोतरी-वत्स-हृदय की रक्षा को लेकर सबभग प्रत्येक भराठी भक्त-कवि ने भगवान् की भक्त-वत्सलता का तथा शरणागत की रक्षा का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। भराठी कृष्ण गीता-भेदा और गोपे श्वर होकर भी घालीनता की भूति है। वे छोटे-से-छोटा काम करने में भी संकोच नहीं करते। जब भोजन का आयोजन होता है तब बूढ़ी पत्तलें सजाने का कार्य भार भी वे स्वयं ही स्वीकार करते हैं। महामारुत के मुँह में वे भगुन के सारथी बन जाते हैं। सारथी का कार्य करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता।

कृष्ण के चरित्र चित्रण के लिए हिन्दी और भराठी—दोनों भाषाओं के भक्त कवियों ने भाषागत से ही प्रेरणा ली है हिन्दी कृष्ण-कवियों ने भाषागत के दधम् स्कन्ध से और भराठी-कवियों ने एकादश स्कन्ध से। दधम् स्कन्ध से भराठी कृष्ण का चरित्र चित्रण कवियों ने केवल कृष्ण की बाह-सीलाई ली है। भाषागत के दधम् स्कन्ध के साथ-साथ हिन्दी-कवियों ने अन्य पुरुषों में वर्णित कृष्ण

कर्म-योग को माना। अन्य भाषाओं में जिस कर्म-योग का उपदेश दिया या वह किया योग भक्त्य पूजनादि में परिवर्तित हो गया, पर महाराष्ट्र ने अधिकतर गीता के निष्काम कर्म योग का ही कुछ रूप से उपदेश दिया है। गीता एक उपनिषद् में बर्णित जो निष्काम कर्म योग मराठी संतों के सम्मुख था वह उनके काव्य में ठीक वैसा ही उतरा है। 'वधम् स्वप्न पर प्राप्य सिद्धते समय भी एकताय धीना के निष्काम कर्म-योग को नहीं भूले और इसीलिए ध्वनित्र एवं समाज के सर्वांगीण विकास की ओर जितना ध्यान मराठी भक्त-कवियों ने दिया उतना अन्य किसी भी प्रांत के भक्ति-सम्प्रदाय ने नहीं दिया।^१ इस विशिष्ट दृष्टि के कारण ही महाराष्ट्र में कर्म-समय के प्रति विशेष कर से आग्रह दृष्टियोग्य होती है। मराठी भक्त-कवियों का उद्देश्य समाज को केवल भक्ति का उपदेश देना ही न था। अतः ज्ञानेश्वर से तुकाराम तक सभी ने अपने काव्य में कर्म-संस्थापना का उद्देश्य धारण रखा है।

हिन्दी-भक्त कवियों का दृष्टिकोण किंचित् भिन्न रहा है। उन्होंने अपने काव्य का ध्यान या तो स्वात्म सुखाम किया है या आचार्यों के निर्देशन में लोकोत्थान के लिए। काव्य के वे दोनों प्रकार क्रमशः घोरा तथा अष्टछाप के कवियों की कृतिओं में मिलते हैं। अष्टछाप के कवि वस्तुतः भक्त-कवि थे। उनमें ज्ञान के प्रति सतनी जिज्ञासा नहीं थी बितनी भाव की विह्वलता थी। वे सब आचार्य ब्रह्म के दार्शनिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अष्टछाप की स्थापना करने में भी स्वामी विठ्ठलनाथ का उद्देश्य भगवत्पूजन द्वारा लोकसुखन करना था। अतः इन सब कवियों ने पुष्टि-आर्म के मन्दिरों में कीर्तन करने के लिए ही अपने पद गाये थे। उनका काव्य भाव भूमि पर ही आधारित था उनके दार्शनिकता का घुट नहीं निकल सका। परिणाम यह हुआ कि भक्तों के साम भाव की उत्कटता विरोधित हो गई और जनता के हाथों में भक्तों द्वारा वर्णित भगवान् की केकि-कीड़ाएँ अपने लौकिक रूप में उतर आईं।

मराठी और हिन्दी के कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों की इस आधारभूत विभिन्नता के कारण ही कृष्ण विषय उनकी मान्यताओं में भी अन्तर था। गीता के कृष्ण पूर्ण परब्रह्म होते हुए भी गीता ने उन्हें पति के रूप में देखा और पति-पारयणा वाली-हृदय की उत्कट भावानुभूति को अपने पदों में व्यक्त किया। अष्टछाप के कवि साम्प्रदायिकता से बच होने के कारण तथा उनके काव्य का हेतु भक्ति में भगवान् का सुख-मात्र होने के कारण उन्होंने अपने लौकिक आराध्य का लौकिक चित्र ही प्रस्तुत किया। हिन्दी के कृष्ण और बिदेयत सूरदास के कृष्ण भागवत के कृष्ण होते हुए भी उनके अपने कृष्ण हैं। वे सम्पूर्ण मानवीय रूप में चित्रित हुए हैं पर साथ ही कवि स्वयं-स्वात पर उनके लौकिक रूप का भी स्मरण करता रहा है। इस चित्रण में भागवत की भाँति कृष्ण का चतुर्भुज अवतार-रूप नहीं है।^२ भागवत में राधा का सर्वथा अभाव है पर अष्टछाप के कवियों ने अपने सम्प्रदाय की उद्देश्य-पूर्ति के लिए राधा को भी स्वीकार किया है। स्वयं सूरदास ने राधा को पुरुष की प्रकृति माना है। वे कहते हैं—

भक्ति पुण्य धीपति सीतपति अनुकम कया सुनारै ।

सूर हसी रस रीति रयाम सो तै बजबसि बिसरारै ॥^३

१ भाषाभाषाण भर्ते, भावर पुस्तकालय १० १९११।

२ सूर और भक्त-साहित्य डॉ. हरदत्तभाऊ दास, पृ. १४१।

३ सूरदास (भा० प्र. ३) पर ३४६४।

जगहि बसे प्राप्तिहि बिसरामो ।

प्रकृति पुन्य एकहि करिजानो बातनि भिन्न करामो ॥^१

प्रकृति पुन्य नारी में वे पति कहें भुल गई ।^२

सूरदास ने कृष्ण को साक्षात् ब्रह्म के रूप में ही माना है—

बलबादी पटतर कोउ नाहीं ।

ब्रह्म सनक शिव ध्यान न पावत, इगळी कुठनि जे से जाहि ॥

बन्ध नंब जनि जननि मसीहा बन्ध कहीं प्रवतार कन्हाई ।

बन्ध-बन्ध बुध्वात्मन के तब कहें बिहृत निधुवन के राई ॥^३

पर अनेक स्थानों पर उन्होंने बिष्णु को ही महत्ता प्रदान की है। मराठी भक्त-कवियों ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म माना है तथा अपने सम्पूर्ण काव्य में अपने आराध्य के इस रूप को तनिक भी ओसल नहीं होने दिया। मराठी के कृष्ण भागवत की भाँति वास्तव-भक्ति के आसम्भन विधित हुए हैं। सत्य और वास्तव्य को लेकर भी पर्याप्त अर्थों की रचना हुई है परन्तु अधिक दस वास्तव्य भाव पर ही दिया गया है। पर सूरदास तथा अण्छाप के अन्य कवियों ने सत्य वास्तव्य और मधुर भावों को ही अधिक महत्त्व दिया है। 'सूर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निश्चय हुआ है और उनमें मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि उसमें अलौकिक रूप डेक-सा जाता है। सूरदास के काव्य में भक्तान् कृष्ण का अनुग्रह भक्तवत्सलता के रूप में प्रकट न होकर प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है। वही कारण है कि यहाँ मनवत्कृपा के उल्लेख गीन-से प्रतीत होते हैं। सूर ने कृष्ण के लौकिक सम्बन्धों को लौकिक रूप ही दिया है।^४ सूर के कृष्ण न केवल काव्य के प्रधान नायक हैं परन्तु कवि के इष्टदेव भी हैं। उनके स्वभाव की यह विशेषता है कि उन्हें जो दिव्य भाव से भरता है उसे वे उसी भाव से प्राप्त होते हैं। फलतः भक्ति-भाव की विविधता के अनुरूप उनका व्यक्तित्व भी बहुधा में प्रकट हुआ—वास्तव भाव के आसम्भन कृष्ण पतित-पावन कल्याणमय मन्त्र-वरदा है। वास्तव्य-भाव के आसम्भन कृष्ण एक अनुपम सोभासायी मनीष-सिन्धु एवं मुकुमार, मनोहर श्रीरामचरणस्य घुट बाळक हैं। ब्रज की सम्पूर्ण लीला में वे मन्त्र मधोरा तथा वास्तव्य भाव के आश्रय स्वजन परिवर्तों को निरन्तर इसी रूप में अपने विविध भाव-कीर्तियों से सुल बेते हैं। राजाओं के समस्त बाळ और पौमण्ड कृष्ण भिन्न सुहृद् सहचर, सहायक और हृदयरंजक हैं। कृष्ण का अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण रूप मधुर रति का आसम्भन है। इस रूप में कृष्ण राधा के प्रेम के आसम्भन और आश्रय तथा पौरी-प्रेम के आसम्भन हैं।^५

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-काव्य में कृष्ण का परम्परागत स्वरूप राधा और गोपियों के परकीया तत्त्व एवं मधुर रति भाव के कारण लौकिक बराबर पर उतर आया पर मराठी काव्य में पुरानी परम्परा निर्वाच गति से यही रही।

१ सूरदास, भा ॥ ३ पृ २६०, १।

२ अ. ५२ पृ २३ ६।

मानदेव एकनाथ बाबि के कृष्ण परब्रह्म-रूप हैं। वे रस के सागर हैं, भक्त-नस्सह हैं तरबज हैं घूर हैं, मोति-निपुत्र और राजनीति-विचारर हैं। एकनाथ नामदेव और तुकाराम ने भी वही कृष्ण-मोपी प्रेम की चर्चा की है वहाँ भी वे कृष्ण के परब्रह्म-रूप को नहीं भूले हैं। एकनाथ कहते हैं—

केये भी कीडे आसभारासु । तेव केयी रिये बाजुआ कामु ।

माझे कामें योगिका निष्कामु । काम संभरु त्यों नाहीं ॥

जो कोनो स्मरे माझे नामु । सिक्के पातूँ न छके कामु ।

तेव भी ऐसे पुछोतसु । तेव कामकर्म रितेना ॥^१

अर्थात्—

कृष्ण के सहवास में प्रत्यक्ष काम भी निष्काम बन जाता है फिर भया मोपियों को काम की वामा नींसे हो सकती है। इसी प्रकार मानदेव का एक अर्थय वैलिये—

अन्ध तथा योगिका अन्ध त्वाये पुष्प ।

भोकिताती कृष्ण पुनब्रह्म ॥

नामा भूयें होय कापाची तैं पूर्वी ।

अम्हे पीर्यभ्युति गोविंदाची ॥^२

अर्थात्, योगिकाओं का काम कृष्ण ने धात किया पर शारीरिक क्रिया से नहीं क्योंकि इस काम-साधि में योगिन्त्र की 'बीर्यभ्युति' नहीं हुई। नरेन्द्र के ब्रह्मिणी-स्वयंवर के कृष्ण भी ईश्वर-रूप सावर्ण पुष्प और पति-रूप हैं। 'शिशुपाल-वध' के रचयिता भास्कर मट्ट ने भी कृष्ण का वही रूप अपने सम्मुख रखा है। 'शिशुपाल-वध' शृंगार-अमान ग्रन्थ है पर शृंगार का आशय कवि ने अपने तरब-निरूपण के लिए ही रिया है। अतः शृंगार का मयेष्ट वर्जन करते हुए भी कवि का कृष्ण-चरित्र चित्रण शौकिकता के रंग में नहीं रंगा है।

'वत्सहृदय' के रचयिता बानोदर पंडित के कृष्ण भी सात रस के ही बहिष्कृतता हैं। कृष्ण के चरित्र-चित्रण की इसी परम्परा का पाठन बामन पंडित बीबर, मोरोपंत आदि ने भी किया है।

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध अनादि-काल से चलन वा रहा है। इस अनादि सम्बन्ध के कारण ही समुच्च की रागारिमका वृत्ति अदैव समय रही है। पं० रामचन्द्र धुसक ने कहा है—

प्रकृति-वर्जित का विच्छेद करने से जाने मानव की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए समुच्च को जिस प्रकार विसृष्ट और

अनेककारणक क्षेत्र मिलता है उसी प्रकार मानों की व्याप्ति के लिए भी।^३ 'कविता की आत्मा प्राण है और मानों का परिष्कार प्रकृति के विविध कर्णों तथा व्यापारों के साथ साम्य बल्य होने पर ही सम्भव है।'^४ इसीलिए काव्य में प्रकृति वा चित्रण अनुराग ही हो जाय

१ एकनाथी मंत्राल, १२ ५४-५५ ।

२ अनेकताया (आर्कट), भाष्य, १५१८ ।

३ विष्णुवि हृतय पद्य ५ ५ ।

४ हर और कला साहित्य, डॉ० हरकृष्णदास शर्मा, पृ० ५१४ ।

है। कवियों की विभिन्न प्रवृत्तियों गिरीशानों बधियों तथा अनुसृष्टियों के कारण प्रकृति का चित्रण भी अनेक प्रकार से हुआ है। प्रकृति चित्रण को दो मुख्य विभागों में बाँटा जा सकता है—भालम्बन के रूप में और उद्दीपन के रूप में। संस्कृत के कवियों ने प्रकृति का चित्रण इन दोनों रूपों में किया है। काकिल्यास के रघुवंशम् और 'कुमारसम्भवम्' में प्रकृति का सुन्दर वर्णन हुआ है। 'मेघदूतम्' का 'पूर्वमेव' तो उत्तर भारत का सजीव प्राकृतिक चित्र ही है। उत्तरकाशीन संस्कृत साहित्य में प्रकृति का उद्दीपन-रूप में अधिक चित्रण हुआ है और अनेक प्रवृत्तियों के साथ हिन्दी और मराठी ने यह प्रवृत्ति भी संस्कृत से ही ग्रहण की है। हिन्दी में कृष्ण मत्त कवियों के पहले प्रेम-मार्गी कवियों ने एक ओर प्रकृति में परमात्मा की उद्भूतमय सत्ता का वर्णन किया है और दूसरी ओर मौनिक रूप-वर्णन में प्रकृति के व्यापारों को उद्दीपन रूप में सहज किया है।

सूरदास के कृष्ण हज में जबलरित हुए थे तथा उनके व्यक्तित्व का विकास भी प्रकृति की ही गोद में हुआ था। प्रकृति का उन्मुख क्षेत्र ही उनकी बास-लीलाओं तथा नैलि लीलाओं का रंगस्थल था। गो-चारण असुर-बध गोवर्धन धारण रास-लीला तथा राधा और गोपियों के साथ घटि लीलाएँ ये सब प्रकृति की गोद में ही सम्पन्न हुई थीं। कव्य के मूल करीक के निरुद्ध और काकिल्यास कलारों का कृष्ण परिवे से मट्ट सम्बन्ध है। साथ ही हज भूमि कवि की अपनी भूमि थी। कवि के प्रत्येक परमाश्रु में प्रकृति-सत्त्व व्याप्त था। कवि कहता है—

कहाँ सुक बज की सी संसार ।

कहाँ सुकर बसीबठ बसुना, यह नन सदा बिचार ।

कहाँ बन बाम कहीं राधा संग, कहीं संघ बज बाम ।

कहाँ रस रास बीच भस्तर सुक कहीं नारि तन ताम ।

कहीं नटा लक-लक प्रति बलनि कुल-कुल नव ताम ।

कहीं विरह सुक बिन पीपिन संग सूर पयाम नन काम ।^१

सूरदास ने प्रकृति की गोद में विचारण करने वाले गोपाध-कृष्ण को ही अपने काव्य का नामक बनाया है। उनके आराध्य गीता के योगेश्वर कृष्ण अथवा महाभारत के राज नीति-विचारक कृष्ण नहीं हैं। सत्य तो यह है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का प्रकृति से हटना अनिष्ट सम्भव है कि प्रकृति-वर्णन के बिना राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं एवं व्यापारों का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। इसीलिए सूरदास को अपने गायक कृष्ण के जीवन के साथ समुदा करम कृष्ण ऋतु-परिवर्तन वातानुकूल और न जाने प्रकृति के कितने अंग मूल देने पड़े।^२ हज की प्रकृति से उन्हें केवल उपमाओं और उल्लेखों के लिए ही घामपी नहीं दी बल्कि यह उनके काव्य के क्षेत्र में भी प्रतिष्ठित हो गई है।^३ सूरदास के सभी पात्र प्रकृतिमय हैं। कृष्ण के वियोग में गोपियों की ही भाँति प्रकृति भी पूर्ण वियोग का अनुभव करती है और संयोग में पूर्ण संयोग का। सूर के पात्रों की मनोबलाओं के वर्णन में प्रकृति

१ सूरदास (समा) पृष्ठ ४५५ ।

२ सूरदास की भूमिका डॉ रामरत्न भट्टाचार्य, पृष्ठ २१० ।

३ कवि, पृष्ठ २११ ।

के विभिन्न रूप और व्यापारों का भी अन्वेषण ही समावेश हो गया है । कहीं-कहीं आत्मन्यन रूप में भी प्रकृति का वर्णन हुआ है—

बिरई पुहपुहागी, और की अप्सिति पुरानी
रजनी बिहानी, प्राची पियरी प्रवान की ।
छारिका कुराई, तम घड़्यो तमकुर बोले,
जवन मनक परी ललितता के तान की ।
भृष मिले धारवा, बिछुरी ओरी लोह मिले,
उतारी पनब घब कान के कमान की ।
प्रबलत आए शुह, बहुरि उलत मानु
उठो मानवाब महा जान मनि जानकी ।^१

दूसरा पद देखिए—

जायिए बबराज कुँवर, कमल-कुसुम फुले ।
कुम्ह-कुम्ह संकुचित भये, सुय लता धुले ।
तमकुर कय रोर सुनहु जोलन करवाई ।
रौमति गो करिकनि में, बछरा हित घाई ।
बिधु बलीन, रवि प्रकास पावत गर भारी ।
सुर त्याग प्राप्त उठी, सम्पुन कर घारी ।^२

इसी प्रकार दोनों के उमड़-कुमड़कर बिरले का वर्णन निम्नलिखित पद में हुआ है—

भायो महा बेह धिरी भायो ।
पर को गाइ बहोरी मोहन, व्यालनि डेरि धुनायो ।
कारी घटा कुसुम वैलियत, अति पति पवन बलामी ।
बारों विला चिते किन बैलहु, बामिनि कौंसा लामी ।
अति जनस्वाम सुवेस धूर-अधु, कर यहि सैल उठायी ।
राजे मुको सकल बजबासी, सुरपति बरब नवायी ।^३

दावानल का भी कवि ने बड़ा ही सजीब वर्णन किया है । दावानल का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

कंसि लं जरिहैं री दिन सावन के ।
हुरित धुमि और सलिल सरीबर, निहे जग मोहन भावन के ।
बाहुर मोर सोर भासक पिक, सुही निजा सिरावन के ।
परब कहें घन धुमहि बामिनी, नवन धनुष पर भावन के ।
पहिरि कुसुम छारी कंबुकि तन, भु रनि भु रनि पावन के ।
सुरदास-अधु कुसह घटत क्यों लोक जिगुन सिर रावन के ।^४

१ सुरदास (समा) पर १३१७ ।

२ वरी. पर २० ।

३ वरी. पर १४४ ।

४ सुरदास (समा) पर १३१४ ।

है। कवियों की विभिन्न प्रकृतियों निरीक्षणों बर्णियों तथा अनुभूतियों के कारण प्रकृति का चित्रण भी अनेक प्रकार से हुआ है। प्रकृति चित्रण को दो मुख्य विभागों में बाँटा जा सकता है—वाचस्पत्य के रूप में और उद्गीर्णन के रूप में। संस्कृत के कवियों ने प्रकृति का चित्रण इन दोनों रूपों में किया है। काशिकाश ने 'रघुर्वंशम्' और कुमारसम्भवम् में प्रकृति का सुन्दर वर्णन किया है। 'मेघदूतम्' का पूर्वमेघ छंद उत्तर भारत का समीप प्राकृतिक चित्र ही है। उत्तरकाशीन संस्कृत साहित्य में प्रकृति का उद्गीर्णन रूप में अधिक चित्रण हुआ है और अनेक प्रकृतियों के साथ हिन्दी और मराठी ने यह प्रकृति भी संस्कृत से ही ग्रहण की है। हिन्दी में कृष्ण मठ कवियों के पहले प्रेम-मार्गी बर्णियों ने एक ओर प्रकृति में परमात्मा की रसमय सत्ता का वर्णन किया है और दूसरी ओर मौलिक रूप-वर्णन में प्रकृति के व्यापारों को उद्गीर्णन रूप में ग्रहण किया है।

सूरदास के कृष्ण ब्रज में अवतरित हुए थे तथा उनके व्यक्तित्व का विकास भी प्रकृति की ही गोद में हुआ था। प्रकृति का उन्मुख होने ही उनकी वाच-स्तीलाओं तथा केछि मीठाओं का रसस्वरूप था। गो चारण असुर-वध गोवर्धन चारण रास-लीला तथा राधा और मोपियों के साथ रति मीठाई, ये सब प्रकृति की गोद में ही सम्पन्न हुईं थीं। कदम्ब के फूल फीके के निकुंज और काञ्चिन्दी कद्वारों का कृष्ण चरित से बहुत सम्बन्ध है। साथ ही ब्रज-भूमि कवि की अपनी भूमि थी। कवि के प्रत्येक परमाणु में प्रकृति-रस व्याप्त था। कवि कहता है—

कहाँ सुख ब्रज की सी संसार ।

कहाँ सुख कसीकट जमुना यह मन सब विचार ।

कहाँ बन बाम कहीं राधा संग, कहीं सब ब्रज बाम ।

कहीं रस रास बीच भग्नर सुख कहीं नारि लग लग ।

कहीं लता लक-लक प्रति फुलनि कुंक-कुंक नव बाम ।

कहीं बिरह सुख भिन पोषिन सग सुर रसम नव काम ।^१

सूरदास ने प्रकृति की गोद में विचरण करने वाले गोपास-कृष्ण को ही अपने काव्य का नायक बनाया है। उनके व्याख्या पीठा के योगेश्वर कृष्ण अथवा महामास के राज नीति-विचारक कृष्ण नहीं हैं। सत्य तो यह है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-स्तीलाओं का प्रकृति से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रकृति-वर्णन के बिना राधा-कृष्ण की प्रेम-स्तीलाओं का व्यापारों का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। इसीलिए सूरदास को अपने नायक कृष्ण के जीवन के साथ जमुना कदम्ब कुंक-पुष्प-परिवर्तन वाचानक और न जाने प्रकृति के कितने बंग रूख देने पड़े।^२ ब्रज की प्रकृति ने उन्हें बेचस उपमाओं और उल्लेखों के लिए ही सामग्री नहीं दी बल्कि वह उनके काव्य के नेत्र में भी प्रतिष्ठित हो गई है।^३ सूरदास के सभी पात्र प्रकृतिमय हैं। कृष्ण के विषय में मोपियों की ही भाँति प्रकृति भी पूर्ण विषय का अनुभव करती है और संयोग में पूर्ण संयोग का। भूर के पानों की मनोबलाओं के वर्णन में प्रकृति

१ सूरदास (सद्य) पृ. ४ इ. ४।

२ सूरदास की भूमिका डॉ. रामरत्न भट्टाकर, पृ. ११०।

३ कवि, १, २११।

के विभिन्न रूप और व्यापारों का भी समावेश ही समावेश हो गया है। कहीं-कहीं आत्मन्य रूप में भी प्रकृति का वर्णन हुआ है—

बिरहं बृहद्बृहन्नी, बरि की ज्योति पुरानी
रजनी बिहानी, प्राची पियरी प्रवान की।
तारिका बुरागा, तम भङ्गी, तमबुर बोले,
सवन भनक परी ललिता के तान की।
बृ न मिले भारवा, बिधुरी बोरी बोक मिले
उतरी पनच दस काय के कमान की।
प्रवक्त धाए बृह, बहुरि उस्त मानु
उछे प्राप्ताव महा जान मनि जानकी।^१

दूसरा पद देखिए—

जागिए, बजराम कुंवर, कमल-कुसुम फूले।
कुसुम-कुण्ड संकुचित भये, मृग जाता सुने।
तमबुर छग रोर चुनहु बोलत बनराई।
राजति वो करिकनि में, बहुरा हित भाई।
बिधु भलीन रवि प्रकाश दासत नर नारी।
सुर स्वाम प्रस जडो, सम्मुख कर नारी।^२

इसी प्रकार मैत्री के उमड़-कुमड़कर मिलने का वर्णन निम्नलिखित पद में हुआ है—

पावो महा मेहु धिरी पावो।
पर की बाह बहोटी बौहन, आरुनि डेरि लुनायो।
काटी बटा सुखुम देखियत, अति मति पवन जमावो।
बारों विसा बिते किन बैकहु, दामिनि कीया लावो।
अति बनस्वाम सुदेस सुर-प्रभु, कर महि लैन बढायो।
राके मुखी सकल बजवासी, सुरपति मरन नवायो।^३

बाधानक का भी कवि ने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। वादन का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

कंठे के भरिहीं री रिक्त साधन के।
हृष्टि धुमि परे सलिल सरीवर, मिटे मय बौहन दाधन के।
राकुर मोर सोर कातक पिक, सुही जिता तिरावन के।
परत बहूँ वन धुमाड़ि दामिनी मदन मनुष्य पर दाधन के।
बहिरि कुसुम सारो कङ्किक तन, नु डमि नु डमि दाधन के।
सुररास-प्रभु कुलह प्रवत क्यों लोक विधुन तिर राधन के।^४

१ सुरदास (सम्प) पद २६१७।

२ वरी, पद ५२०।

३ वरी, पद १५२६।

४ सुरदास (सम्प) पद ३३३४।

इसी प्रकार सूरदास के काव्य में चरख आदि अनुसूक्तों का भी बड़ा ही सुन्दर रूप प्रकट होता है।

सूर का प्रकृति-वर्णन यद्यपि उद्दीपन-रूप में ही होता है तथापि वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें वह मनोरंजन के लिये मानव को सर्व की संकुचित परिधि से निकालकर विश्व के पदार्थ-मात्र से तादात्म्य स्थापित करने के योग्य बनाती है और प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में प्रायः प्रतिष्ठा कर उन्हें मानव का अनुभूतिशील हृदय प्रदीप्त करती है। उसी से कृष्ण के विमोचन में कामिनी की ऐसी बधा हो जाती है कि वह बिरहिणी योपियों की उपमान बन जाती है।^१

वैकिम्पति कामिनी प्रति कारी।

महो पबिक कहियौ उन हरि सौं मई बिरह बुर कारी।^२

सूरदास ने ब्रह्मरूप के रूप में भी प्रकृति का प्रयोग किया है। उनकी उपमाएँ और उपलक्ष्यार्थ बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। 'अवसुत एक जगुपम पाग बासा उनका पद तो अतिशयोक्ति में अपना सानी नहीं रखता। परन्तु उनके अधिकतर उपमान परम्परानुकूल तथा कवि-समय सिद्ध ही हैं। कई स्थानों पर सूरदास ने उपमा और उपलक्ष्यार्थ कादम्बिनी की भी भरसक प्रशंसा की है जिसके कारण उनकी कल्पना विक्षिप्त भी हो गई है।^३ जैसे 'हरि कर राजत माखन रोटी के प्रसंग में मनो बरहू मूषर-सह पृथ्वी बरी वसन्त की कोटी।

उपम क विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास ने भावों के उद्दीपन के लिए ही प्राकृतिक वातावरण उपस्थित किया है। प्राकृतिक रूप कवि की भावना और कल्पना को सज्ज और भूत कर रहे हैं। अतः प्रकृति चित्रण की विविधता उनके काव्य में नहीं मिल सकती। फिर भी उनके चित्रणों में सौम्य-प्रियता के प्रचुर प्रभाव हैं।^४

सूरदास की ही भाँति विद्यापति ने भी उद्दीपन विभाव में ही वसन्तादि का चित्रण किया है। एक उदाहरण देखिए—

बाल बसन्त तफन भए बाबौल बहए सकल संसारा।

बहिन पवन बन भँस छायामए विस्तारय कुमुम पराये

सुमनित हार मज्जरि घन कज्जल भँकितौ भँजन भाये।

मन बसन्त हितु अनुसर जोबति विद्यापति कवि भाये

राजा सिर्वांस एव मरामन सकल कसा मन भाये।

मीराबाई राजस्थान की रहने वाली थी। उनकी सीमा-भेदा राजस्थान में ही सम्पन्न हुई थी यद्यपि अन्तिम समय उन्होंने हारनाथ में ही प्रतीति किया था। राजस्थान महत्त्वपूर्ण है तथा बालकामय अनुसूक्त शेष हैं, जहाँ बर्षा अति विरल है। इसीलिए बर्षा में पिया की आगमन-वार्ता की कल्पना करके मीरा कहती है—

सुनी ही मैं हरि भावन की आवाज।

महुल बड़-बड़ जोई मेरो राजनी कम आवे महाराज।

१. सूर और उनकी साहित्य की ब्रह्मराज राय, पृ. ४२४।

२. सूरदास (संग्रह) पृ. ६८।

३. सूर और उनकी साहित्य, डॉ. ब्रह्मराज राय, पृ. ४२४।

४. सूरदास, डॉ. मनेश्वर शर्मा, पृ. ४६८।

राहुर घोर पपहवा बोसे कोइल मपुरे साज ।
 कर्मप्यो इन्द्र बहूँ बिस बरती बामिन छोड़ी लाज ।
 घरती रूप मया मुवा बरिषा इन्द्र मिसन के काज ।
 दीरों के प्रभु पिरिबर नापर, बेम मिली भूराजाज ॥

बदलत और होसी का बर्चन करत हुए मीरा कहली है—

पराग के दिन बार रे, हीरी बेस मया रे ।
 बिस करतास, पलायन जाई अयहव की जनकार रे ॥
 बिनिमुर राय छतीसु दाई रोम-रोम रग सार रे ।
 लीन समोस की केसर मोली प्रेस प्रीत पिचकार रे ॥
 उकल पुलास भाल मयो अम्बर बरखत रंग अपार रे ।
 घट से सब पद कोस दिए हैं लोच लाज सब डार रे ॥
 होरी बेसि पीव घर जाए सोइ प्यारी पिय प्यार रे ।
 मीरा के प्रभु पिरबर नापर करय-कवच बलिहार रे ॥

इस प्रकार मीरा ने भी प्रकृति-वर्चन उद्दीपन के रूप में ही किया है। वस्तुतः हिन्दी के सभी कृष्ण भक्त कवियों ने अपने माराध्य कृष्ण को परमेश्वर मानते हुए भी संयोग और विमोच मृगार की योजना द्वारा अपने इष्टदेव के दार्शनिक रूप को लौकिकता प्रदान की है, जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति के प्रत्येक आह्लादकारी परिवर्तन के साथ-साथ उनके हृदयों में उर्मय बड़ी और उनका भजन अपने अन्तर से निकलने के लिए बिह्वल हो उठा। मीरा के प्रकृति वर्चन में कवियों की यही मनोवस्था व्यक्त हुई है। सूर बादि अष्टछाप के कवियों तथा विद्यापति की बही मनोवस्था राधा और गोपियों के मनोमार्गों में अभिव्यक्त हुई है। इस दृष्टि से मराठी भक्त कवियों का प्रकृति के प्रति इष्टिकोष कुछ भिन्न-सा रहा है। उन्होंने कृष्ण के रतिक-विरोधमय रूप को स्वीकार नहीं किया है और इसीलिए मासुर्यभाव की व्यवस्था के लिए उन्होंने हिन्दी-कवियों की भाँति राधा और अन्य गोपियों का आश्रय नहीं लिया। इनका परिणाम यह हुआ कि उनके काव्य में प्रकृति का जहाँ कहीं भी वर्चन हुआ है वह प्रसंगानुसार और स्वाभाविक है। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्चन भी उन्होंने किया है और वह अत्यन्त मनोहर बन पड़ा है। वास्तव में वे कवि बराबर विषय में एक हरि को ही देखते हैं जहाँ प्रकृति का अन्तर्ग अस्तित्व ही नहीं रहता। सानेदर क बड़े दाई निवृत्तिनाथ कहते हैं—

हरिधीन न बिते जलजन आम्हा मिय तो पुनिमा सोछाकसी ॥

अन्य सूर्य रम्भी न देखो तारांगनें। सबका हरि होचें हैं बिघेनी ॥

न देखो हे पुष्पी आकाश पीकडी, भरलाते गोवालीं बुगबुसी ॥^१

(समस्त कलाओं के पूर्वावतार श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जन-जन में हमें और कुछ भी नहीं दिखाई देता। हमारे सम्मुख न तो अन्ध है न सूर्य न रातिन और न तारे। हम तो समस्त पृष्ठी और आकाश में गोपाल को ही व्याप्त देखते हैं।

मराठी कृष्ण-काव्य में प्रकृति का आश्रय जलवायों, पक्षियों और रूपों के

किए भी किया गया है। महानुभाव पंथ के सुविख्यात कवि दामोदर पंडित कृष्ण का वर्णन करते हुए कहते हैं—

इन्द्रनीलाची दीप्ती नीलोत्पलाची कांती
एकवल्ली-सैली सावळी भीमूति निरवसुते ॥^१

(सर्पिली भीमूति ऐसी दिखाई दे रही है मानो इन्द्रनील की दीप्ति तथा नीलकमल की कांति ही उसमें या मिली हो।)

बीब और शिव के मिलन का वर्णन करते हुए दामोदर कहते हैं—

घडतां महोवधीसी। गया वेणु सांडि बली।

कां कामिनी कांतापाती। स्थिर होय (१८-१०८१)

(घायर से मिलते ही बीब वंग का प्रवाह धान्त हो जाता है उसी प्रकार पति से मिलत ही स्त्री स्थिर हो जाती है।)

प्रकृति के आलम्बन रूप में वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। मुरलीधरन के चरापर पर प्रभाव का वर्णन करते हुए एकनाथ कहते हैं—

मुलविले वेणुगारें। वेणु बाजविला गोविर्दे ॥

पोपुळ्ळें यमुनामळ। पळी राहिले निवचन ॥^२

(कृष्ण की बंसी के गिताव ने सबको मोहित कर दिया है। यमुना-जल का प्रवाह रुक गया और पक्षी निवचन हो गए।)

इसी प्रकार मिळोबा का कथन है—

वेणु बाजवीत यमुनेच्या तटीं। उभा काढ्या सावळ्य जयवैठी ॥

×

×

×

पवन निवचन होऊनिया ठेला। सूर्य वास्तमावा जळें चितरला ॥

कसें न पिली वेणुभाव केला। मुळीचा कवल गार्डिमुळीच राहिला ॥^३

(यमुना के तीर पर साँवले कृष्ण सड़े मुरली बजा रहे हैं। मुरली ध्वनि के कारण पवन निवचन होकर बहने लगा, सूर्य मस्त होता सूख गया वज्रों ने मुँह से स्तन छोड़ दिया और बीबों के मुँह का वात मुँह में ही रह गया।)

मराठी के अन्य प्राचीन कवियों की अपेक्षा कवियत्री-स्वयंवर के रचयिता महानुभाव कवि नरेन्द्र का प्रकृति की ओर अधिक ध्यान गया है। मुक्तेस्वर के काव्य में भी प्रकृति के कई वर्णन उपलब्ध हैं पर उनमें भी अधिक प्रकृति-वर्णन नरेन्द्र ने किया है। वे वर्णन बहिर्मुख इष्टि से न हाकर उद्दीपन रूप में ही अधिक हुए हैं। नरेन्द्र का जन्मोदय-वर्णन सर्वोत्कृष्ट बन पड़ा है। जन्मोदय के कारण कवियत्री के हृदय में उत्पन्न बेचैनी चिन्ता तथा विरह-गमन की वृद्धि आदि का कवि ने बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन किया है। इसी प्रकार जोरनी की शुभता का वर्णन कवि ने बड़ी ही विपुलता से किया है। कवि कहता है—

धु पोलोकासीं तिळारलाची रजनी तंसीराति बीतताये चांकिनी
की गमना घातली पलतणी। कमल-बलाची

की दावा—पृथ्वीदेवां पोकली कापुरावी सोबाही
 की गगन सेहसे कडियामी भुवासाही
 की श्रीकृष्णका बैलावमा अबसाव हृष्ये आता और-सापक
 तेसा बाबिलेयाका निडाक : केव रत्ने बर्तेची
 गयन-सरोवरिमे राजहंस तैसे बाबयेमि विसती सारस
 की ते पीमि साधिताय आकास चंद्र-निबावी
 चण्डिका चण्डाके गवसते राजहंस सारिणी दिघते
 मृचोनि राभी विपकृत : नीळवेति येकमेकाते
 बाबिलेया सारिखा नाही लाघवी जो चण्डकांताचे डोंगर सपवी
 आंवार-विष मागीं भोळवी : और-झावरा से
 मनेमन-सारिणी आगे घोरों तिया कामिनिया भोसळी चण्डकरी
 चंडापीये राबिले-नीतरी : जय देवी वाबिलेपी
 बहु बोसटा अति प्रसनु कये हीडन रस मंगु
 आता ककें बेगु : मृचों विरहोपबाव ।^१

(जाज राठ की बाँवनी गोकुल में धरद पुचिमा की रस सिद्ध बाँवनी के समान है या आकास कमल-दलों से आच्छादित हो गया है ? या रिक्त घुलोक में कर्पूर का गवाक्ष पुष्प गया है या आकाश घुमानों से जरा हुआ है ? या श्रीकृष्ण का वर्णन करने के लिए पुष्पकित होकर और सागर आ गया है ? (चन्द्र-प्रकाश कपी और-सागर में सारे उद्देक्षित रत्नों के समान दिखाई दे रहे हैं ।) घुम बाँवनी में विचरन करने वाले सारस राजहंस के समान दिखाई दे रहे हैं । अपना राजहंसों के समान दिखाई देने वाले सारस बाँवनी से ही बने हुए हैं । बाँवनी में चक्रवाक भी राजहंस के समान दिखाई देते हैं । अतः एक-दूसरे को न पहचान पाने के कारण सारी राठ विमोघ हो में कट रही है । किसी भी वस्तु को छिपाकर रखने के लिए अन्धकार की आवश्यकता होती है । परन्तु चण्डमा इतना कुसुम है कि उसने मरने प्रकाश से ही और-सागर को छिपा छिपा है । (बाँवनी की सछेवी में और-मागर की सछेवी विलीन हो गई है । नद्यों के समान वीरवर्ध कामिनियों के बदन चन्द्र-किरणों में महसूस हो गए हैं । चण्डमा के राज्य में यानी बाँवनी में ऐसा कमता है कि समस्त संसार ने श्वेत वस्त्र धारण कर लिया है ।)

सायंकालीन सोमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

संकोचली कमळे : पलिये हाकिती अबिसरळे

चक्रवाके होति व्याकुळें बीबोने प्रियालेनि ।^२

(कमल संकुचित हो गए और पलियों ने अपने नीकों में बसेरा करना शारम्भ कर दिया । चक्रवाक प्रिय के विमोघ में व्याकुल हो उठे हैं ।)

मोक्ष कवि ने मानाविष नैसर्गिक हस्यों का वर्णन किया है । मोक्ष की ही भाँति भास्कर भट्ट बीरीकर नामक महागुमाशी कवि ने भी अपने छिथुपाठ-वध सभ्य में वर्तित,

१ मोक्ष कवि का 'रसिकी संपद' सं० डॉ० वि० पि० कोळते, पोरी ११०-१११ ।

२ रसिकी-संपद, पोरी ४४८ ।

ब्रह्म और ब्रह्म-श्रीका का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। 'हामादेर पञ्चिष्ठ के बत्सहरम' में प्रकृति का आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों रूपों में अत्यन्त मनोहारी चित्रण उपलब्ध है।

मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है अभिव्यक्ति। और अभिव्यक्ति का कारण है भाव। अभिव्यक्ति की अवस्था ने साथ-साथ मानव-मन में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है। यही कारण है कि वह अपने चारों ओर सब-कुछ सुन्दर देखना चाहता है। इस प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य अपने भावों को सुन्दरतम रूप में प्रकट करने के लिए आकांक्षित रहता है। जिन साधनों से वह अपने भाव प्रकट करता है वह कला-यज्ञ है और जिसे व्यक्त करता है वह है भाव-यज्ञ। इसी आचार पर काव्य के ये दोनों पक्ष माने गए हैं। साथ ही रस को काव्य की आत्मा माना गया है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'। मानव-हृदय में स्थित भावों की संस्था मूलतः है। परन्तु उनके विशिष्ट छलनों पर विचार करते हुए आचार्यों ने उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—इन्द्रियजन्य प्रज्ञात्मक और युष्मात्मक। इन्द्रियजन्य भाव वे हैं जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञात्मक भाव वे हैं जो भूत वर्तमान या भविष्य के अनुभव से इन्द्रियजन्य भावों को उद्दीप्त करते हैं। भावों का उदय किसी स्मृत वस्तु से सम्बन्धित होता है। यह वस्तु विभाव कहलाती है। विभाव के दो प्रकार माने जाते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव वे हैं जो मन में किसी चित्र को उचित करते हैं तथा कल्पना द्वारा उपस्थित होते हैं। उत्पन्न भावों को उद्दीप्त करने वाले भावों को उद्दीपन विभाव कहा गया है।

धर्मरता की दृष्टि से भावों को दो भागों में बाँटा गया है—संचारीभाव और स्थायीभाव। संचारीभावों का उदय क्षणिक होता है तथा वे स्थायीभाव को रस सिंधि तक पहुँचाने में सहायक होते हैं तथा उसमें विलीन होते हैं। जो भाव रसात्मादन तक बने रहते हैं तथा संचारीभावों से उद्दीप्त होते हैं वे स्थायीभाव कहलाते हैं।

विभावों द्वारा स्थायीभाव क उद्दीप्त होने पर अंतःस्थित भावों के जो चिह्न-वाह्य आकृति और चैष्टाओं के रूप में प्रकट होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। स्थायीभाव अनुभाव विभाव और संचारीभावों के योग से ही रस की निष्पत्ति होती है। 'रस काव्य की आत्मा है। बिना रस के काव्य निष्पाण है। आत्मा नामक रूप है। दूसरे शब्दों में आत्मवहायी तत्व के बिना काव्य' की रचना सम्भव नहीं हो सकती। अतः काव्य की प्रप्राप्यता के लिए उसमें रस का अस्तित्व आवश्यक है। स्थायीभावों से उत्पन्न रस नीचे माने गए हैं—शृंगार, हास्य कथन बहुमत भयानक बीमरस और, 'रीड और सान्त्'। संस्कृत के आचार्यों ने 'शृंगार' को रसराम कहा है।

हिन्दी शक्ति-कवियों के काव्य में इन सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है, पर परम्पराानुसार जगदा विधेय मुकाब 'शृंगार' की ही ओर अधिक रहा है। विद्यापति की समस्त पदावलि शृंगार रस से परिपूर्ण है। शृंगार के अन्तर्गत कवि ने संयोग और वियोग दोनों का बड़े ही सुन्दर रूप से वर्णन किया है। विद्यापति का शृंगार 'उत्तम-शृंगार' की कोटि में आता है।

मीरा ने काल-माघ से ही अपने आराध्य मित्रिण की स्थापना की है। वह स्वयं योवी भाव की प्रतीक है। अतः मीरा के पदों में भी अधिकतर श्रृंगार के ही दर्शन होते हैं। पर उसका श्रृंगार सारिख श्रृंगार है। उत्साह नहीं। कृष्ण मीरा के पति हैं परन्तु साथ ही वे सविश्रानन्द स्वरूप भी हैं। आनन्द के आधार हैं। वह उनसे एककर्म हो जाना चाहती है। यही तो मीरा का श्रृंगार है।

अष्टछाप के कवियों के काव्य का धूल स्रोत आनन्द। पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त में वर्णित हरि-सीमाएं रही हैं। मायवश में श्रृंगार का विग्रह वर्णन मिलता है। परन्तु मायवश कार श्रृंगार-वर्णन को असीमितता की सीमा पर नहीं पहुँचने देता। अहाँ कहीं भी वह अतिशयता का अनुभव करने लगता है। वहीं वह उसे आध्यात्मिकता से रोक देता है। घूर में भी इसी प्रवृत्ति के वर्णन होते हैं। शूरदास ने श्रृंगार रस का वैशिष्ट्य वर्णन किया है, पर साथ ही उस पर आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक संकेतों का आवरण डालना भी वे नहीं भूलें हैं। अष्टछाप के सभी कवियों की रचनाओं में श्रृंगार-रस का पूर्ण परिपाक हुआ है और साथ ही वास्तव्य का भी। प्राचीन रस-शास्त्रियों ने वास्तव्य को श्रृंगार के ही अन्तर्गत माना है। शूरदास और परमानन्ददास के काव्य में वास्तव्य का वैसा स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी परिपाक हुआ है, वैसा अन्य कवियों के काव्य में उपलब्ध नहीं होता। कुंजनदास के अतिरिक्त अष्टछाप के सभी कवियों ने वास्तव्य का वर्णन किया है। परन्तु घूर और परमानन्ददास का वर्णन सर्वोत्कृष्ट है। इनके वर्णनों में वास्तव्य के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की रचनाएँ समाविष्ट हैं। श्रृंगार-रस के परिपाक में भी अन्य कवियों की अपेक्षा घूर की रचनाएँ सर्वोत्कृष्ट हैं। घूर के बाद नन्ददास परमानन्ददास और कुंजनदास की रचनाएँ आती हैं। इन कवियों ने राधा और कृष्ण की छीलाओं के अनेक प्रसंगों का मनोहर वर्णन किया है। नन्ददास और कुंजनदास की रचनाओं में मधुर रस का प्राधान्य है।

मध्यमुरि ने श्रृंगार रस के व्यापक महत्त्व का वर्णन यह कहकर किया है कि संसार में जो भी पवित्र उत्तम उत्कृष्ट और वर्धनीय है वह सब श्रृंगार-रस के अन्तर्गत है।^१ अष्टछाप के कवियों का भी साधक वही दृष्टिकोण रहा है। अपनी रचनाओं द्वारा इन कवियों का उद्देश्य भीकृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावना का प्रवर्धन करना ही था। नन्ददास ने अपने ग्रन्थ 'रस-अंशरी' में लिखा है—

नमो-नमो आनन्द घन, सुन्दर भव कुमार ।
रसभय, रसकारन, रसिक, जब जाते आधार ॥
कप, प्रेम, आनन्दरस, जो कुछ नाम में आहि ।
तो सब मित्रिण रस की, निषेध करने लहि ॥

आचार्यों ने श्रृंगार-रस का स्वाधीनता 'रसि' माना है। रसि का सांनोर्गण वर्णन करते हुए नन्ददास कहते हैं—

उचित नाम काम तो करे। जाने नहीं कवन धनुषरे ॥
धुब-ध्यात सब निव जय । नुरजन डर कय रंजक जाय ॥

१ 'कवि-विमोचे सुविशेषानुसृतं वर्धनीयं वा कर्म' गदगेयोपदीकिते—व्याजसत्र १।

मन की बलि पिय में इकतार । समुद्र मिसी बिमि संघ की बार ॥
 तनक बात जो पिय की पावै । सो बिरियाँ तपत हूँ भावै ॥
 यवनि बिचन नग भावहि भारे । जो रति-रस के भेटनहारै ॥
 तदपि न सुगुठी रंजक नटकै । एक कम्पित रसकूँ गटकै ॥
 स्तम्भ-स्वेद पुनि पुसकित जय । नैनन जल-जल भव स्वर-भंग ॥
 तन बिकरण हियकप जगावै । बीच-बीच मुरसाई भावै ॥
 यह प्रकार जाकी तन कहिए । सो बहु रंज भरी 'रति' कहिए ॥

अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में ऐसी ही 'रति' का वर्णन मिलता है । कृष्णदास का एक पद देखिए—

वीढ़ि एहो सुख-सेव छबीसी, बिनकर किरन सरोखहि भाई ॥
 उठि बैठे नाग बिलोकि बचन बिजु, निरखत मना रहे सुभाई ॥
 प्रपन्नने पतक सतन-मुक्त चितबल, धुनु मुसकत हूँति सेत जंभाई ॥
 'कृष्णदास' प्रपु गिरियर नावर नटक-नटक हूँति कंठ सगाई ॥

अष्टछाप के कवियों ने संयोग-शृंगार और वियोग-शृंगार दोनों का पर्याप्त वर्णन किया है तथा शृंगार रस-वियोग बिभिन्न प्रसंगों के बड़े ही चित्ताकर्षक बिन अंकित किए हैं । इन कवियों ने राधा और कृष्ण के पारस्परिक अनुराग के क्रमिक विकास उनके संयोग और वियोग की अनेक भेटाओं तथा उनके मान उपाकम्भ मिलन बाधिका बड़ी ही कुसलता से चित्रण किया है । इन वर्णनों में नायिका भेद की अधिकान्त सामग्री जा गई है ।

अष्टछाप के कवियों ने स्वकीया प्रकृति को ही प्रथम दिया है और इसीलिए उनकी राधा स्वकीया है । पर लम्बदास ने 'रूपमंजरी' में परकीया-प्रकृति को भी महत्व दिया है । वे कहते हैं—

रस में जो अपपति-रस भावै ।

रस की भवधि कसूत कवि तावै ॥

शृंगार से भी अधिक सूर के काव्य में भारतम्भ रस झूट-झूटकर मरा हुआ है । भाचार्य सुसक्त कहते हैं—

“वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक सम्बन्धन सूर ने अपनी बन्ध माँझों से किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं । इन क्षेत्रों का कोना-कोना के अंक भाए । छल दोनों के प्रवर्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मासिक वृत्तियों और वधाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उसनी का और कोई नहीं । हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसरासक यदि किसी ने पूर्ण रूप से दियाया है तो सूर ने ।”

सूर साहित्य में शृंगार और वात्सल्य के रास-साध अन्य रसों का भी सुन्दर परि पाक हुआ है । परन्तु वात्सल्य रस ही उनकी अपनी विशेषता है । कृष्ण के वास-रूप का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं—

बलि यह मान-रूप मुरारि ।

पाइ पवनि रति कन-भुन नबावति मन्ध-नारि ।

कबहुँ हरि की साईं ओंघुरी, बलन सिक्कवति गारि ।
कबहुँ हृदय लयाइ हितकरि, सेति अंचल गारि ।
कबहुँ हरिकों चित्त नुमति कबहुँ मावति गारि ।
कबहुँ से पाछे दुरावति ह्यां नहीं मनगारि ।
कबहुँ अंग भुषन बनावति, राइ-भोग उतावति ।
सुर-सुर भर सबै मोहै, निरकि बहु धनुहारि ।^१

वासव्य रस के समस्त लक्ष इस पद में उपलब्ध हैं ।

हिन्दी ही की भाँति रस-शास्त्र की इस परम्परा का पावन मराठी के कृष्ण भक्ति काव्य में भी हुआ है । रस को ज्ञानेश्वर ने अन्तःकरण की प्रभावस्था माना है ।^२ हेमचन्द्र ने भी कहा है कि सम्मोय शृंगार-रस तथा विषेपत सान्त, ककन तथा विप्रसन्न श्रु गार में माधुर्य के कारण चित्त प्रभावस्था को प्राप्त होता है ।^३ एक दूसरी ओरी में ज्ञानेश्वर सान्त रस को काव्य की आत्मा बतलाते हैं । वे कहते हैं—

के साहित्य जाणि छोटी : हे पैजा विसे मोलती ॥

जोरी जायन्तगुणमुबरी : जाणि पतिवता ॥^४

(विश प्रकार काईं सुखी चौधम-मुन-मुक्त होती है और साब ही पतिवता भी होती है उसी प्रकार माधव-मैली में साहित्य और सान्त रस हैं ।) उपर्युक्त ओरी से सूचित होता है कि अनेक रसों का अपने काव्य में परिपाक करना सँत ज्ञानेश्वर को अभीष्ट था । ज्ञानेश्वरी का प्यारहवाँ अध्याय रसों का प्रवाह-शीर्ष माना जाता है । इस अध्याय में मुख्य रस सान्त-रस होते हुए भी अद्भुत तथा अम्य रसों का बड़ा ही सुन्दर परिपाक हुआ है । सान्त और अद्भुत रसों की बारह में बीदा-शरद्वती सुप्त रूप से विद्यमान रहने के कारण स्वयं सन्त ज्ञानेश्वर के इस अध्याय को त्रिवेणी-संगम कहा है ।^५ ज्ञानेश्वरी का आरम्भ और रस से हुआ है तथा उसमें रीति तथा भगवत के साथ-साथ ककन रस का सुन्दर परिपाक हुआ है ।^६ प्यारहवें अध्याय में विरह रूप दर्शन का प्रसंग ककन और अद्भुत-रस प्रमाण है परन्तु बीच-बीच में भगवत रस का भी दर्शन होता है । ज्ञानेश्वरी में शृंगार रस का स्वतन्त्र रूप से परिपाक नहीं हुआ है पर रसिकों को प्रसन्न रखने के लिए कवि ने दृष्टान्तों का आश्रय लिया है । जग्य जरा भावि कर्णों में बीमस्त रस का विशास है । बीये अध्याय में हास्य-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है । इन प्रकार ज्ञानेश्वरी में सभी रसों का परिपाक होते हुए भी ज्ञानेश्वरी सान्त रस की ही पंथा है ।

१ मुरसमर मा० २० सू०, पं ७२६ ।

२ जगु मोलाची वाद न वादे । पैव जयिमाजोनि जयिमाजोने निवे ।

भाबंवा कुन्तोठ बोनु जावे । गनीकरी ॥

कभेसि संकटाचा ह्वा जोमले । तदि हरवाकसा लालको जोने ।

जोग बुधिमय तदि बलुले । यादवजा रज ॥—ज्ञानेश्वरी ६ २८ व २९ ।

३ काव्यमुद्राजम्, ४ २ ३ ।

४ ज्ञानेश्वरी ४.२१५ ।

५ श्री ज्ञानेश्वर साध.मन्त्र भाषि भाष, न० ६ अमरक, पृ० २०९ ।

६ गरी ।

नरेन्द्र कवि के 'रुक्मिणी-स्वयंवर' में भी सब रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। नरेन्द्र ने संयोग और वियोग दोनों का बड़ा ही सरस वर्णन किया है। रुक्मिणी-स्वयंवर का शृंगार स्वरीया उत्पन्न पर आधारित है क्योंकि रुक्मिणी कृष्ण की पत्नी है। रुक्मिणी की विरहावस्था का वर्णन तो बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

नरेन्द्र कवि की ही भाँति भास्कर भट्ट के 'विद्युपास-वध' में कृष्ण का रुक्मिणी के प्रसाद में आगम उपवन की वसन्त-सोया रुक्मिणी की विरहावस्था खादि को लेकर शृंगार का जो वर्णन हुआ है वह अद्वितीय है। रुक्मिणी का रस-मुक्त विरह-वर्णन कवि ने आठ सौ पंक्तियों में किया है। शृंगार-रस के इस वर्णन में भी कवि का ध्येय मोक्ष-प्राप्ति ही था। अपने धन्य के विषय में कवि स्वयं कहता है—

हा विद्युपासवध । जाइकसा तुटे भवबन्धु ।

अर्थात्—इस 'विद्युपास-वध' को सुनते ही भव का बन्धन टूट जाता है।

कवि का यह उद्देश्य होते हुए भी धन्य में शृंगार की प्रधानता होने के कारण भास्कराचार्य के मुक्त-बन्धु ने उसे निर्वाण-मार्ग के योग्य नहीं माना।

महेश्वर के 'यवक अक्षि-रस प्रधान' तथा एम्बुह्व का 'अच्छ-विवाह' शृंगार रस प्रधान। इस धन्य में भयवान् श्रीकृष्ण के आठ स्वयंवरों का वर्णन है तथा अक्षिम अघ्याय में वसन्त श्रीका का रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत किया गया है। वसन्त श्रीका का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तया कामिनीक्या जगज्जला । निरहा भसमान्न बिसे मातला

रखे न समाहिणी पुबला । शोबि परिमोने फुलांचा ।

(उन कामिनीयों के रूप का स्पर्श करके मध्याह्निक मत्तवाला हो उठा है और पायल-सा बह रहा है। फूलों का परिमल भी उनके शरीर में बाह उत्पन्न कर रहा है।)

×

×

×

की तारन्यच्छेले अतीं भरिता, बिकार तरंगी हेलावे बैता ।

दियॉ सौम्यर्याधिषां सरिता । लोटक्या सुखसमझावरी ।

(जसकी सौन्दर्य रूपी सरिता में जीवन रूपी जल बवालब बरा होने के कारण उस पर माँह धमियां उठकर सुख-रूपी समुद्र की ओर उद्देक्षित हो रही हैं।)

धामोदर पंडित का 'बरसहरण' यद्यपि अक्षि-रस प्रधान काव्य है फिर भी उसमें सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। श्रीकृष्ण-चरित में समाविष्ट गी रसों का उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

बेयाचा बहुकप छेळ छेळता । योगीए परमशिष्टी पावता

तपत्रय निशारता । सखळ बरबि

बे बैमो रात हारा छेळिनसा । तें पुर्तुं भु बाव जाता

गोळपी बिगोरे नांभयिना । तें हँस्य रसु

यधोरा भिडयिला । तें कवचारसु उठेवसा

आते भीमुख बाबबिलें । तें बहूमुताक्य आतें
विश्वकर्म प्रकटीतें । तें प्रपातकु
देखाकरो संहां । तें भिषक आधिक विष
घातु तो निरंतर । तैपनि असे
ऐसे नवरत नाटक । हेमो हेमो जलमोडक
विष क्य ते बहूदिकी । घातकें मृते ।^१

(भावार्थ है—अपवान् के रास में मृगार रस, गोपियों को नचाने में हास्य रस यद्योबा को डराने में कथक रस, काकिय-मर्दन में रोड रस माता को दर्शन देने में बहूमुत-रस विश्व कर्म दर्शन में प्रपातक रस देवों के संहार में भीयत्स रस तथा वीर रस और अपवान् स्वयं घातक बन होने के कारण घातक रस की स्थिति है ।)

एकनाथ के शिवजी-स्वयंवर में मृगार-रस का सुन्दर परिपाक होते हुए भी प्रधान रस घातक ही है । अपने कर्म के विषय में कवि का अपना कथन है—

हे शम्भो नन्दपण । विवा विवा होतसे सभ ।

अर्थ पाहता सावधान सवाधान साविकी ।

(इस कर्म में परमात्मा और आत्मा के विवाह का निरूपण है । इसका अर्थ सावधानी से समझना चाहिए । इससे साविक कर्मों का समाधान होगा ।)

इस कर्म के विषय में मराठी साहित्य के इतिहासकार पांगारकर कहते हैं— भाषकों को कृष्ण-कथा में आनन्द आता है वीर और विष के ऐश्वर्य का प्रतिपादक विद्यानाथ शानी और बार्शनिकों के लिए आकर्षक है और विवाह कसम-खीड़ा आदि के मनोहर वर्णनों में काम्य रसिकों को मृगार का आस्वाद मिलता है ।^२ एकनाथ की ॥॥ प्रति तुकाराम की वाणी से भी घातक रस की ही वर्षा हुई है क्योंकि तुकाराम ने सर्वत्र एक पांडुरंग को ही देखा है—

पांडुरंग म्यानी पांडुरंग मनी । जावृत्ति स्वप्नी । वांरुंग ।

(पांडुरंग का ही स्थान है । पांडुरंग ही मन में है । वास्तविकता और स्वप्नावस्था दोनों में एक पांडुरंग ही है ।)

तुकाराम के समकालीन मुक्तेस्वर का काव्य रचना-शैली, शब्दावली, अलंकार आदि कलात्मक गुणों से ओतप्रोत है, क्योंकि मुक्तेस्वर की दृष्टि और दृष्टि एक भक्त की ज होकर कवि की है । मुक्तेस्वर का काव्य मृगार रस-प्रधान है । जर्मनि महामाण्ड का मराठी में अनुवाद किया है पर उसे पढ़ते ही पाठक को 'काव्य' पढ़ने का आनन्द उपलब्ध होता है । आदि-मर्म में समिधा का कर्म-वर्णन मृगार रस निरूपण में कवि की कृपलता का एक छोटा-सा उदाहरण है—

जैसी सुबह बंधक कमी की ओतिली अम्पण पुतळी ।

अत्यन्त ताकम्य भरे सवली । परी निगत धुनुमार ।

बिछाने राजबदन अश्रिका । नामी देखित बस्तुरी टिका ।

आकर्ष पर्यन्त कदमत देसा । नयन तीर्ने दोभती ।

१ बहारव, सं. मि० मि० कोल्ले, पृ० १२११ ।

२ मराठी काव्यशास्त्र इतिहास, पांगारकर, दूसरा भाग, पृ० २१५ ।

मरेन्द्र कवि के 'रविमयी-स्वर्गवर' में भी उस रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। मरेन्द्र ने संयोग और वियोग दोनों का बड़ा ही सरस वर्णन किया है। रविमयी-स्वर्गवर का शृंगार स्वकीया लक्ष्य पर आधारित है क्योंकि रविमयी कृष्ण की पत्नी है। रविमयी की विरहावस्था का वर्णन तो बहुत ही मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

मरेन्द्र कवि की ही गीति भास्कर भट्ट के सिद्धपालवच में कृष्ण का रविमयी के प्रसार में आनन्द उपवन की वसन्त-शोभा, रविमयी की विरहावस्था आदि को छेकर शृंगार का जो वर्णन हुआ है वह अद्वितीय है। रविमयी का रस-युक्त विरह-वर्णन कवि ने आठ सौ पंक्तियों में किया है। शृंगार-रस के इस वर्णन में भी कवि का ध्येय मोक्ष-प्राप्ति ही था। अपने ग्रन्थ के विषय में कवि स्वयं कहता है—

हा सिद्धपालवच । आइकता तुटे भवबन्धु ।

अर्थात्—इस 'सिद्धपालवच' को सुनते ही भव का बन्धन टूट जाता है।

कवि का यह उद्देश्य होते हुए भी ग्रन्थ में शृंगार की प्रधानता होने के कारण भास्कराचार्य के मुद्र-बन्धु ने उसे मिश्रित-भार्य के बोध्य नहीं माना।

महदम्बा के घबड़े भक्ति-रस प्रधान है तथा एस्वप्न का 'अष्ट-विबाह' शृंगार रस प्रधान। इस ग्रन्थ में अगवान् भीकृष्ण के आठ स्वयंवरों का वर्णन है तथा अन्तिम अध्याय में वसन्त श्रद्धा का रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत किया गया है। वसन्त श्रद्धा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

तमां कामिनीक्या समवसा । निरुता ममयानन विसे मातसा

रजे न समालिखी पुनसा । शोवि परिमसे पुनसा ।

(उन कामिनियों के रूप का स्पर्श करके ममयानन मयनाका हो उठा है और पागल-सा बह रहा है। पुनर्सा का परिमल भी उनके शरीर में बाह उत्पन्न कर रहा है।)

×

×

×

की तात्पर्यवर्त्तन सती भरिता, विचार तरंगी हैलावे देता ।

तियो सीम्वर्माचियां सरिता । लीटस्या सुखसमावरी ।

(उसकी सीम्वर्मा स्त्री सरिता में जीवन स्त्री बल कलाकल भय होने के कारण उस पर भाव समिन्ना सत्कर सुख-स्त्री समुद्र की ओर उल्लेखित हो रही है।)

दामोदर पंडित का 'वत्सहरण' यद्यपि भक्ति-रस प्रधान काव्य है, फिर भी उसमें सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। भीकृष्ण चरित में समाविष्ट नौ रसों का उल्लेख करते हुए कवि कहता है—

विषाया बहुरूप सिद्धु केळता । पोपीए परमसिद्धी पावता

लापभ्रम निवारता । सफल जगजि

के देवो रस कुडा केळिनसा । ते पुर्ण सुषाण जाता

योळयो विनोदें माणविसा । ते हंस्य रघु

वसोवा विद्विसा । ते कवचारसु उदेवसा

विद्याव कामिना वितसा । ते रौद्र जाता

मारी धीमुख बाधविलें । तें अवधुताक्य जानें
विधवक्य प्रकटीलें । तें भयामकु
हैस्योकरी संहाय । तें विमलु भायिक विर
कोयु तो निरंतक । तैयचि अगे
ऐलें मवरस मरक । हैमी हेसे जवमोहक
मिळ क्य तै प्रह्लाविका । ठाउकें मृते ।^१

(भावार्थ है—भवभाव के रास में मृगार रस, योगियों को मजाने में हास्य रस बघोदा को
कराने में कदव-रस, काविक-मार्ग में रीत-रस, माता को बर्चस देने में अवधुत रस, विस्व
क्य दर्शन में प्रभावक रस औरों के संहार में भीमरस-रस तथा वीर रस और भवभाव इत्यं
शान्त रूप होने के कारण शान्त रस की स्थिति है ।)

एकनाथ के 'रविमयी-स्वंबर' में मृगार-रस का मुखर परिपाक होते हुए भी प्रधान
रस शान्त ही है । अपने ज्ञान के विषय में कवि का अपना कथन है—

ये ज्ञानीके निरूपण । जिहा सिवा होतस सत्य ।

अर्थ वाक्यता सावधान समायान सात्विका ।

(इस ग्रन्थ में परमार्थ और भाषा के विचार का निराण है । इसका अर्थ सावधानी से
धनधना चाहिए । इससे सात्विक जनों का समाधान होगा ।)

इस ग्रन्थ के विषय में मराठी साहित्य के इतिहासकार पांगारकर कहते हैं— 'तावुकों
को कृष्ण-कथा में जानव आता है वीर और शिव के ऐस्य का प्रतिपादक सिद्धांत ज्ञानी
और धार्शनिकों के लिए आकर्षक है और विषाद, वसंत कीड़ा आदि के मनोहर वर्णनों में काव्य
रसिकों को मृगार का आस्वाद्य मिलता है ।' एकनाथ की ही भाँति तुकाराम की भाषी से
भी शान्त रस की ही वर्षा हुई है क्योंकि तुकाराम ने सर्वप्रथम एक पांडुरंग को ही रखा है—

पांडुरंग ध्यामी पांडुरंग मनो । जागुति स्वप्नी । पांडुरंग ।

(पांडुरंग का ही ध्यान है । पांडुरंग ही मन में है । जागृत अवस्था और स्वप्नावस्था दोनों में
एक पांडुरंग ही है ।)

तुकाराम के समकालीन मुक्तेश्वर का काव्य रचना-शैली, चरित्रावली, संस्कार आदि
कलात्मक मुक्तों से ओतप्रोत है क्योंकि मुक्तेश्वर की दृष्टि और सृष्टि एक मनुष्य की त
होकर कवि की है । मुक्तेश्वर का काव्य मृगार रस-प्रधान है । जगन्नि महामाधव का
मराठी में अनुवाद किया है, पर उसे पढ़ते ही पाठक को 'काव्य पढ़ने का आनन्द उपलब्ध
होता है । आदि-पर्व में धर्मिणा का रूप-वर्णन मृगार-रस निरूपण में कवि की कुशलता का
एक छोटा-सा उदाहरण है—

जैसी मुनर्वर्णन कळी, की जोतिती मधम पुतळी ।

आपसा टाटव्य मरें लक्ष्मी । बरी विमल सुन्दर ।

विपदे राजवदन भग्निका । जाळी रेतिका कस्तूरी टिका ।

आकर्ष पर्यन्त कज्जल देता । जगन तैर्न सोमती ।

१ पदमर्याद, ७० वि० वि० कोष्ठ, पृ० ११-१३ ।

२ मराठी कृष्णका इतिहास, पांगारकर, तुकाराम काव्य, पृ० १६१ ।

हृदय विषय पीन स्तन । बरी युक्तजली विराजमान ।
 हृदयी पदक देखीप्यमान । तेज ककि हृदयाम्नी ।
 करि छावक सुखानुद । तसे सरस भुज बन्ध ।
 कंकणें कलमुक्ती प्रबन्ध । मगनाते धेतवामा ।

(जैसे वह चम्पा की कली हो या मन्मथ द्वारा डाली गई पुतलिका हो । वह ताश्म के भार से खरी है पर सूकुमारता से कला की तरह निनज है । उसका भीमुख चम्रिका की तरह देखीप्यमान है और माथे पर कस्तूरी की बिन्धी सोमायमान है । आकर्षक कम्पल-रेखा से उसके नेत्र अत्यन्त सोमायमान बन रहे हैं । बिम्ब-रङ्ग के समान उसके स्तन फटोर और सुदीप्त हैं और उन पर मोतियों की माळा सुसोमिit हो रही है । हृदय पर पदक देखीप्यमान हो रहा है । छावक की सूँड के समान उसके बाहु सुधील हैं । कंकणों की कलमुक्ती-कलमुक्ती की प्रपञ्च प्पनि मदन को बेताबनी दे रही है ।

शुभार रस के दूसरे यक्षस्त्री कवि वामन पंडित माने जाते हैं । वामन पंडित का 'राधाविद्या' या 'कात्यायनी वत' उत्तम शुभार रसप्रमक मधुर काव्य है । 'कात्यायनी वत' में मोपियों के स्नान का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

मोपमितभिनीची बबनें बसि पदाबनें बसि सोपसि नीरी ।
 उबक बिन्दु मरम्य तयावरी पदपदते कुटिलात्मक भारी ।
 बैकुण्ठी उबयात्रि बरी धाडी । उबवती कुमुदें बसि नीरी ।
 कृष्णकवच तचरि जीवनि उत्पल लीचनी त्या ब्रजवारी ।

(यमुना-जल में गोपिकाओं के मुख इस प्रकार सोमायमान हो रहे हैं जैसे सरोवर में कमल पुष्प हों । उनके मुख पर पानी की सूँडें मकरन्द बिन्दुओं के समान हैं और उनकी कुटिल केसराधि उन मकरन्द-बिन्दुओं के चारों ओर भ्रमरों की भाँति मँडरा रही है । उबयापल पर चम्पका को उचित होता हुआ देखकर जिस प्रकार पानी में कुमुदिनी-समूह विकसित होता है, उसी प्रकार कवच बुझ पर भीकृष्ण को देखकर कमल-लीचनी दयापनाओं के मुख मण्डल विहसित हो रहे हैं ।)

'रासभीड़ा' अथवा 'मोप-बभु विद्या' में शुभार रस का इतना सुन्दर परिपाक हुआ है कि कवि स्वयं आत्म विस्वास में कहता है—

ह्याहि उपरी काव्य नाटक मियें शुभार जो पाहुनें
 या भीकृष्ण कलामुक्ती क तमनें पिक-पिक तयावनें मियें ।

(भीकृष्ण-कलामुक्ती रूपी मेरा काव्य पढ़कर भी जो शुभार रस के लिए अन्य काव्य-नाटकों का आभय लेता है उस पर विश्वास है ।)

अपने काव्य में शुभार की चरम-सीमा का विधान करके भी कवि पाठक को शुभार रस से सावधान करना नहीं भूला है । वह कहता है—

शुभाराधुत हैंचि ध्या तपुनियीं बुर्जसिमा कामना ।

(शुभाराधुत का ध्यान बुर्जसिमा और कामना को छोड़कर ही करो ।)

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पंडित कवियों की प्रवृत्ति काव्य-मुक्तों और शुभारिक वर्णनों की ओर अधिक थी तथा वह इप्प-कीला के वर्णनों में प्रकट हुई । परन्तु

प्राचीन कृष्ण कवियों की परम्परा, सन्त-काव्य की भावभूमि और तत्कालीन राष्ट्रीय भावना के कारण उनके श्रुतिपरिक कथनों में भी आध्यात्म का ही बार-बार वर्णन होता है। और इसका मुख्य कारण यही है कि रसों के परिपाक में परम्परा का निर्वाह करते हुए भी मराठी कृष्ण भक्त कवियों ने सान्तर रस को अपनी दृष्टि से ओझस नहीं होने दिया। परन्तु हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों का इस विधा में कोई निजी दृष्टिकोण नहीं दिखाई देता। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रस-परम्परा के अन्तर्गत शृंगार का परिपाक करते समय उनकी दृष्टि शृंगार की ओर कदापि नहीं गयी। उनका दृष्टिकोण तो सर्वदा अपने आराध्य के प्रति अटूट भक्ति-भावना से ओत-प्रोत था और इसीलिए उनके श्रुतिपरिक कथनों में भक्ति की अमिट छाप दृष्टिगत होती है।

कृष्णोत्सामी ने शृंगार को भक्ति के अन्तर्गत माना है तथा कृष्णरस को भक्ति-रस का स्वाधीन भाग है। तथा उसके अनेक भेद-उपभेद भी किये हैं। 'मधुर रस' को कृष्णोत्सामी ने निवृत्त लोगों के लिए उपयोगी तथा सुकृष्ट बताया है। इसके आलम्बन कृष्ण तथा कृष्ण प्रिया हैं। उद्दीप्त मुरझी निस्वनादि अनुभाव नयनकोष से बेखुश और स्मित आदि अवस्थाएँ आलम्ब्य उद्योग के अतिरिक्त अन्य सब तथा स्वाधीन मधुरा रसि है। विप्रलम्भ तथा सम्मोह नाम से इसके दो भेद होते हैं तथा विप्रलम्भ के भी पूर्वराग मान, प्रवास आदि अनेक भेद हो सकते हैं। स्पष्ट है कि मधुर-रस शृंगार रस का ही अधिकारक नाम है।^१ डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित कहते हैं—“कृष्णोत्सामी का कथन है कि विप्रलम्भ के बिना सम्मोह की पुष्टि नहीं होती। विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान प्रेमवैशिष्ट्य तथा प्रवास नामक चार भेद किये गए हैं। पूर्वराग के अन्तर्गत वर्णन अवल तथा इनके भेदों का रूप वर्णन किया गया है। चार ही रसिकरस के हेतु अभियोगादि पूर्वराग में भी कारण-स्वरूप माने जाते हैं। यह भी ग्रीक समर्थन तथा साधारण नाम से तीन प्रकार का होता है। समर्थ रसि को ग्रीक कहते हैं जिसमें आलस्य आदि मरम तक की वधाएँ या बाधों हैं।”^२

समर्थ है कि अपने शृंगार रस-परिपाक में कृष्ण भक्त कवियों की यही विशिष्ट दृष्टि रही हो। परन्तु प्राचीन वाक्यानों ने भक्ति को रस के रूप में स्वीकार न करके उसे भाव के रूप में ही स्वीकार किया है। प्राचीन और अर्वाचीन मराठी-कविक भी भक्ति-रस को स्वीकार नहीं करते। प्रो० वि० परांजपे भक्ति को साध्य में समाविष्ट मानते हैं और प्रो० अल्ल-टेंकर शृंगार में।^३ परन्तु डॉ० बाटवे ने भावसंसार का आशय लेकर भक्ति-रस का समर्थन किया है।

भक्ति-रस को लेकर आधुनिक विद्वानों की बाह्य जो चारणाई रही हो। इतना निश्चय रूप से मानना पड़ेगा कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों का अभीष्ट सामाजिक में शृंगार रस का उद्वेक करना न होकर भक्ति भाव उत्पन्न करना ही था।

१ रस-विधान, स्वरूप विवेकण डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० १७१-७२।

२ गरी, पृ० २७२।

३ रस-विधान, स्वरूप विवेकण डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० २०६।

४ रस-विमो, डॉ० बाटवे, पृ० २६२।

हृद विष्व पीन स्तन । बरी मुस्तज्जो बिराजमान ।
 ह्रस्वी पदक देदीप्यमान । तेज फकि ह्रव्याम्बी ।
 करि क्षामक मुखाहुड । तैसे सरस नुब बण्ड ।
 कंकर्णे छलमुचती प्रचण्ड । मरनाते भेतबाया ।

(जैसे वह जया की कली हो या मग्गन द्वारा बाकी गई पुतलिका हो । वह ताकम्य के भार से खरी है, पर सुकुमारता से कला की तरह चिन्त है । उसके श्रीमुख चन्द्रिका की तरह देदीप्यमान है और माथे पर कस्तूरी की बिन्दी सोभायमान है । बाहुन कम्बल-रेखा से उसके मेरु सरपत्त सोभायमान बन रहे हैं । विष्व-श्लोक के समान उसके स्तन कठोर और सुडीस हैं और उन पर मोतियों की माला सुशोभित हो रही है । ह्रस्व पर पदक देदीप्यमान हो रहा है । क्षामक की सूँठ के समान उसके बाहु सुडीस हैं । कंकर्णों की ललमुन-ललमुन की प्रचण्ड ध्वनि मरन को चेतावनी दे रही है ।

शुभार रस के दूसरे यशस्वी कवि वामन पंडित माने जाते हैं । वामन पंडित का 'राधाविद्यास' या 'कात्यायनी व्रत' छंदान शुभार-रसालोक मधुर काव्य है । 'कात्यायनी व्रत' में गोपियों के स्नान का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

गोपमिताम्बिनीची बहनें जसि पद्मवर्ने मसि सोमति नीरी ।
 जवळ विन्धु मरम्ब तयावरी पद्मपवने जलितालक भारी ।
 देसुनिर्ग्या जवयात्रि बरी बधी । जववतीकुमुदें जसि नीरी ।
 कृष्णकदम्ब लखारि जीर्वाण उत्पल लोचनी त्या बजनारी ।

(यमुना-जल में गोपिकाओं के मुख इस प्रकार सोभायमान हो रहे हैं जैसे सरोवर में कमल पुष्प हों । उनके मुख पर पानी की बूँद मकरन्द-विन्धुओं के समान हैं और उनकी कुटिक केपासि उन मकरन्द विन्धुओं के चारों ओर अमरों की मीठि मँडरा रही है । जवपाचल पर बज्रमा की उचित होता हुआ देखकर जिस प्रकार पानी में कुमुदिनी-समूह विकसित होता है उसी प्रकार कदम्ब वृक्ष पर श्रीकृष्ण को देखकर कमल-लोचनी प्रजागनाओं के मुख मण्डल विहसित हो रहे हैं ।)

'रासकीड़ा' बहना 'गोप-जमु विद्यास' में शुभार रस का इतना सुन्दर परिपाक हुआ है कि कवि स्वयं आत्म विश्वास से कहता है—

झाहि जवरी काव्य नालक मियें शुभार जो पाहणें
 या श्रीकृष्ण कथागुणी न रनयें चिक्-चिक लमलें मियें ।

(श्रीकृष्ण-कथामृत कपी मेरा काव्य पकड़ कर भी जो शुभार रस के लिए अन्य काव्य-नाटक की आभय होता है उस पर विचार है ।)

अपने काव्य में शुभार की परम-सीमा का विधान करके भी कवि पाठक को शुभार रस से साधना करना नहीं भूषा है । वह कहता है—

शुभारापूत हैंचि प्या लपुनिगी दुर्वासना कामना ।

(शुभारापूत का पढ़न दुर्वासना और कामना को छोड़कर ही करो ।)

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पंडित कवियों की प्रकृति काव्य-मुक्तों और शुभारिक चर्चों की और अधिक भी तथा वह कृष्ण-जीवा के वर्णनों में प्रकट हुई । परन्तु

मराठी और हिन्दी कृष्ण काव्य का साम्य और वैपम्य : कला-पक्ष

काव्य का अंतरंग उसका भाव-पक्ष और उसका बहिरंग कला-पक्ष माना जाता है। सा-यस का कार्य काव्य के अंतरंग को समुचित रूप और अभिव्यक्ति देना होता है। बिन सावनों से काव्य के अंतरंग को रूप अथवा अभिव्यक्ति मिलती है। उनमें से प्रमुख हैं भाषा प्रयोग, अलंकार-योजना तथा छंद विधान।

काव्य-रचना में सग-योजना का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शास्त्रीय दृष्टि से अभिव्यक्ति के इस तरे का अन्तर्भाव कृतियों अनुप्रास तथा वर्ण-विन्यास-बनता में हो जाता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने वर्ण-योजना का निर्बंध किया है। भाषा-प्रयोग तथा सग-योजना तथा आदर्श वर्ण-योजना के कतिपय मापदण्ड बनाए हैं। इन मापदण्डों के अनुसार वर्ण-योजना का प्रस्तुत विषय के अनुकूल होना नितांत आवश्यक है। प्रसाव शुच की रक्षा वर्ण-योजना का प्रथम उद्देश्य माना जाता है। वर्ण-योजना में आग्रह की अति तथा अनुत्तर वर्णों का प्रयोग निषिद्ध माना जाता है।

इन मानदण्डों को लेकर मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की वर्ण-योजना पर विचार करने के पहले यह देखना आवश्यक है कि उनके पूर्व कला-सीष्ठक का कोई ऐसा क्षेत्र आधार विद्यमान था या नहीं जिसका आशय इन कवियों ने लिया हो। सूर के काव्य-सीष्ठक पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—“इन पद्यों के सम्बन्ध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि बकरी हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुजीस और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रबल और काव्योपपूर्व है कि आगे होने वाले कवियों की उचितता सूर की जूठी-सी जान पड़ती है। यद्यपि सूरदास किसी बली जाती हुई नीति-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौलिक ही रही हो—पूर्व विकास-का प्रतीक होता है।”

डॉ० चित्रप्रसाद सिंह के शोध के फलस्वरूप सूरदास के समय से पहले का ब्रजभाषा काव्य प्रकाश में आया है। इस शोध के आधार पर सूर-पूर्व ब्रजभाषा-काव्य में नीति-काव्य की

मीथिक परम्परा स्थापित की जा सकती है तथा ब्रजभाषा का अस्तित्व भी माना जा सकता है। परन्तु उसमें कला-सौष्ठव का कोई भी ऐसा ठोस आधार नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि मुरदास के पर्वों की प्रणयमठा और काव्यांगपूर्णता का कोई पूर्ण आधार हिन्दी-अंगु में विद्यमान था। डॉ० सावित्री सिन्हा के शब्दों में "कला के क्षेत्र में नये मापों का प्रस्तावित मुरदास मन्ददास और उनके समकालीन कवियों ने ही किया। उनकी कला-चेतना का प्रादुर्भाव उत्तराखीन परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ था, कला के पुनरुद्धार-युग में उनकी प्रतिभा प्रसफुटित होकर निकसित हुई। उत्तराधिकार रूप में उन्हें जो परम्परा प्राप्त हुई थी वह पूर्ण अविकसित थी। भाव, भाषा ऐसी किसी भी दृष्टि से मध्यकाशीन कृष्ण-सम्बन्ध कवियों पर उनका बहुत नहीं स्वीकार किया जा सकता।"^१ यदि डॉ० सावित्री सिन्हा की धारणा सही मान ली जाए तो भी इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अष्टछाप के कवियों के पूर्ण ब्रजभाषा में मीथिक मीथि-काव्य अस्तित्व में था और वह सगीत घोष्य होने के कारण कुछ समय से कष्ट-काव्य के रूप में प्रवाहित था। अठ-अष्टछाप के कवियों को चाहे उसके शिखर में निहार जाना पड़ा हो परन्तु उसका कबेवर उनके लिए चिर-परिचित था।

मराठी में वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत रही है। संत ज्ञानेश्वर के प्रादुर्भाव के पूर्ण महाराष्ट्र में संस्कृत के प्रति लोगों का आदर कम होने लगा था और उसका स्थान प्राकृत ने के लिया था। संत ज्ञानेश्वर के पहले महानुभाव पंथ के प्रणेता स्वामी चक्रवर्त ने धर्म प्रसार के लिए मराठी का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था, परन्तु उनके वचन किये बढ़ न होने के कारण सर्व-साधारण की पहुँच के बाहर थे। संत ज्ञानेश्वर ने इस वस्तुस्थिति को समझा और 'ज्ञानेश्वरी' की रचना के लिए लोक-भाषा मराठी को चुना। यह प्रयास सर्वथा नवीन होने के कारण संत ज्ञानेश्वर को ही भाषा का स्वरूप निर्धारित करने तथा उसे विशाल करने का बृहत् कार्य करना पड़ा। यह कार्य ज्ञानेश्वर ने अत्यन्त सुचारु रूप से किया। भाषा-प्रयोग की दृष्टि में यह प्रथम प्रयास होते हुए भी संत ज्ञानेश्वर ने जिस काव्य-चातुर्य का परिचय दिया है वह अत्यन्त सराहनीय है। ज्ञानेश्वर के आद्यानुकूल धर्म-वचन के विषय में श्री ज० र० पाटक लिखते हैं—'आद्यानुकूल धर्म-वचन काव्य-कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। ज्ञानेश्वरी में इस अंग के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। ऐसा विश्वास है कि प्रबंधानुक्रमिक कव्यकृतताहीन धर्मों के वचन का ज्ञानेश्वर ने विशेष ध्यान रखा है। ज्ञानेश्वर ने अपने प्रतिपादन के लिए एक ही अर्थ के अनेक शब्दों का बड़े ही सुन्दर रस से प्रयोग किया है।'^२ वे आगे कहते हैं—'गीता में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों की ज्ञानेश्वर ने व्याख्या की है।'^३ 'अहिंसा' शब्द की व्याख्या करते हुए ज्ञानेश्वर लिखते हैं—

आहिंसा अनाहिंसा सुखोहेसैं । धरीराधाधामानसैं ।
राहुदरों तैं पाहिसे । वप जाण ॥^४

१ मरमाता के कृष्ण-कविता भाष्य में अविवर्धना-दीप्त्य, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० १०।

२ श्री ज्ञानेश्वर, वाङ्मय आदि कार्य, पृ० १० अध्याय ५ (१७०-७२)।

३ वही, पृ० १२३।

४ ज्ञानेश्वर, पृ० १४, श्लो० ११४।

(और संसार के सुख उद्देश्य के लिए मनसा बाधा कर्मका अपते रहना ही चाहिए है।)

संत ज्ञानेश्वर की दूसरी विशेषता यह है कि वे गहन-से-गहन विषय को अत्यन्त सरल शब्दों में सुबोध बनाकर पाठक के सम्मुख रखते हैं। ज्ञानेश्वर के काव्य में प्रसार और माधुर्य पुरों का मणि-कोषन याग हुआ है। उन्होंने सुवीरुष शब्द वर्ण के योग्य पद-सेही मार-माधुर्य भावि की ओर विशेष ध्यान दिया है तथा पारमार्थिक सत्य की प्रतीति कराने के लिए अनेक इष्टान्त भी दिए हैं। किसी महत्त्वपूर्ण बात को समझाने के लिए कहीं-कहीं उन्होंने कम से सात-आठ इष्टान्त भी दिए हैं। ज्ञानेश्वर के काव्य-सीद्धान्त की चर्चा करते हुए प्रो० पदमर्चन कहते हैं—

Unparalleled in Marathi literature, Jnaneshvari is so exquisite, so beautiful so highly poetic in its metaphors and comparisons similes and analogical illustrations, so perspicuous and lucid in style, so lofty in its flights, so sublime in tone, so melodious in word music so original in its concepts, so pure in taste that, notwithstanding the profundity the recondite nature of the subject, and the inevitable limitations attendant upon the circumstance that the author's main object was to make the original intelligible rather than add anything new the reader is simply fascinated, floats rapturously on the crest of the flow and is lost in the cadence of rhythm and the sweet insinuating harmonies till all its thanksgiving and thought is not.^१

संत ज्ञानेश्वर-जैसा भावमय संत एकनाथ के काव्य में नहीं दिखाई देता, परन्तु इसका यह बर्ण नहीं कि उनकी काव्य-सम्पदा समृद्ध नहीं है। एकनाथ ने कवित्व की अपेक्षा सुगम शब्दों में भाववत्ता का बर्ण समझाने की ओर विशेष ध्यान दिया है। बुद्धि का चमत्कार एकनाथी भाववत्ता में नहीं दिखाई देता परन्तु वेदान्त-जैसा गहन विषय सरल शब्दों में समझाना एकनाथ का ही काम है और वह उन्होंने अत्यन्त सफलता से किया है। संत तुलसी दास की तरह उनका काव्य भी विविध है। पंडित वेदान्ती सावुक मुमुक्षु, ब्रह्मानी चरित्र आदि अपनी-अपनी रचि का काव्य एकनाथी काव्य में सुकमता से वा सकते हैं। काव्य-विषयक अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए एकनाथ कहते हैं—

सफल न करवाय श्रम : शब्दों मोलावा सुख्यार्थ

परी बजावा परमार्थ : हा मित्रस्वार्थ कवित्वाचा ।^२

(श्रम बहुत बढ़ा न हो। उसमें सुख्यार्थ का ही प्रतिपादन हो। पदों में परमार्थ समाविष्ट हो। इसीमें कवित्व चरित्रार्थ होता है।)

संत एकनाथ की ही भाँति सन्त तुकाराम और सन्त नामदेव की भाषा-शैली भी सुबोध एवं सरल है। तुकाराम की व्यभिच्यञ्जना के लिए कई स्थानों पर उन्होंने सुन्दर रूपकों का भी प्रयोग किया है। अपनी भाषा को जन-सुख्य बनाने के लिए इन कवियों ने ऐसे बारी और कारखी शब्दों का भी प्रयोग किया है जो उस समय जनता में रूढ़ हो गए थे। एकनाथ के 'माकू' नामक छंद प्रकार में ऐसे कई शब्द ला गए हैं। मराठी भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुसंख्या होने के कारण मराठी कृष्ण-काव्य में संस्कृत की उत्तम और उद्भूत शब्दों का व्यावहारिकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है जो भाषा की विशेषता को देखते हुए स्वाभाविक ही है।

१ मित्रिचिन्म शोक महापद प्रो० पद १० खण्डे, १ २० से उत्पन्न।

२ भाषांच मयावर्धने, डॉ० जीवन्त कुमकर्णी, पृ २२४।

अपने विषय के प्रतिपादन के लिए सरल शब्दों का प्रयोग सत ज्ञानेश्वर की विशेषता रही है। परन्तु अनेक स्थानों पर उन्होंने संस्कृत के कठिन शब्दों का तथा संस्कृत-मराठी के सामाजिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए—

ऐसे कलुषकरिकेशरी । जितान्य तिमिररामारी ।

धीवरवरी मरहरी । बीजिले तेजें ॥^१

संत ज्ञानेश्वर की मुखोक्त व्याख्या-प्रवृत्ति का दर्शन निम्नोक्त शोबी छंद हो सकता है—

एक बहिल जे जे करिती । तथा नाम धर्म ठीकती ।

तेथि धैर अनुष्ठिती । सामान्य सकल ॥^२

(यहाँ जो कुछ भी बड़े भारी करते हैं उसे धर्म समझकर सामान्य बनता उसका पावन करती है।)

यह अमंग गीता के दूसरी अध्याय के इसकीसवें श्लोक का अनुबाह है, जो इस प्रकार है—

यद्यवाचरति योऽस्ततोऽवेतरो जनः ।

त यत्प्रमाणं कुर्वते लोकस्तदनुवर्तते ॥

'बहिर्भी-स्वयंभर' के रचयिता नरेन्द्र कवि ने संगीत और वास्तुकला से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे स्वर, ध्रुति, ताल, प्रबंध, बोध, धाम, जाति, मूर्च्छना, राग, रागांग, रपांग, रेशांग, भाषांग, ध्रुपद, ध्रुपदांग, अमंग, शाकांग, शां, पचास, खडा, कमाड, भाट, भीसमंग, चाबोका, शारङ्गका, शारङ्ग, उंबर, आदि। इसने अविरक्त कहूँ के प्रतिपाद्य-सम्बन्धी निर्देशों तथा कुछ एवं वनस्पति के नाम-सम्बन्धी अनेक शब्दों का प्रयोग नरेन्द्र ने किया है। अष्टछाप के कवियों की ही भाँति नरेन्द्र कवि ने भी तरंगम, उद्भव और अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें हैं कुछ शब्द हैं—

पन ईश्वर, छिडि बिद्या, मनोरथ, कवि, बीपक, साहित्य, सारस्वत, रस, सस्य हियें, बेव बिठी मियाँ भाषा बिदांवा, पाउक, भासा बीज, चाँद आदि ।

नरेन्द्र के काव्य में कलङ्क और तेलुगु के जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं वे इस प्रकार हैं—

कलङ्क—परी कुसरी, चौछाव मिरबिती मातु, किडाक, पीड ओकये, गुदी चवी पिस्ती, पाकल पोड, पडुड, मोचरी कहे बाप बादी, मोडबली मस्तुडें पोळी, मोनें, घरी, कँवार, हुडा, परिये, तथा

तेलुगु—उब, डबारा आदि ।

रामोदर पंडित ने नरेन्द्र की अपेक्षा उद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक किया है जैसे मिष्टमिमान, निर्वाकिन, पास्ताड, कासिगु, अमासु, ईश्वर जिब जिवित, फिटक दिष्टी दिष्टुं सिळा, बिद शिर, बिना सीन्ड नीतन बीट्टि, चतच, बलण सपण, नयण पधिमि दशन देस पसु आदि ।

उपरोक्त कवियों की ही भाँति भग एदनाम संत तुम्हाराम तथा संत नामदेव ने भी

१. ज्ञानेश्वरी अध्या ३४३ ।

२. चो, चमो, १२५ ।

उत्तम उद्भव और अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। स्थानाभाव के कारण यहाँ इन शब्दों की विस्तृत सूची देना आवश्यक नहीं है।

वज्रभाषा के विकास तथा रूप निर्माण में अष्टछाप के कवियों का विशेष हाथ रहा है। उन्होंने उत्तम उद्भव और वेदव तीनों प्रकार के शब्दों का अपने काव्य में प्रयोग किया है। 'उत्तम शब्दों का प्रयोग इन कवियों ने अधिकतर व्याख्यात्मक तथा कल्पना-प्रधान अप्रस्तुत योजनाओं के समतुल्यकारी स्थलों पर किया है। सीसा-मथान अनुसूत्यात्मक और विपरिणामक स्थलों में प्रयानता उद्भव शब्दों की है और विदेशी शब्दों का पुट प्रायः सर्वत्र ही निचमान है परन्तु उन पर वज्र भाषा का रंग इस प्रकार पड़ गया है कि उनका विदेशीयता प्रायः बिल्कुल छिप गया है।^१ उत्तम शब्दों के प्रयोग का उदाहरण है—

अथ यन्त्र रस ज्ञान (स्पर्श) के पंच विषय वर ।
महाभूत पुनि पंच पावन पानी धम्मर वर ॥
इस इन्द्रिय सब धर्तृकार मह तत्त्व विगुन मन ।
यह सब भावा कर बिकास कर्ह परम हस मन ॥
आमृति स्वप्न सुषुप्ति धाम पर-ब्रह्म प्रकाशै ।
इन्द्रिय मन मन प्राग ज्ञाहु परमात्म भासै ॥^२

कल्पना-प्रधान स्थल में उत्तम शब्द का प्रयोग निम्नलिखित पद में देखा जा सकता है—

बैभव भूरति में जब मिहारी ।
जबन कमल भुरंग कोटि सत साहि जिनु रारे वृ वारी ।
विह्वल मन बन्धुक निम्न सत, कोटि त्याग करि जिय में विचारी ।
हारयो बागिनी कुल कोटि सत बुरि किये पवि पव वारी ।
सित प्रभुन सत कोटि, मनुष सत कोटि, हीन परे मन सारी ।
मनुष कोटि सत मदन कोटि सत कोटि ज्ञान स्वीकार पवारी ॥^३

अष्टछाप के कवियों ने उद्भव शब्दों का अवधिक प्रयोग किया है। ऐसा उन्होंने अनुसूत्यात्मक प्रतिपादन के लिए ही किया है। निम्नलिखित कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ उद्भव शब्द हैं—

सत्तवाति साँकरी जन्म परवनी शरोसा काञ्ची वचरज ज्ञान पावन
बीठि हिय बीजु पाहन पावस कोल अकारव पहने पासी बात सवार
दिहारे माली भारति स्वीकार, पहुँची कसौटी छापी तूख करनी हब
सोम नौपिहारी सोहना मोहना सगुन परस टेर बार दाँद नौपण
काम्ह टेक गहि पूत राजत बारति मिहारन सजा सुयन्त्र, बँधुरी समगि
सिवालय काम सुहाय ।

विदेशी प्रयुक्त शब्द हैं—

महामाग गुहाहिब कुलफ सहरौ यलासी घरवार, ताम बेसरम दाम

१ जनता के कव्य-मणि काव्य में अतिरिक्त-शब्दों की सामग्री सिन्हा, पृ० ६० ।

२ मोक्षम सिन्हा (आत्माजी, ४ ६८, नन्दराय अन्धकारी मन्दरायसिन्हा ।

३ अनुसूत्यात्मक वि वि काँकरी, ४ १०३ ।

बमानस, पुष्पाम कसब बमीली, मुञ्जरा बबास इत्यादि ।

सूरदास की भाषा के विषय में डॉ० प्रेमनाथराय टंडन कहते हैं—'अरबी-फ़ारसी और तुर्की के अनेक शब्द उत्तर भारत में सामान्य बोझ-बास की भाषा में प्रचलित हो गए थे । यही कारण है कि इन विदेशी भाषाओं का बिभिवत् अध्ययन न करने वाले ब्रजभाषा और अरबी के उत्काशीन कवियों ने भी इनका स्वतन्त्रतत्पूर्वक उपयोग किया और इस प्रकार अपनी-अपनी भाषा को ब्यावहारिक रूप देने में समर्थ हो सके ।'^१

सूर की सम्म-योजना भाषा में संगीत और कव्य का समावेश करने तथा उसे भाषा मुक्त बनाने के लिए ही हुई है । वह सहज ही यह में निहित अर्थ की साकार रूप प्रदान करने में सहायक होती है । सूर की मुद्राओं और शृंगार की समझ का एक उदाहरण है—

मुत्पत स्वाम स्वामा हैत ।

मुकुट लटकनि मुकुटि-भटकनि, नारि मन सुख हैत ।

कबहु बसत मुर्खय गति सौं, कबहु छपटत बस ।

सोम भुम्कत बंड मध्यस, अपस नैननि सैन ।

स्वाम की छवि देखि नागरि, रहो इकठक जोहि ।^२

सूर प्रभु जर माइ लीन्ही, प्रेम-गुन कर पोहि ।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास ने अर्थ-योजना का प्रयोग साधन रूप में ही किया है । परमानन्ददासजी ने काव्य के बाह्य विधान की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है फिर भी उनकी अर्थ-योजना प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल ही होती है । इस दृष्टि से परमानन्ददासजी की तुलना संत एकनाथ से की जा सकती है । कल्पदास में काव्य चेतना अर्थात् भाषा में दृष्टिगत होती है । अर्थों के माधुर्य का उन्होंने विशेष ध्यान रखा है, जैसा कि निम्नोक्त पंक्तियों से दृष्टिगत होगा—

पीढ़ि रहो मुख सेज सजीली निगकर किरन सरोसहि धाई ।

उठि बैठे नाम, बिलोक बदनविभु निरखत नैरा रहे सुमाई ।

जबर झुले पलक सलन सुख बितवत मुहु मुस्कात होति सेत जमाई ।

कृत्यदास प्रभु निरपर नापर लटक-लटक होति कण्ड लपाई ।^३

मन्वदास की अर्थ-योजना अत्यन्त संगीतमय है । शृंगार्यों की लंकार, पुरसी की मीठ और मूर्धन्याय बाधों के स्वरो का नाटावरण कवि के निम्नोक्त पद में बहुत ही सुन्दरता से प्रकट हुआ है—

सुरुर कंकन किकिति करतस मंजुस सुरसी ।

ताल मूर्धन्य उर्ध्वनवन एकी सुरसुरसी ॥

मृदुल सुरस करतार तार भंकार मिली पुनि ।

मधुर अम्ब की तार मधुर पुकार रसी पुनि ॥

१ सूर की भाषा डॉ० प्रेमनाथराय टंडन, पृ० १११ ।

२ ब्रजभाषा, भा प्र० स०, दशम स्कन्ध पद ११४५ ।

३ कल्पदास परिकल्प सं० प्रमूखदास मिश्र, पृ० ३६५ ।

संक्षिप्त सुद्ध पद्य पटकनि चटकनि करतारन की ।

लटकन मटकनि क्षलकनि कस कुण्डल हारन की ॥^१

अष्टछाप के कवियों ने प्रचलित ओकोकितियों का भी प्रयोग किया है। जैसे एक पद्य है काव
चान को गोंब पवार से जाने नैतग कं नहि बैन बैन कं नहि नैग वहाँ म्याह ठाई पीठ बाई
आये पेट गुरावति स्वान पूछ कोउ कोटिक समो सुधी कोउ न करे, सौंड़ी की डौंडी अप
बाबी घूर स्वभाव उभे नहि कारो कीने कोटि उपाय आवि ।

मीराबाई की रचना में वैचरम्य और बक्षता के वर्णन नहीं होते। उसकी भावामि-
व्यक्ति निताल सीधी है। उसमें व्यंग्य या उपात्म्य के लिए स्थान नहीं है। परन्तु मीरा
द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द उसकी आत्मानुभूति को सही-सही व्यक्त करता है। अपने अन्तर्मन
के ईश्वर और विश्वता को व्यक्त करने के हेतु अपनी भाषा को शक्तिशाली बनाने के लिए
मीरा ने भी मुद्रावर्णों का प्रयोग किया है। जिनमें से कुछ ये हैं—

ठाकी पंच निहाके माटी में मिछ जासी बात बनावत चित्त बड़ी मरजब
के मरजी तारा मिण मिण रैन बिहानी नाचन छाती तो बूँध केसो, मुख
मोरपी बठिया कहत बगाव कई सीस बड़ाव बट के पट खोछ दिए हैं
बावि ।

ये मुद्रावर्ण बीस और कुछा से उत्पन्न गारी-हृदय के सहज उद्गारों को अभिव्यक्त करने में
अत्यन्त सफल सिद्ध हुए हैं।

मीरा की सख-सृष्टि में राजस्थानी बजभाषा तथा पुनरुक्ति के शब्दों का समावेश
हुआ है, क्योंकि इन्हीं तीन प्रदेशों में उनका जीवन बीता था। मीरा की भाषा जन-साधारण
की भाषा है। उसमें आचार्यत्व के कुछ नहीं हैं। परन्तु हृदय की पीर जितनी उनके पदों में
मुबारित हुई है उतनी हिन्दी के अन्य किसी भी कृष्ण भक्त कवि की भाषा में नहीं हुई।

उपदुःख उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और मराठी दोनों भाषाओं के
कवियों ने मुख्य रूप से अपनी-अपनी लोक-भाषा की भाषाओं को ही अपने काव्य का माध्यम
बनाया। संस्कृत शब्दों के प्रयोग के द्वारा उन्होंने इन भाषाओं को समृद्ध और परिष्कृत
किया तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया।

हिन्दी और मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने अभिधा शक्ति का प्रयोग अधिकतर
वर्णनारमक स्थलों पर ही किया है। परन्तु मराठी कृष्ण-काव्य अधिकतर व्याख्यात्मक होने के
कारण मराठी कृष्ण-भक्त कवियों ने सख की समझा शक्ति का प्रयोग व्याख्यात्मक पदों में
प्रचुरता से किया है। गीता के द्वितीय अध्याय में—

आसांछि बील्लानि यथा बिहाय नवानि पुहृताति नरो परास्ति

तथा शरीरास्ति बिहाय बील्लान्यानि संवाति नवानि चेद्दी ॥

इतक की व्याख्या करते हुए संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

जैसे बीर्यवरम छोड़के। गण नूतन बेदिजे ।

जैसे बेहतरातों स्वीकारके। बीतगनाय ॥^२

१ मन्वन्त मन्वन्ती, राजर्षिबाबाजी, अमरावती, पृ० ११-१२ ।

२ ज्ञानेश्वर, भाष्य पृ० १४ ।

(जिस प्रकार श्रीने बरन छोड़कर गया बरन भारण करते हैं, उसी प्रकार मरण के समय वैराग्यनाम को स्वीकार कर लेना चाहिए ।)

इस जोड़ी में कवि न पूरे श्लोक की अभिव्यञ्जना साक्षणिक बर्ण में की है । परन्तु अष्टछाप के कवियों ने व्याख्यात्मक पदों की रचना नहीं की । संश्रुति तो केवल कृष्ण के रूप-वर्णन वात्सल्य-वर्णन संबन्ध-पुनार इत्यादि वर्णभारमय और भाव प्रसंगों का ही वर्णन किया है । इन वर्णनों में अभिधा-शक्ति का ही प्रयोग हुआ है जिसके कारण कहीं-कहीं ये वर्णन नीरस हो उठे हैं । सूरदास के निम्नोक्त पद में इसी नीरसता का दर्शन होता है—

भोक्त भयो पावते मोहन, लालोई बँध जातु नी मोहन ।
 खीर खीर खीर खीर खीर, मधुर मधुर खीर खीर ।
 राख भोग लियो भास पसाई, सुँव डरहरी हीन सयाई ।
 सब माजन तुलसी है तापी धिरस तुलस कबीरा भायो ।
 पापर करी प्रचार परम सुनि । प्रवरस प्रस विबुधानि हूँहै बधि ।^१

नीरों की बँध भरी अनुपूरितियों में भी अभिधा का लौलभ ही निश्चय है ।

साक्षणिक प्रमाणों का चमत्कार सबसे अधिक मुहावरों के रूप में ही हुआ है । इसका कारण यह नहीं कि हिन्दी के कवियों की अभिव्यञ्जना में शक्याय है ही नहीं । शक्या के सूक्ष्म रूप हिन्दी कृष्ण-काव्य में भी यथ-लग्न मिलते हैं परन्तु उनकी भाषा की बिभारमकता उनकी प्रतीक-बोधना से ही सम्पन्न है ।^२

हिन्दी और मराठी के कृष्ण-कवियों ने व्यञ्जना-शक्ति का उपयोग बह-अभिव्यञ्जना में ही किया है । बाह-कीछा का माजन-बोरी प्रसंग, राख-कृष्ण के प्रेम से सम्बन्धित प्रसंग, मुरली-प्रसंग मान-कीछा खिड़िया प्रसंग तथा प्रमदगीत भावि प्रसंगों को अष्टछाप के कवियों ने व्यञ्जना-शक्ति के द्वारा ही मानिक बनाया है । सूरदास के पद—

“मुनहु मधुरि भगै सुत के गुन क्यो कहीं किहि बलि बनाई ।^३

में पोषी-हृदय में भावोचित जानन की ही शक्ति निकलती है ।

निरकति भंज स्वामसुन्दर के बार-बार आवति छाती ।

लोकन-भक्त कागज-मति मिलिके छुँ गई स्वाम-स्वाम की पत्नी ।

भंज और स्वाम छत्रों के व्यञ्जार्थ से ही इस पद में निहित भावनाओं का सूक्ष्मक किया जा सकता है । स्वाम का पद स्वयं कृष्ण-रूप बन जाता है तथा उसे हृदय से लगाकर राधा कृष्ण को हृदय से लगाने का सुख अनुभव करती है ।

ईश्वर को ईश्वरत्व प्रदान करने वाले भगवान् के पापी भक्त हैं होते हैं इस वस्तु स्थिति का उद्घाटन करते हुए यन्त मुकादम कहते हैं—

जैसे तुम भक्त रूप धारि नाव । पतित हैं देव तुम्हें आगही ।

नाहो तारी तुम कोप हो पुस्त । निराकारी तेने एकाएकी ॥^४

१ मूर समर, भा० ४० पृ० १०, बराम स्कन्ध, पद १९११ ।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास भाषार्थ रामकृष्ण गुप्त, पृ० ८०० ।

३ मूर समर, भा० ४० पृ० १० बराम स्कन्ध, पद १९११ ।

४ मुकादम बकनाह, भा० ४० पृ० १०, पद १०४ ।

(तुम्हारे रूप और नाम को बनाने वाला तुम्हारा पापी भाग्य हम भक्त ही हैं, नहीं तो तुम्हें पुछने वाला कौन था ! तुम तो निराकार और एकाकी हो थे ।)

इसी प्रकार रविमयी के मुख से श्रीकृष्ण की निम्ना करवाकर गरेन्द्र कवि रविमयी की आत्म-विह्वलता को निम्नोक्त पद में व्यक्त करता है—

तया जाति ना कुल जनोक्तनीः नेत्रों मायबाधु बाढबिला गोती

बन्ध्यादि ठठा बड़बिला गोबर्णी भालुस—एषाथा ।

(कृष्ण की त तो कोई जाति है न कुल । उनके माता पिता का भी कुछ पता नहीं है । श्वास्त्रियों ने उनका पालन-पोषण किया है । इन श्वास्त्रियों ने धर्म में ही मनुष्यपन कृष्ण पर छाड़ा है । ध्वनि यह है कि कृष्ण में मनुष्यता का कोई भी धिक्क नहीं है वे मनुष्यता-विहीन हैं ।)

यह कथन अष्टछाप के कवियों द्वारा विरचित भ्रमरगीत में गोपियों के उच्चारणों में बहुत-कुछ मिसता-भुसता है ।

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने वर्णनात्मक तथा कथोपकथन शैलियों का ही प्रयोग किया है । वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत श्रीकृष्ण की लीलाओं का समावेश होता है और कथोपकथन शैली के अन्तर्गत मुख्यतः भ्रमर-गीत का । परन्तु मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने मुख्यतः वर्णनात्मक शैली के साथ-साथ व्याख्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया है । ज्ञानेश्वरी समग्र रूप से एक व्याख्यात्मक काव्य है ।

साहित्य-शास्त्र के प्राचीन जाचार्यों ने साहित्य विद्या को अलंकार-शास्त्र के नाम से अभिहित किया है । रामसेखर ने अलंकार-शास्त्र को वेदांग कहा है तथा उसकी उत्पत्ति मगबाधु धंकर से मानी है परन्तु शास्त्रीय ढंग से अलंकार-शास्त्र की चर्चा प्राप्त-कार-योग्यता संस्कृत साहित्य में अष्टांगुलि से ऊँकर पश्चिपद्यज जगन्नाथ तक बख्ती रही । इस शीर्षकांक में कई काव्य-सम्प्रदाय बने परन्तु इनमें से सभी ने काव्य के लिए अलंकारों का महत्त्व स्वीकार किया है । संस्कृत की यह परम्परा हिन्दी और मराठी, दोनों भाषाओं में अपनाई है । हिन्दी में कृष्ण भक्त कवियों के पूर्व निर्बुध सम्प्रदाय के सन्त-कवि अपनी कानियों में अम्योक्ति रूपक, उपमा जाति अलंकारों का प्रयोग कर चुके थे । इसी प्रकार प्रेम-भाषी कवियों ने भी अलंकारों से अपनी कविता-कामिनी को अलंकृत किया है । विद्यापति की रचनाओं में तो अलंकारों को स्पष्ट रूप से महत्त्व मिला है । उनके काव्य में साहस्यमूलक अलंकारों तथा शब्दालंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है । मराठी कृष्ण-भक्त कवियों की ही भाँति अष्टछाप के कवियों ने भी सोमा के लिए अपनी कविता-कामिनी को अलंकृत नहीं किया । अलंकार तो उनकी कल्पना-सृष्टि के अन्तर्गत जगन्नाथ ही था नए हैं । हिन्दी के कृष्ण-काव्य में अनुप्रास, अस्वानुप्रास सेकानुप्रास ब्रुवा अनुप्रास उपमा उत्प्रेक्षा, रूपक रूपकान्तिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, विरोधाभास विभावना, पुनरुक्तिप्रकाश बीप्सा समक अपस्तुत प्रशंसा व्यतिस्तुति आदि अलंकारों का विवेक रूप से प्रयोग हुआ है । कवि मन्त्रबास के विषय में तो प्रसिद्ध ही है कि—

‘और सब बड़िया, मन्त्रबास बड़िया ।’

अष्टछाप के कवियों की अपस्तुत योजना को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) साहस्यमूलक (२) विरोधमूलक (३) अतिशयमूलक ।

इन कवियों के काव्य में साहस्यमूलक योजनाओं का ही अधिक प्रयोग हुआ है । इसे चार भागों में बाँटा जा सकता है—

स्व-साम्य धर्म-साम्य, प्रभाव-साम्य और कल्पना-साम्य । इनका एक-एक उदाहरण देखिए—

स्व-साम्य प्रबन्धि सुमय स्याम बैली की सोभा कही बिबारि ।
मनो रङ्गो पन्नग पीवम को धति मुस धुपा मिहारि ।^१

धर्म-साम्य मेरो मन मनत कही सुख पावै,
जैसे जड़ि बहान को पंछी, किर बहान पर पावै ।^२

प्रभाव-साम्य पिया बिनु नागिन कारी रत,
कबहु क बागिनि उषत कुनैया, उषि उभटो हूँ जात ।^३

कल्पना-साम्य उपमा एक समूत मई तब जब जमनी पट पीत उठायै ।
मोल जलर पर उडगन निरञ्जत, तबि सुभाब अनु मक्षित छपायै ।^४

विराममूलक अप्रस्तुत योजनाओं का प्रयोग 'भ्रमरगीत' में अनेक स्थानों पर हुआ है । एक उदाहरण छीजिए—

कहूँ धबला कहूँ बसा बिघम्बर कष्ट करो पहिचानी
कहूँ रस रीति कहीं तन सोवन मुनि-मुनि लाज मरी
धंवन छींड़ि बिनूति बनावत यह कुछ कीज करी ।^५

अतिशय-मूलक योजनाओं का प्रयोग भाव के उद्दीपन के लिए ही हुआ है । इन्में के स्व-वर्चन कवियों की बिरह-वेदना आदि में नवियों की भावनाएँ अतिशयोक्ति से रंजित हो उठी हैं । एक उदाहरण छीजिये—

रित रिति सीत समीरहि रोकत अंधत ओट दिये ।
धुमक मलय परसि तन तनकत अनु बिष बिषम पिये ।^६

सूरदास का काव्य भावों का उमड़ता हुआ सागर है । इसीलिए कवि की भावा विषयि के भाषा की सीमाओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है । यही कारण है कि सूर-साहित्य में अलंकारपूर्ण बह-कथन अप्रचुर मात्रा में मिलते हैं । परं रामचन्द्र छन्द का मत है—

'सूर में जितनी सहृदयता है उतनी ही नाग्विरग्यता । सूर का भाववैचित्र्य सहृदयता से समन्वित है और इसीलिए उनक पदों में अलंकारों का दृष्टिम प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता । अलंकारों का प्रयोग कवि ने सीमर्य-बाध क लिए ही किया है और वह अत्यन्त स्वाभाविक जान पड़ता है । सूर की रचनाओं में मुख्यतः उपमा रूपक उत्प्रेक्षा रूपकातिशयोक्ति,

१. उदाहरण, भा० म० स०, ब्रह्म लम्प, पद १४२० ।

२. वही, पद १९५ ।

३. भ्रमरगीत सप्त, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. १११ ।

४. उदाहरण, भा० म० स०, पद १०४५ ।

५. वही, भा० म० स०, ब्रह्म लम्प, पद १३२१ ।

६. वही, पद ४११५ ।

प्रतिबस्तूपमा ही ही पर्वत होते हैं । कवि का हेतु रूप-सौन्दर्य-निबन्ध द्वारा भाव-सौन्दर्य का पोषण करना था । जहाँ उनके काव्य में सव्यासकारों की अपेक्षा अर्थासकारों का ही प्रयोग अधिक हुआ है । सव्यासकारों का उपयोग सूरदास ने केवल 'साहित्यकहरी' में किया है । अर्थासकारों में उन्होंने यमक, अनुप्रास स्लेप, वीप्सा और बक्रोक्ति का ही विशेष रूप से प्रयोग किया है । स्लेप और यमक कवि के दृष्टिभूत पदों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । 'अनुप्रास का प्रयोग तो सूर-काव्य में अत्यन्त ही स्वाभाविक है क्योंकि अनुप्रास द्वारा वहाँ एक और ध्वन्यात्मक सौन्दर्य का विकास होता है वहाँ दूसरी ओर उससे वातावरण की सृष्टि भी होती है । वीप्सा अलंकार कवि के हृदय की भाँति-भावना का ही परिचायक कहा जा सकता है, क्योंकि उसका प्रयोग उन्होंने राधा और कृष्ण के खंग प्रसंग के सौन्दर्य-रस-गान से कृत न होकर बार-बार स्वल्प-वर्जन में किया है । बक्रोक्ति का प्रयोग व्यञ्जोक्तियों में है । व्यञ्ज को शृंगार रस का सर्वस्व कहा जा सकता है और शृंगार ने संयोग और वियोग—दोनों ही पक्षों में प्रेमी और प्रेमिकाओं द्वारा इसका व्यापार ग्रहण किया जाता है । सूर के काव्य में व्यञ्ज को भी महत्वपूर्ण स्थान मिलता है । उनके वास्तव्य में भी हमें व्यञ्ज के दर्शन होते हैं । विरहिणी गोपियों की उक्तियाँ तो उनके भावों के साथ व्यञ्ज को भी लेकर निकलती हैं । इसलिये उनमें बक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं ।^१ सूरदास ने सांख्यिक का प्रयोग सबसे अधिक किया है । मिमंसासिद्धि पद में सूरदास पतियों के राधा चिन्ति हुए हैं—

हरि हों सब पतितन को राधा

मिन्ना परमुक्तपूरिबहरी जब यह मिलत मिल जाया ।

सूझा हैस सब शुभांग सतोरण, इन्ही लखन हजारी ।

जैसी काल कुलति वीरि की ओर रहस प्रतिहारी ।

जब महुँकार बहयो विचविचयी, जोम छन करि छीत ।

कौन असत-संगति की मेरे ऐसी ही मैं हूँ ।

वीर-भय बन्धी पुन भावत भागव बोध प्रसार ।

सूर पाप को मरु हड़ कीन्ही, मुहकम लख विचार ।^२

इसी प्रकार सांसारिक विषयों का तात्-तात्कर कवि अन्त में भवबन्ध से छुटा है—

जब हों लखी बहुत गोपाल ।

काम कोय को पहिर जोतना कँठ विषय की माल ।

महामोह के नुपुर बाजत मिन्ना-शब्द रसाल ।^३

अप्रस्तुत प्रशंसा का बहुत ही सुन्दर प्रयोग मिमंसासिद्धि पद में हुआ है वहाँ पाद के माध्यम से माया का सुन्दर वर्णन हुआ है—

मायो खु यह मेरी हक गाय ।

जब भाव तें जाय पाये बई, नै भाव तें बराह ।

१ सूर और काल साहित्य, डॉ. बरकतुल्लाह खान, पृ० ४३२ ४० से ४३३ ४० ।

२ सूर सागर (समा), पृ० १४४ ।

३ कवी, पृ० ११२ ।

यह अति हृष्टार्थ हृष्टस्त हूँ बहुत प्रभारग जाति ।
 फिरति बेह-बन-ऊँछ उच्चारति, सब किम भव सब राति ।
 हित करि मिले सेहु पोमुल पति, प्रपने पोधन माँह ।
 मुक्त सोऊ मुनि बचन सुनहारे, हेतु छपा करि बाँह ।
 निपरक एही सूर के स्वाभी अनि मन जानो घेरि ।
 मन-ममता रवि सौ रजवारी, पहिने सेहु निबेरि ।^१

कृष्ण की मुक्त-सवि-बर्णन के प्रसंग में उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिए—

मुक्त-सवि कहा कहीं बनाइ ।
 निरखि नितिपति बरन-सोमा वयो पगम कुराइ ।
 प्रभुत अनि अनु पिबन छाए, छाह रहे तुमाइ ।
 निकवि सर तै पीम मानो, सरत कीर कुराइ ।^२

इसी प्रकार प्रतीय सम्वेद, अतिप्रयोक्ति सम्भावना व्यतिरेक अपहृष्टि जाति के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

प्रतीय

मुक्त-कवि देखि हो नम्र प्ररनि ।
 सरव निशि को प्रनु प्रगनित हुनु धामा हरनि ।
 नसित भी पोपास-सोचन-मोल-मौसु-सरनि ।
 मनहुँ बारिज निनकि विप्रम, परे पर-वस परनि ।
 कनक-मनि-मय-अटित-कुण्डल-मोति अपमय करनि ।
 निम-भोजन भगहुँ छाए, तरल मति हूँ तरनि ।
 कुटिल कुमल, मनुष मिनि मनु, किमी बाह्य सरवि ।
 बरन कान्ति विसीकि सोमा सके कुर न करनि ।

अतिप्रयोक्ति

जब मोहन कर घड़ी भवानी ।
 परवत कर रवि, माट भेति, बिल प्ररवि संत, बाहुकि भय मानी ।
 कबहुँक तीनि वेग जुग भापत, कबहुँक बेहरि उर्ध्वि न जानी ।

अपकृतिप्रयोक्ति

काँचन, पीन, सु ग, बारिज, मृग पर हुम अति रवि पाई ।

व्यतिरेक

उपमा नेन न एक एही ।
 कवि जन कहत-कहत सब छाए, मुनिकरि ताहि कही ।
 कहि बकौर बिपु-मुन किनु पीबत, प्रमर नहीं छड़ि जात ।

१. यद् सगम (समा), पद २१ ।

२. वरी, पद १०० ।

हरि-सुख-कमल-कोप बिछुरे तें, हासे कत ठहरत ।
ऊँची बचिक ध्याम हूँ धाप, मृत सम क्यों न पलात ।^१

अपहृति

बालक न होइ कोउ बिरहिनी नारि ।

पगहूँ पिय पिय रबनि सुरति करि भूठैहि भाँसत नारि ।^२

मन्दरास के अलंकार प्रयोग में कई मिश्रित छंदों के वर्णन होते हैं। रास-पंचाध्यायी में उन्होंने अधिकतर साम्यमूलक अप्रस्तुत योजनावर्णों का ही प्रयोग किया है। रस-साम्य और सुख-साम्य का एक उदाहरण देखिए—

कुषा रस रस-देन नैन रत्नत रतनारि ।

कृष्ण रसासव पाग अलस कुछ घूम कुमारि ।^३

साम्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना में तात्त्विक उपमावर्णों का प्रयोग करके उन्होंने छान्दस्य और अनुप्रास का मणि-कोष-मोम प्रस्तुत किया है। इसका एक उदाहरण है—

कोमल किरन अरुणिमा बन में व्यापि रही अस ।

मनसिब बैसी पिय घुमकि पुरि रह्यो पुलान अल ।

मन्दरास की अप्रस्तुत योजनावर्णों में तात्त्विकता का एक दूसरा उदाहरण है—

मन्द-मन्द बनि जाइ बगिका अस छवि पाई ।

असकति है पिय रमा-रमन की मनु तकि भाई ॥^४

वर्णचोक्ति के चमत्कार और अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

बा सुन्दरि की रसा देखि कहत न बनि धारै ।

बिरह मरी पुतरी कु होई तो कुछ छवि पावै ॥^५

अंशानुप्रास पैकानुप्रास और कृतानुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

ए बरबल ! कुलमन्थन सब कहु करन सिराधनु

मन्द-मन्दन जयजयन जयन, हसहि मिलावहु ।^६

पुनर्वक्ति प्रकाश और यमक के कुछ उदाहरण हैं—

छोटी सी कन्हैया, सुख सुरली मधुर छोटी

छोटे-छोटे न्यास-बाल, छोटी पाय सिरन की ।

छोटे-छोटे कुण्डल कान मुनिन ह के छूटे ध्याम

छोटे पर छोटी नद छूटी धलकन की ।

१ रासमग, पृ. ४१६ ।

२ गरी (२ मं) ५ ४६९ ।

३ रास-पंचाध्यायी, पृ. २ खो. २ ।

४ गरी, पृ. ७ खो. ४२ ।

५ गरी ५ २४ खो. ४४ ।

६ कन्दरास चमत्कारी, रास-पंचाध्यायी, अक्षरानुसंधान पृ. २४ ।

छोटी-सी लकड़ि हाथ छोटे-छोटे बछरा लान ।
छोटे से कान्हूँ बेकान घोषी भाई घरन की ।^१

× × ×

रही न तनक सयेत सुय मिल मन्धकुमार पिय
मियत मिलन यह जैठ बाब-बाब बनुरन गहूँ ।^२

चतुर्भुजशत के मल्लकारों का प्रयोग भी परम्परागत है । जैसे—

उपमा कहो न बाह मुखर पुन धामम् ।

बालक मुख मण्डप प्रकटे पुरनकाह ।^३

पुष्प की रस-सोपुष और ली की एकनिष्ठ भावनाएँ भी परम्परागत उपमानों के माध्यम से ही व्यक्त की गई हैं—

हम बुधावन मानती तुम घोषी मौर सुवास हो ।^४

एक क्लृप्त में कवि कहता है—

रक्षणी राख मियो बिहुल नगर की पानी ।

मदन महीपति जीति बहुत रनु काम-बल सखित बंधानी ।

वरम सुर सौन्दर्य सृष्टि वनु धमियारे रीन बास सँयानी ।

बास चतुष्टुल प्रभु विरिपर रस-सम्पति बिलसी धौं मनमानी ।^५

छोटस्वामी और परमानन्ददास के काव्य में मल्लकारों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण नहीं है । यदि कहीं मल्लकारों का प्रयोग हुआ भी है तो वह अधिकतर विचारों या सिद्धांतों की व्याख्या के लिए ही हुआ है । जैसे—

भी बिहुल शाने और पम्ब जैत बलकूप ।^६

इसी उपमान का दूराध प्रयोग दीहृष्ण के कप-विषय में हुआ है ।

मैननि निरखें हरि के कप ।

निकसि सकत नहि सावनि-मियि तें मानी परधी कोऊ कूप ।^७

छोटस्वामी के अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

साधो रिपुराज लान पंचमी बधम्न धाव

बीरे द्रुम धति अनुप धाम्य रहे सुती ।

देओ अपरी तमास लेत वीत बुलुम लाम

कड़वत रंग स्याम भाव भँवर रहे सुती ।^८

सूरदास की इस गीति मीराबाई का काव्य भी मान्य है । उनके पदों में बिरहिणी की तीव्र

१. मरदास मन्धकरी, छोटस्वामी, मरदासदास, पृ० ११८ ।

२. यही, पृ० १११ ।

३. चतुर्भुजशत, पृ० ४३ ।

४. यही पृ० १२४ ।

५. यही, पृ० १२८ ।

६. बौदधामी छोट कवके पद, पृ० १० ।

७. यही, पृ० ४३ ।

८. यही, वि० वि० कांफरोली, पृ० २० ।

बैदना है। अतः उनके पक्षों में बलकारों का समावेश स्वाभाविक ही है। उनके काव्य में कर्म के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

ज्ञान को डोस बैठो प्रति भारी

उपमा उत्प्रेक्षा, व्युत्पत्ति, विभावना विभावोक्ति, अर्थान्तरग्यास, स्तब्ध, बीप्सा, अनुप्रास के निम्नलिखित उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

उपमा
जस दिन बँदल जस दिन रखनी, ये दिन जीवन जाय ।

उत्प्रेक्षा
कुम्हस की घसक-सलक, कपीलन पर सड़ाई ।
सनी नील खरखर तबि मकर मिलन साई ॥

व्युत्पत्ति
पिछुतां बिलुतां बँस गया, रेखां घायलिया की सारी ।

विभावना
बिति करतास पकावज बाबे, मरुहूब की मरुकार है ।

विभावोक्ति
बसो मोरे जीवन में नम्रजान ।

अर्थान्तरग्यास
हेरी म्हां बरव विभाजी, म्हारां बरव न जाय्यां कोय,
घाइन री बल भाइन जायें और न जायें कोय ।
बीहरी की बल बीहरी जालें, क्या जाय्या बिज कोय ।

स्तब्ध
ओह जिरमिड नौ मिला साँपरो ।
जोस मिली तन गाली ।

बीप्सा
घंगि-अंगि व्याकुल भई
धुति पिय-पिय बली हो ।

अनुप्रास
सभरय सरख तुम्हारी साहयां
सरख सुधारण काज ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मीरा के काव्य में बलकारों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है पर उन्हें काव्य के सौन्दर्य-वृद्धि के लिए बलपूर्वक नहीं दूँया गया है, अपितु भावना की गहराई और अनुभूति की तीव्रता के कारण ही काव्य में उनका समावेश अत्यन्त स्वाभाविक रूप से हो गया है।

पहले कहा गया है कि बलकार काव्य का एक आवश्यक अंग है और काव्य-सर्जना में मरुका प्रयोग अनिवार्यता की पूर्ति के लिए आप-से-आप हो जाता है। केदाब की मोति यदि कवि कविता-कामिनी को बसाव बलकारों से लाव है तो दूसरी बात है पर ऐसी रचना में

में वे काव्य के सौन्दर्य के साधक न रहकर बाधक बन जाते हैं और काव्य का स्वाभाविक सौन्दर्य कुत्रिम जयमवाहक से ढँक जाता है ।

हिन्दी कृष्ण भक्त कवियों की ही भाँति मराठी कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में भी अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है परन्तु मराठी के भक्त-कवियों का अलंकारों के प्रति एक विद्रिष्ट दृष्टिकोण रहा है । उन्होंने अपने काव्य में अलंकारों को केवल प्रयुक्त ही नहीं किया बल्कि उनके गुणों पर भी उन्होंने प्रसंगवश विचार किया है । ज्ञानेश्वरी के उपसंहार में ज्ञानेश्वर कहते हैं—

अम्मु कैसा पडिजे । प्रयेय कैसे यां पडिजे
अलंकार भूतिजे । काह ते मैले ।^१

(सम्ब का कैसे प्रयोग करना चाहिये, प्रतिपाद विषय का किस प्रकार निरूपण करना चाहिए तथा अलंकार कैसे कहना चाहिए, यह सब मैं नहीं जानता ।)

उपा

कैसे आनिजेनि सौन्दर्यपदों, तेसेयासि आनिधि होय मैलें
तेच अलंकारलें कवच कवले, हे निषयेना ॥^२

(सुन्दर शरीर पर अलंकार पहनाने से शरीर में जो सुन्दरता आती है उससे अलंकारों का शरीर ही अलंकार बन जाता है ।)

उपर्युक्त दोनों ओबियों से काव्य-सृजन के लिए काव्य-गुणों की आवश्यकता परिचाय होती है । इसी प्रकार एक दूसरी ओबी में जाकर कवि कहते हैं—

पुरालीजे बलवाजे । रतासंकारे साधजे
सृष्टेनि माओ न निबडे । कला विदांनि ॥^३

(रस और अलंकार के विषय में कलाकार परीव और भोले होने के कारण समूह के अर्थ को जान नहीं समझते ।)

मुकाराम कहते हैं—

आध्यात्मिया रत्निककमी अलंकार, तेखे विरचन्मर पुनिपठा ॥^४
येथे अलंकार ओमटी सकल । जावबले पल हकीयेतें ॥^५

(धार्मिक रत्नों से अलंकार बनाकर उनसे विश्वम्भर की पूजा की । यहाँ सभी अलंकार सोपायमान हैं और वह सब मार्गों की प्रवृत्तता के ही कारण है ।)

संत ज्ञानेश्वर द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

ऐसे निजबनारसैं । तेखें जगदाधिकरैं ।
बोलितें मुकुन्दे । संजबो भूखें ॥^६

१ ज्ञानेश्वरी, १८-१७७३ ।

२ कवि, १०-१४३ ।

३ कव्यमणि ११ ।

४ मुकाराम गदा भाषा ४००४ ।

५ कवि भाषा १०७३ ।

६ ज्ञानेश्वरी, १३१३३ ।

उपमा काव्य उपमा, इष्टान्त रूपक उत्प्रेक्षा निदर्शना, समन्वय अपहृति एकावली इत्यादि अलंकारों से परिपूर्ण है। उपमा और इष्टान्त अलंकारों का तो बहुत ही प्रयोग हुआ है। उपमा का एक उदाहरण देखिए—

बीं पाकीचा मेव बींसा रज्ज्वर मिरवतसे तैसा।^१

(अबुल का रज पंखपारी मेव पर्वत के समान है।)

निम्नोक्त कवियों में इष्टान्त अलंकार का प्रयोग हुआ है—

तो तू परंजहाधि असके। सब बींसे बिपलासि हस्तोरके।

तरी घातां भेदु कासमा के। देखाया कमर्बे।

बीं पाकजिवाची बाभारी। रिमाजिवापरिहि उबार।

परि राखेपबे घातुंकरा। बोसा हे तुम्ही।^२

(ऐसे तू परंजहा को घाम्य मे मेरे हाथ पर उबक छोड़कर मुझे बान दे दिया है। तो अब घेव है ही कहाँ ? उसे कीन और कहाँ देखे ? यदि यह कहा जाए कि चम्पू की किरण के अन्तर्भाग में प्रवेश कर लेने पर भी नहीं छग रही है तो ऐसा कहना छोमा नहीं देना। परन्तु हे श्रीकृष्ण, आप अपने बहुप्य में असम्बद्ध बातें कर रहे हैं।)

असम्बन्ध का उदाहरण है—

बींसी अमृताची चबी मिमदिबि।

तरी अमृताधि सारिणी ह्राहन्बि॥^३

(अमृत के स्वाद का वर्णन किया जाए तो उसे अमृत के समान ही कहना होगा। उही प्रकार ज्ञान को ज्ञान की ही उपमा देनी होगी।)

मराठी संत-कवियों के पदों में आये हुए अलंकार-वाचक शब्दों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए डॉ० माधव गोपाल देशमुख कहते हैं—

‘उपमा श्लेष तथा वर्णक—इन संज्ञाओं के उल्लेखों से विदित होता है कि ज्ञानेश्वर और महानुभाव कवियों के समय में साहस्यमूढक अलंकारों के विषय में संस्कृत साहित्य शास्त्र को देखते हुए एक स्वतन्त्र तथा पृथक् इष्टिकोण था। संस्कृत में मिल्ग वस्तुओं के साधर्म्य को ही उपमा कहा गया है। यह साधर्म्य यदि समानता अथवा तुलना से दिखाया गया हो तो उसे स्वतन्त्र अलंकार मान नहीं लिया गया है। परन्तु महानुभाव कवियों के विचार में वही उपमा अथवा साहित्य है।^४ के आते कहते हैं—‘प्रचीन मराठी कवियों को श्लेष शब्द की अनेकार्थता का अर्थ अभिप्रेत नहीं था। उन्होंने उपमा, श्लेष तथा वर्णक को परम्परागत साहित्य-शास्त्र से मिल्ग अलंकार माना है। उपमान और उपमेय का तुल्य भाव हो तो ‘उपमा’ होती है। तुल्य भाव दिखाकर उपमान को रूपण देने से श्लेष होता है और भेद उपमान देकर उपमेय की प्रशंसा करने से वर्णक अलंकार होता है।^५

१. ज्ञानेश्वरी, १।१६६।

२. वही, १०।६९९-७०।

३. वही, ४।२८२।

४. मराठीचे ऐतिहासिक साहित्य, डॉ० माधव गोपाल देशमुख, पृ. १७९।

५. वही, १०।१८३।

इतना अवश्य है कि मराठी के कवियों की अंशकारों के विषय में अपनी निजी पार
माएँ हाते हुए भी उनके काव्य में परम्परागत वर्णित अंशकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ
है। अन्नेकर, एकमात्र रामदेव और तुकाराम ने उपमा, रूपक इत्यादि आदि का बहुसंख्य
से प्रयोग किया है। महानुमान कवि शैलेश्वर का 'विविध-स्वरूप' अंशकार वैभव का साधार
ही है। उन्होंने उपमा, इत्यादि उत्प्रेक्षा अपह्नुति तथा रूपक का विशेष रूप से प्रयोग किया
है तथापि उत्प्रेक्षा और अपह्नुति की ओर उनकी सबसे अधिक रुचि रही है। कुछ उदाहरण
देखिए—

उपमा

कात्स्न्यरश्मि करंछिणे जैसे मीरिज मूर्ति प्रकाशे ।

पाच्छा लुपहेवांतुमि तैसे भावपुत्र इच्छा ती ॥

(पारवर्तक स्फटिक पान में रखी हुई प्रतिमा के समान बारीक पत्त में से उनके अवयव
सुन्दर दिखाई दे रहे हैं।)

उत्प्रेक्षा

तमं उचित-चन्द्रिका मूले सूर्या अस्तावली होत उपेचें
जैसे तेजाचें लम्बिते बोपचें : महीं पक्क्याचा
की कुकुम-बनी सरागु संपावत नृपार-निहिगु
की त्रिनेत्रें तापमा अनंगु रिपत वरचन-समुग्री
की देविला प्रकाशाचा मुद्रा वातछीं वेधे होत परका
की श्रीकृष्णें अघिला परचमिली करा : कपळ-कांतिचेनि
की संभ्या-सरोवरीं सारसीचा विभव : कर्क आला लोभ्याचा सारगु
तैसा सूर्या होताय प्रवेष्टु अस्तावेली ।^१

(अस्तावन्त के सूर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है—यह चन्द्रिका उचित ही कहती है—
'अस्तावन्त पर सूर्य का आवगमन ऐसा कम रहा है मायो मूले के मठ में प्रकाश की राशि
संप्रदित हो उठी हो या अस्तमान सूर्य पर अनुरक्त मृगार विह्वल सपट पड़े हों या भववान्
त्रिनेत्र की लोचनानि से वस्तु मल्ल परिचमी सागर में क्षिर रखा हो या प्रकाश का पुंज
पाताळ जाने की बाध लोचकर आरक्त हो रहा हो या श्रीकृष्ण ने परिचमी तट पर कमल-
कांति का वर्णन किया हो, या संभ्या-सरोवर में सारसी का जीवने के लिए सोने का सारस
आ गया हो।)''

अपह्नुति

की चक्र मल्लें ते रवेत द्वीप : मासारि सांखर्षे श्रीकृष्णाचे वप
वरि टाकीनि पाहों आते स्वल्प : श्री चक्रवर्ताचें
की ध्रुवीसकाचां प्रसादीं जैसा नाछिवा अमुखाचा भारिला
तेव श्रीकृष्णाचा विवला ठसा : कर्मगु मल्लें तो ।^२

(चक्रोदय का वर्णन करते हुए कवि कहता है—वा वह चक्रमा न होकर रवेत द्वीप हो।

१ बरेल्ल कवि छत्र विविध स्वरूप, सं० डॉ० मि० अ० कोलते, पृ० ५६।

२ बरेल्ल, पृ० ५९।

चन्द्रमा का कर्त्तक श्रीकृष्ण का ही सौमित्र रूप हो जो श्री चक्रधर (महानुभाव पद्म के प्रवर्तक स्वामी चक्रधर, जो श्रीकृष्ण के ही अवतार माने जाते हैं) का स्वरूप देखने के लिए उभर आया हो या चन्द्रमा भू-मोक्ष के प्रासाद में छने हुए अमृत का वाहिनी हो। चन्द्रमा में श्रीकृष्ण का रूप ही विम्बित हुआ है। वह कर्त्तक नहीं है।)

नरेन्द्र की ही माँति भास्कर कवि का काव्य भी सम्भासकारों तथा सर्वाङ्गकारों से भरा पड़ा है। मुख्य अस्कार हैं उपमा उत्प्रेक्षा इष्टान्त तथा यमक।

भामहेश की ब्रह्मोक्ति का एक सुन्दर प्रयोग निम्नोक्त पंक्तियों में देखा जा सकता है—

पतीतपावन नाम ऐश्वरी जाती भी बारी।

पतीतपावन न होति मृचुनी जाती भी भार्या ॥

बेसी ऐह्य हैसी ऐसा अससी ऊनार,

काम देवा रोष तुमचें कृपाचें बार।^१

(बाप पतिपावन है यह सुनकर ही मैं आपके द्वार आया था परन्तु आप पतिपावन नहीं हैं इसलिए अब वापस जाता हूँ। आप इतने उदार हैं कि पहले सेते हैं तब कहीं देते हैं इसलिए हे मन्वान, आप-जैसे कृष्ण का द्वार मैं क्योंकर रोके रहूँ।)

उक्त तुकाराम के काव्य में बनायाव ही अनुप्रास इष्टान्त उत्प्रेक्षा आदि अस्कारों का समावेश हो गया है। कुछ उदाहरण देखिए—

अनुप्रास

पिछेनिया पाछे पुष्पांचा परिमल।^२

इष्टान्त

निनासिकाही बैसा नाबडे आरसा

मूर्खालाभी तैसा आत्मबोध।^३

(बिना प्रकार मकटे व्यक्ति को बाँहा नहीं जाता, उसी प्रकार मूर्ख व्यक्ति को आत्मबोध नहीं बुझाता।)

उत्प्रेक्षा

हरिनामबेसी पावसी विस्तार

कसी पुष्पी बार मोक्षमखी

तैचे भास पा मना हीई पसिराव

सायायया काव तुम्हीचें वा।^४

(हरिनाम रूपी छतिका जहाँ पनपी और फुली हो वही है मेरे मन तुम पखीपन बनकर वृष्टि का कार्य साधने के लिए निवास करो।)

भामादर पंडित श्रीधर मोरोपन्त नामन आदि परवर्ती कवियों का काव्य तो अङ्गकारों की निधि ही माना जाता है। इन कवियों की अङ्गकार-योजना से उनकी कविता

१ मराठीका परिमल, डा म शिखरे, पृ० ६७।

२ तुकाराम, रा म हर्षे, पृ १४५।

३ स्त्री, पृ० १४२।

४ स्त्री।

कामिनी अधिक शोभायमान ही हुई है, बोधित नहीं। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों की ही भाँति मराठी ने कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में भ्रंशकार-भोजना परम्परागत होती हुई भी उसका विभाग भावामिष्यवना के लिए ही हुआ है।

मनोरंजक एवं कल्पनामय वाक्य-रचना को काव्य कहा जाता है। ऐसी रचना मध्य में हो सकती है और पद्य में भी। पद्य रचना में पाव या चरण हुआ करते हैं। ये पाव या चरण मध्य रचना में नहीं होते। यही गद्य और पद्य में भ्रंश है। पद्य की रचना जिन संरचना संगीतात्मकता इसके अतिरिक्त पद्य में उपयुक्त होती है। पद्य की रचना जिन निश्चित नियमों से होती है उन्हें छन्द कहते हैं। छन्द के विषय में जीसावर मुक्त लिखते हैं—

‘सम की उत्पत्ति भ्रष्टवर्ण से है और भ्रष्टवर्ण को उत्तेजित करने की उसमें विशेष समता है। छन्द हमें हँसा सकती है। छन्द हमें रसा सकती है, छन्द हमें आकृष्ट कर सकती है। छन्द हमें उत्कृष्ट कर सकती है। छन्द हमें सुखा सकती है। छन्द हमें जगा सकती है, छन्द हमें शांत कर सकती है। छन्द हमें जगत् कर सकती है। छन्द हमें संसार में अनुरक्त कर सकती है। छन्द हमें उपाधीन कर सकती है, छन्द हमें हमारा सच्चा रूप दिखा सकती है, छन्द हमें ब्रह्म-श्रान्ति की ओर जगत् कर सकती है, छन्द हमारे पदों में हरकत कर देती है हम ठाक देने लगते हैं, छन्द माचने लगते हैं। छन्द हमारे हृदय हमारे फेफड़े, हमारी नाड़ियों को प्रभावित कर देती है। छन्द के प्रधान के हेतु छन्द का विवेक रूप प्रभाव होना चाहिए। माव की वहाँ भीती पति हो वहाँ भीती ही छन्द होनी चाहिए।’

‘पद्य की छन्द में एककम्पता और नियमितता होती है। उसमें छन्द और पद्य का हाँचा

भी होता है, ऐसा व्यवस्थित आदेशार पद्य ही छन्द होता है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द प्रवेक्षण (Anticipation) की प्रकृति को उत्तेजित करके शब्दों का एक-दूसरे से सम्बन्ध बलिष्ठ कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोह मिटा-सी से जाता है और सुबिचारिता सूचकता और संवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी पति और ध्वनि से शब्द प्रकाशन करता है। यदि भ्रष्टवर्ण अति तीव्र हो तो छन्द उसकी तीव्रता कम कर देता है और यदि भ्रष्टवर्ण मन्द हो, तो छन्द उसको उत्कृष्ट कर देता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है। काव्यात्मक अनुभव को ध्वन्य धारापर्यन्त जीवन के दोषों से दूर कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है। छन्द कल्पना को प्रज्वलित करके कवि को ऐसी हृदयमान और मोहक प्रतिमाएँ प्रदान करता है, जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।’^१

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य की कलात्मकता में छन्दों का एक विविध महत्त्व है और इस महत्त्व को बहुत प्राचीन काल से स्वीकार किया गया है।

^१ पारचय साहित्यसोचन के सिद्धान्त, लीयरर ग्रन्थ, पृ. २२६-२२७।
^२ पृ. १००-१०१।

गायत्री निष्ठुर अनुष्ठुर अगती जाति वैदिक छन्द और मध्याह्नस्था हुसकिम्विठ, शार्ङ्गक विन्नीविठ छिन्नरिणी जाति औदिक संस्कृत के छन्दों का इसी छन्द के आधार पर विधान हुआ है।

छन्द-शास्त्र की इस परम्परा का पाश्चम काव्य के अनिवार्य तरह के रूप में मराठी और हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य में स्वाभाविक रूप से ही हुआ है। हिन्दी भक्त-कवियों की रचनाएँ येय-नद रीती में हाने के कारण उनके अधिकांश पद कीर्तनोपयोगी संगीत पर आधारित हैं और इसलिए छन्द-शास्त्र की कठिन कसौटी पर उन्हें नहीं कसा जा सकता। हम पहले कह चुके हैं कि अष्टछाप के अधिकांश काव्य की रचना कीर्तन के लिए ही हुई है। अतः पितामह-शास्त्रीय छन्दों की अपेक्षा संगीत-शास्त्रीय राग रागिनियाँ ही उनके काव्य में दिखाई देती हैं। ठीक यही बात मीरा के पदों के बारे में भी कही जा सकती है। उसके सभी पद इकट्ठारे पर माने हुए पद हैं। इसलिए उसके पदों में शब्दों की अभिव्यक्ति और संगीत की संकार का प्रमुख समन्वय हुआ है। फिर भी मीरा के काव्य में कम-से-कम पन्द्रह छन्द मिलते हैं जिनमें से मुख्य हैं—सरसी सार, विष्णुपद बोहा उपमान समान सबैया, शोमन ठाटक कुम्हळ, चन्नावय।

डॉ० जेम्स बर्मी ने अपने ग्रन्थ 'सूरदास' में सूर के छन्दोविधान पर विशेष रूप से विचार किया है और छन्दों की दृष्टि से 'सूरदासर' के वर्णनात्मक एवं श्रेय सभी वंशों का विस्लेषण करते हुए दिखाया है कि सूर की रचनाओं में निम्नलिखित छन्द हैं—^१

वर्णनात्मक प्रसंगों के छन्द—

१ चौपाई चौपाई बोहा रोका तथा उनसे निर्मित महीन छन्द।

२ चम्प (१० ७) भानु (६, १३) कूडस (१९, १०) सुबबा (१२ १०) राविका (१२ ६) उपमान (१९ १०) हीर (६, ६ ११) तोमर (१२ १२) शोमन (१४ १०) कमलाका (१४ १०) मीरिका (१४ १२) विष्णुपद (१६ १०) सरसी (१६ ११) हरिपद (१६ ११) सार (१६ १२) कावनी (१६ १४) मीर (१६ १३) समान-सबैया (१६ ११) मत्त-सबैया (१६, १६) हंगाळ (२० १७) और हरिप्रिया (१२, १९, १०)

अथ अष्टछाप कवियों की रचनाओं में निम्नलिखित छन्द प्रयुक्त हुए हैं—सार, चौपाई बोहा रोका जाति। रोका छन्द का प्रयोग मध्याह्न ने 'रुक्मिणी-संघ' 'पुष्ट पंथा ध्यायी और सिद्धास्त पथाध्यायी' में किया है। नवदास के 'भैरवगीत' में रोका-बोहा का मिश्रित छन्द प्रयुक्त हुआ है।

मराठी कृष्ण-काव्य में छन्द-विधान पर विचार करते समय विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य बात यह है कि मराठी भक्त-कवियों का सर्वेस्य अपनी रचना द्वारा लोक-आवृत्ति करना ही था।^२ अतः कीर्तनोपयोगी काव्य की रचना करते समय उन्होंने इस दृष्टिकोण को बचकर अपने सामने रखा रहता। कोरु-जानवरण का यह सर्वेस्य सभी पुरा हो सकता था जब वे लोकप्रिय भाषा और छन्दों का प्रयोग करके अपने काव्य को सरल सुबोध एवं लोकप्रिय

१ सूरदास डॉ० जेम्स बर्मी, पृ० ३७३ तथा ३७६।

२ श्री बादेकर, काव्य मय जाति मारी, पृ० ४०, काव्य पृ० ४०।

बनाते हैं। बत-बित धर्मों का मराठी कृष्ण-यक्ति-साक्षा के कवियों ने प्रयोग किया है सब-से-सब लोक-प्रचलित छन्द है। ये छन्द इस प्रकार हैं—

शोभी—शोभी का अर्थ होता है—सुमिष्ट या शयित। प्रत्येक शोभी में तीन चरण होते हैं। चन्द्र-योजना अनुप्रासयुक्त होती है और तीनों चरणों में अन्त में यमक होता है। चौथे चरण की स्थिति घाते की टेक के समान होती है। यह तीन पाँच की पदावली एक भाव-विशेष को सुमिष्ट करने के कारण ही 'छन्द' कहलाती है। कहा जाता है कि शोभी का जन्म कृष्णवर्ण और पहेलियों से हुआ है। म्यारहवीं शताब्दी में रचित 'अभिलषितायें चिन्ता मयि' में शोभी का उल्लेख है। शोभी जन-मनोहर छन्द है यहाँ तक कि महाराष्ट्र की साम्प्रदायिकी स्त्रियाँ अपने दैनिक व्यवहार के विविध प्रसंगों पर शोभियाँ पाती हैं।

ज्ञानेश्वरी की रचना शोभी छन्द में ही हुई है। ज्ञानेश्वर के अतिरिक्त नरेश्वर कवि भास्कर कवि संत एकनाथ दामोदर पंक्ति आदि सभी ने शोभी छन्द में अपने काम्य की रचना की है। नरेश्वर कवि का श्रियजी स्वयंवर, 'एकनाथी जागवत' भास्कर कवि की 'उद्भव गीता' तथा 'सिधुपाव दय' दामोदर पंक्ति का 'वच्छहरण' तथा मुक्तेश्वर का 'भारत' सभी शोभी-बद्ध छन्द हैं।

अर्चन—अर्चन छन्द मराठी लोक-छन्द है। इसकी उत्पत्ति की कोई सीमा नहीं होती, इसीलिए इसे अर्चन (बहुत) कहते हैं। एक अर्चन में दो से लेकर दो सौ चौक भी जा सकते हैं। अर्चन के एक पंक्ति-समूह में चार चरण होते हैं और चार चरणों का एक चौक होता है। इन चरणों में पद्य भाषा और अक्षर का एक ही नियम लागू नहीं होता। ज्ञानेश्वर, एकनाथ तुकाराम आदि ने शोभी के साथ-साथ अर्चनों में भी पर्याप्त रचना की है। 'एक-वाणी बानी' में एकनाथ के छारे अर्चन संक्षेपित हैं। इन अर्चनों में एकनाथ ने सामान्य धर्म का विकास और स्वाधुष्य का वर्णन किया है। स्फुट अर्चनों की अपेक्षा आख्यानपरक अर्चनों में एकनाथ की बानी अधिक उमनीव सिद्ध हुई है। पर तुकाराम के स्फुट अर्चन ही अधिक सुन्दर और प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं।

माकड़—जनता में बहुत बड़ होने के कारण ही इस नील-दीप्ती का नाम माकड़ पड़ा। इसमें धार्माधिक पाठों के प्रति व्यंग्य किया जाता है। समाज की कड़ि पर व्यंग्य करना माकड़ का मुख्य ध्येय है। व्यंग्य में शोक होता है पर कटुता नहीं होती और इस-लिए हँसी-हँसी में ही व्यंग्य दिया जा सकता है। माकड़ की इस विशेषता के कारण ही यह नील-दीप्ती जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। पातञ्ज की गिल्बी उद्गाहर लोक में जायति सरास्य करने के लिए बड़े दीप्ती व्यंग्य उपयुक्त होने के कारण आज घड़ी प्राचीन सत्तों ने इसका उपयोग किया है पर, एकनाथ के माकड़ बहुत तीव्र और अर्थसाथी हैं।

गौडन—गौडन का अर्थ मराठी में खालिज होता है। मराठी कृष्ण-भक्त कवियों ने 'गौडन'—अर्चनों में गोरियों के कृष्ण-श्रेय को अभिव्यक्ति दिया है। तुकाराम न कद गौडन में पड़ी है। कई भक्त कवियों ने रागात्मिका भूति को गौडन पढ़ा है क्योंकि यह भीकृष्ण को भुरली मुलते ही उठीमें तमय हो जाती है।^१

१ एक मनी गाथा आये।

२ हिन्दी के मराठी छन्दों की रचना, आचार्य निम्बोकर शर्मा, पृ. २१५।

प्रबोध—यत्रहवीं सताब्दी में इसका चलन आरम्भ हुआ। भक्त-कवियों ने भक्ति के पद माने के लिए इसका प्रयोग किया है।

साखी—संत तुकाराम ने साखी छन्द का भी उपयोग किया है। संत तुकाराम की एक साखी का साराहण देखिए—

तुकाराम संजीवनीय रागु लैसा आपनी हात

बैगु बधरा छोर क्याय प्रेम न घुरै सात।

धार्या—धार्या छन्द का प्रयोग भोरपन्त ने बहुलता से किया है। भोरपन्त की धार्या और वामन पंडित के श्लोक मेरठ की साहित्य की प्रमुख निधि माने जाते हैं।

बख्ते—बख्ते वर्ण्य छन्द के समान चार चरणों का अनिवारित अक्षर संख्या का छन्द है। मेरठ की भाव कवियत्री महदेव्या स्वामी बख्तर के प्रमुख शिष्य मागदेवाचार्य की पत्थरी बहन भी। बिबाह प्रसंग पर माने योग्य कृष्ण भक्ति-रस से परिपूर्ण 'बख्ते' उसने लिखे हैं।

स्त्रीरु—वामन पंडित ने अपनी रचना श्लोकों में की है। संस्कृत साहित्य की परम्परा का पोहन महापद्य के पंडित कवियों का ध्येय था। छन्द बचन में भी उन्होंने संस्कृत-छन्द को ही अपनाया। वामन पंडित के श्लोक महापद्य में बलवन्त लोकप्रिय हुए हैं। लोकोक्ति भी हैं—

तुलनात्मक कामनाका प्रसिद्ध बाणी धर्मज तुकसाखी।

भोबी ज्ञानिजाणी किबा धार्या सधुरपन्ताखी।

(बर्खास्त वामन पंडित के श्लोक, तुकाराम के वर्णज ज्ञानेश्वर की जोषी तथा भोरपन्त की धार्या प्रसिद्ध हैं।)

सावनी—सावनी की भण्डारे में सावनी कहा जाता है। यह पीठ का एक प्रकार है। इसका अर्थव्यय से सम्बन्ध है। इसका मुख्य भाव श्रृंगार होता है। ऐकवाकालीन महापद्य में विज्ञासप्रियता की अभिवृद्धि के समय बनता सावणियों की ओर प्रवृत्त हुई थी। इस समय कई कवियों ने उत्तान श्रृंगारपरक कई सावणियों की रचना की थी। सावणियों का विषय मुख्यतः लौकिक हुआ करता है परन्तु—

कान्ति के कवि रीझी है तो कविताई है,

न तब राबिका बोबिह सुभिरल को बहानी है

के अनुसार कई सावनीकारों ने अपनी सावणियों का विषय राधा-कृष्ण तथा महादेव-भार्यती को भी बनाया है।

हिन्दी के कृष्ण-वक्त्र कवियों ने प्रभु से गुणगान के लिए ही अपने काव्य की रचना की थी तथा भक्तान् के सम्मुख गा-गाकर लोकरंजन का कार्य किया था। काव्य-सृजन का उद्देश्य भी मूर्ति का गुणगान करना होने के कारण इन कवियों के काव्य में वेद तत्त्व को प्रधानता मिली। पीठ काव्य का जन्म उद्देश्य आत्म-कल्याण और परमानन्द की प्राप्ति होता है। यही उद्देश्य छन्दछाया के काव्य में भी अभिव्यक्त होता है।

'कवि बनने साम्प्रदायिक विचार के लिए भिन्न-भूति के संयम से गीति-काव्य में अपने कल्याणकारी उद्देश्यों को व्यक्त करता है। उसे संसार से कोई विशेष संपर्क नहीं रहना पड़ता। आत्म-संतोष के लिए भक्ति भाव अपना दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों से विमुक्त

होकर वह गीत की सृष्टि करता है। उसे गीत में एक बौद्धिक ज्योति की अनुसृष्टि होती रहती है और उसके प्रत्यकरण में प्रकाश की उज्ज्वल किरणें प्रसारित होने लगती हैं। वह बौद्धिक आनन्द में लम्बे हो जाता है। इस प्रकार के गीत पदों के रूप में निकलते हैं।^१

इसके अतिरिक्त अष्टछाप के समय में ग्यास्मिर, धम और अकबरी दरबार संगीत के प्रधान केन्द्र थे। कृष्णान में बौद्धिक और योग्यता के वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रबलित कीर्तन में संगीत की साधना होती थी। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के उपदेश से हरिनाम-संकीर्तन की जो संगीत-रहनी समझी गयी, उसका प्रभाव भी कृष्णान पर पड़ा था। चैतन्य महाप्रभु विद्यापति की रचनाओं का पावन करके आनन्द-विभोर हो जाते थे। विद्यापति ने पन्द्रहवीं शताब्दी में संगीत और काव्य-कला से जोत-जोत पचावली की रचना करके हिन्दी गीति काव्य की जिस गरीब सीढ़ी का प्रचलन दिया था उसका विशेष प्रकार वैयम्य और उसके सिद्धों ने किया था। चैतन्य के कृष्णान-निवासी सिद्धों द्वारा विद्यापति की रचनाओं का पावन होता था और उसका प्रभाव भी अष्टछाप की छेसी पर पड़ा। इस गीतिमय बातावरण और कीर्तन की आवश्यकता के कारण ही अष्टछाप के कवियों की कृतियों में राग रागिणियों का विधान हुआ।

सूर के पदों की पैयदा के विषय में डॉ० मुंशीराम कर्मा लिखते हैं—

“इस नामन-सौखी में ऐसी कौन-सी रागिनी है जो सूरसागर में न आई हो। कहा जाता है कि सूर के ज्ञान ऐसे राग और रागिणियों में है, जिनमें से कुछ के तो स्मरण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागिणियों का तो सूर की अपनी सृष्टि है या अब उनका प्रचार नहीं है।” आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं—

“‘सूरसागर’ में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत-श्रेणियों के लिए भी बड़ा नापी बजाना है।”

सूरदास की ही भाँति मीरा के पदों में भी ज्ञाना प्रकार की राग-रागिणियों का प्रयोग हुआ है। असंख्य गीतात्मकता ही उसके पदों की विशेषता है। कान्तमात्र की सीध अनुसृष्टि के कारण ही उसके पद गीतों में फूट पड़े हैं।

हिन्दी के भक्त-कवियों की भाँति यद्यपि मराठी के भक्त-कवियों ने अपनी रचनाएँ राग रागिणियों की कड़ी पर नहीं कहीं फिर भी उनमें गीति-तरंग बराबर विद्यमान हैं। इतना ही नहीं इन सभी वर्तों ने संकीर्तन की माहिमा पर विशेष ध्यान दिया है और अपने काव्य का उपयोग कीर्तनों और ‘कथाओं’ के लिए करके समाज को भगवद् भजन की ओर अग्रसर करने के अपने उद्देश्य की पूरा किया है। अशोक शिरोधर पण्डित, गौडक आदि सभी भक्तोपदेशी छन्द हैं। संत नामदेव एकनाथ तुकाराम आदि के भक्त्य महाप्राप्ति में आज भी धामे जाते हैं परन्तु हिन्दी के भक्त-कवियों के पदों की भाँति उनके भक्त्य या ओमियां छात्रों के राग रागिणियों में नहीं हैं। उनमें गीतात्मकता की अपेक्षा भाव-तरंग का ही अधिक प्रबल है। इन दृष्टि से मराठी इल्म-शास्त्र ओक-गीतों की संगीत-प्रकृति के अधिक निकट प्रतीत होता है।

१. दूर शैलम, पूर्णच संस्करण, पृ० १५६।

२. दूरदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पूर्णच संस्करण, पृ० २००।

मराठी और हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति-पद्धति तथा दार्शनिक दृष्टि

भक्ति-पद्धति

भक्ति श्री उत्पत्ति भक्त वातु से हुई है जिसका अर्थ है भजना । नारद भक्ति को परमप्रेम रूपा और अमृतरूपा मानते हैं जिसे पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है ।^१ भक्तवान् को प्राप्त करने के साधनों में कर्म ज्ञान और भक्ति-मार्ग की गणना होती है ।

भक्ति का स्वल्प संरक्षता से साध्य होने के कारण साधारणों ने भक्ति-मार्ग को प्रमुखता दी है ।^२ भक्ति-मार्ग का प्रमुख सम्प्रदाय सायवत-वर्म है तथा ग्रन्थ हैं 'श्रीमद्भक्त्योगीश' 'महाभारत का शान्ति-पर्व' 'भागवतपुराण' 'हरिवंशपुराण' तथा दक्षिणी साधारणों के ग्रन्थ । भक्ति भाव है या रस इस विषय को लेकर विद्वानों के कई मत रहे हैं । कोई इसे रस मानता है तो कोई केवल भाव । रूप भोक्तामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति को रस मानकर उसका सांख्यीय विवेचन किया है । भक्ति का उद्भव दक्षिण में माना जाता है । प्रविष्ट है—

भक्ति ब्राह्मि ऊपजी, लये रामानन्द

परपट किया कबीर ने सप्त द्वीप नव जगट ।

श्रीमद्भक्त्योग में कहा गया है कि अग्निसिद्धि भाव से अपने निरल्प-नैमित्तिक कर्मों का पासन करके अहिंसा-सहिष्णुता-वृत्ति-आदि अनुष्ठान करने वाला भक्ति और गुणों के अन्वय प्राप्त के ही मुख्यमें स्वीकृत हो जाता है ।^३ गीता में भी बड़ी गौरव की पृष्टि हुई है ।^४ भक्ति के की उपकरण माने गए हैं । इसीलिए भक्ति को गणना भक्ति भी कहा जाता है । वे उपकरण हैं— भजन कीर्तन स्मरण पादसेवा अर्चन गन्धन वास्य सख्य और आत्मनिवेदन । भक्ति के अन्तर्गत भक्तवान् प्रति भक्त का प्रेम भाव होता अनिवार्य है । भक्ति के बिना भक्त के जीवन की समस्त यतिविधि व्यर्थ और अन्धन में आक्रमेण जाती होती है । भक्ति ही ऐसा व्यापक बर्म

१ 'सा त्वरिम् नृ परम्ये सकृदा, अमृतत्वकथा न भ म् २-६ ।

२ अन्वयम् सोऽयम् भगवो भ म् ३-८ ।

३ श्रीमद्भक्त्योग अ० २४, २५ व २६ ।

४ गीता, १३-२६ ।

है जिसका पावन मनुष्य-मात्र के लिए सम्भव है। हरि से पूर्ण अभिरुक्ति होना ही भक्ति है। परन्तु मायाभय संसार से अक्षिप्त हुए विना मन हरि में अभिरुक्त हो ही नहीं सकता। इसी लिए कृष्ण-कवियों ने संसार और अन्य साधन-मार्गों की निन्दा की है और सांसारिक विषयों को बुरा भला कहा है।

भगवद्भक्ति के लिए भक्त का भगवान् की धारण जाना अनिवार्य है। उसकी कृपा से ही भक्त संसार के समस्त व्यापारों से विरत हो जाता है। भक्ति भक्त के सम्पूर्ण भाव-सौक की अधिकारिणी होती है क्योंकि संसार और प्रभु एक साव दोनों के प्रति अभिरुचि सम्भव नहीं है। इसीलिए मराठी और हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने बारम्बार संसार के प्रति वैराग्य की भावना इकट्ठा करने की आवश्यकता पर जोर देकर राग-द्वेष को गहिष्ठ माना है। संसार के विषय में वैराग्य को इकट्ठा करने से ही भक्ति पूर्ण होती है तथा उसमें आत्म-समर्पण का भाव आ जाता है। इस प्रकार संसार-सम्बन्धी बौद्धिक ज्ञान आत्मानुभूति में परिणत होकर भक्त हरिभक्त को ही अपना एक-मात्र कर्तव्य समझने लगता है। भक्ति के लिए इष्टदेव का समुगल रूप अपेक्षित होता है। इसीलिए भक्त-कवियों का आराध्य निराकार प्रभु न होकर समुगल रूप होता है। तुकाराम कहते हैं—

इच्छिणी तपोसी धूर्त की अकल्प।

आम्होसी स्वरूपस्विति बाहु ॥^१

(ओ तुम्हें निराकार देखना चाहते हैं उनके लिए भक्त ही निराकार बन जाओ परन्तु हमें तो सुस्वरूप की ही इच्छा है।)

इसी प्रकार सुरदास की गोपी कहती है—

निरगुल कौन बेल कौं घासी ?^२

तथा गम्भारस की गोपी सगुण की स्थापना का ठकौं बेटी हुई कहती है—

ओ मुक्त नाहिन हुतौ कहाँ किन माखन खायो

पाहुन बिन गो संय कहौं को बन-बन पायो ?

मराठी के कृष्ण भक्त कवियों ने भक्ति के अन्तर्गत निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्ग दोनों का समन्वय किया है। सन्त तुकाराम दो सरल मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

न लये सायास जाये बनंतरा। सुखे पैतो घरा नारायण।

(संन्यास मिट्टर बन में जाने की आवश्यकता नहीं। स्वयं नारायण ही घर पर आ जाते हैं।)

इसी प्रकार सन्त एकनाथ का कथन है—

अवताराये सामर्थ्य पूर्ण। प्रपन्न परमार्थी सावधान।^३

(भक्तवत में पूरा सामर्थ्य होता है वह प्रपन्न और परमार्थ दोनों के धारे में सावधानी से काम लेता है।)

सम-दृष्टि को भक्ति का आवश्यक अंग मानते हुए सन्त तुकाराम कहते हैं—

१ श्री तुकारामजी मन्ना (दिवलीकर), अर्थ १५४४।

२ रासापर-साद, डॉ० श्रीरंग नन्दी, पृ० १४१।

३ सन्त बाबा मधुजी साम्प्रतिक कृतज्ञ-पि, पं० बा० सरदार, पृ० ३९।

सिख भक्तकी भरिता । भैव भक्तोंका काहिला ॥^१

(विद्वत् की मूर्ति ने भक्त पर खिलग्य धारण करके भक्तों के भेदभाव को दूर कर दिया ।)

भक्ति का मुख्य सन्धन है इष्टदेव के साथ गुरु का व्यक्तिगत सम्बन्ध और अनन्य भाव तथा भगवद्-कृपा । हिन्दी और मराठी के कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में इष्टदेव के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध और अनन्य भाव के सर्वत्र वर्णन होते हैं ।

भक्ति के सन्धन व्यक्तिगत सम्बन्ध के भाव के कारण ही सूरदास और तुकाराम झटके झटके को अपने स्वामी, इष्टदेव, विष्णु, हरि राम कृष्ण आदि नाम और रूप में सीमित करके स्वयं को उनसे भिन्न मानते हैं । वे अन्य किसी भी देवी-देवता को नहीं मानते । संवरीय प्रह्लाद शीपवी गणिका गीम छीटा और अनामिक का ज़िक्र करते याके प्रभु सूरदास के हरि और तुकाराम के ही विद्वत् हैं । इष्टदेव के प्रति अपनी निकटता को सूचित करने के लिए ही सूरदास ने अपने आराध्य को पिता माय और स्वामी की उपाधी दी है । सूरदास कहते हैं—

बासुदेव की बड़ी बड़ाई ।

अपत-पिता जनबीस, अपत-गुरु निज-महतनि की सहत दिखाई ।^२

तथा—

स्वाम नरीचनि तूँ के नाहक

बीनलाय हमारे छत्रुर, छाये प्रीति-निबाहक ।^३

संत तुकाराम उन्हें माता कहकर पुकारते हैं ।

तू छपाजू माझली । आम्हा बीनाबी साझली ।

म संवरी त आमी । बाळणेचें अचळी ॥

माझे कैने समानाव । कम बोधिरें समुच ।

निबधिले मन । मातिपण देखनी ॥^४

(हम बीनों को छाया प्रदान करने वाली तूम छपाजु भी हो । तूम जाने को बिना बिनाए बाळ-नेस धारण करके हमारे समीप था पर्यं और अपना बासस्थपुर्ण सगुण रूप दिखाकर और मुझे आश्रितन में भरकर तुमने मेरा मन धाम्य करके मुझे समुष्ट कर दिया ।)

भक्ति में व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिए अनन्य भाव अनिवार्य है । गीता में इसी अनन्य-भाव का उल्लेख हुआ है ।^५ पुरुषों में एक-एक देवता का अरिह-विषय एवं स्वकी महिमा का प्रतिपादन उन-उन देवताओं के प्रति अनन्य-भाव का ही योग्य है ।^६ इस अनन्य-भाव के कारण ही कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने इष्टदेव को ही सर्वत्र देखा है । सूरदास विष्णु के

१. छंद गद्य लक्ष्मी सामाजिक प्रकाशितियों का संस्करण, पृ० १५ ।

२. सूरदास, वा. प्र. छं. , पृ० १ ।

३. वही, पृ० १६ ।

४. तुकाराम भक्तवत्सल, प्रो. पृ० ६ पाने पृ० ७ ।

५. गीता ६ : २२ ।

६. श्री वावेत्तल, वाङ्मय आधिकारिक पृ० ६ अंक, पृ० १० ।

अतिरिक्त अन्य देवों का बहिष्कार करते हैं। इस बहिष्कार में अन्य देवों का जमाकर निहित न होकर कवि के अनन्य-भाव की महत्ता और तीव्रता ही ध्वनित होती है। संत तुकाराम कहते हैं—

पंडरीची भारी माझे घरीं । आविक म करी सौंघत ।

बत एकावली करोन उपवासी । माइन भट्ठिनीं मुखीं नाम ॥

मास बिडोबाये येईन भी बाये । बीज कापतीचें तुका म्हुने ।

(पंडरपुर की यात्रा मेरे घर ही में है। और कोई भी तीर्थाटन या व्रत मैं नहीं करता। मैं तो केवल एकावली का व्रत करनेवा और दिन-रात एक बिडोबा का ही नाम जप करनेवा। तुकाराम कहते हैं कि एक बिटुल का नाम ही कल्यांतर का बीज है।)

यही अनन्य भाव सीप के निम्नोक्त पर में भी व्यक्त हुआ है—

मेरे तो मिरियर घोषास, हुसरा न कोई ।

नामदेव कहते हैं—

तु जाच भी जाचिनी । तु माग भी पश्चिमी ।

तु हज्ज भी दक्षिणी । स्वयं रोग्ही ।

नामा म्हुने पुष्योत्तमा, स्वयं जडलों तुम्हा प्रेता ।

भी कुडी तु भारमा । स्वयं रोग्ही ।^१

(तुम जन्ममा हो और मैं जाचनी। तुम मूर्ख हो और मैं पश्चिमी। तुम हज्ज हो और मैं दक्षिणी। नामदेव कहते हैं कि हे पुरुषोत्तम मैं तुम्हारे ही रंग में रंग गया हूँ। इस प्रकार जो कुछ हो तुम्हीं हो। क्योंकि मैं शरीर हूँ और तुम भारमा हो।)

यही दृष्टि संत ज्ञानेश्वर की भी रही है। वे कहते हैं—

पंडरपुरिचा निळा । सावण्य पुतळा । तिठो बेतिपला डेळ्या ।

बाइयेचो । बैबले को मन लयाचिदे शुषी ।

सरा म बिचबि बिटुल दक्षिणी । पौंजिमेचें पांचवें

समलया होय जणें । तेंचें माझे जिरणें बिटुलेचीण ।

(पंडरपुर के स्वाम बिटुल की मूर्ति देखकर उसीके गुण में मेरा मन लयमय हो रहा है। एक क्षण भी बिटुल और दक्षिणी को मैं दृष्टि से ओझस नहीं कर सकती। जिस प्रकार पूर्वामा की पांचवी धन-धन पट्टी जाती है उसी प्रकार बिटुल के बिना मेरा जीवन भी चलने लगता है।)

मयबाबू के साथ मऊ का व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा अनन्य भाव होने के कारण ही वह सर्वथा अपने दृष्टिकोण पर ही निर्भर रहता है। मगबाबू की सहायता का उद्योग विश्वास होता है और वह निरन्तर उसका गुणमान किया करता है। परन्तु जब-जब उनके विरवास को ठेन पहुँचनी है तब-तब वह अपने दृष्टिकोण को गरी-खोटी सुनाये से भी नहीं चूकता। भवत की इस मगाएया का विमल हिन्दी और मराठी के कल्प मन्त्र कवियों के काव्य में अनेक स्थानों पर हुआ है।

पुष्टिमार्ग में मयबाबू के अनुग्रह या दान का प्रयुक्त स्थान दिया गया है। मगबाबू

की कृपा से ही भक्त पुष्ट होता है। भक्त सूरदास की भक्ति-भावना का भगवद्कृपा एक अनिवार्य अंग बन गया है। भगवान् की कृपा की याचना तथा उसकी उदाहरण प्रशंसा सूरदास के 'विनय' के पदों तथा कृष्ण के अतिरिक्त अन्य भक्तों की कथाओं में अत्यन्त हीन भाव से व्यक्त हुई है। ब्रह्म के इस विशिष्ट गुण के कारण ही उसे भक्ति का उपास्य भगवान् बनाया गया है।

दास हों नाथी बहुत मोपास

में भगवान् की कृपा-शक्ति का ही आवाहन किया है। यही याचना मीरा के निम्नोक्त पद में भी प्रतिबिम्बित हुई है—

बे बिछु म्हारे कोल सयर से मोबरपन पिरपारी ।
मोर मुग्न पीताबर घोभा, कु दल री छब म्यारी ।
भरी समो भा द्रुपद सुता री राख्या भाव सुरारी ।
मीरा री प्रभु पिरबर मापर, परन कपल बलहारी ॥^१

भगवद्कृपा प्राप्त करने के लिए सप्त तुकाराम केवल बिठोबा से ही प्रार्थना नहीं करते अपितु अन्य सत्त्वों से भी याचना करते हैं कि वे उन्हें न भूलें।

कृपाइ सज्जन तुम्ही संजजन । हेँचि हृपादान तुमचें मज ॥
भाठवस तुम्हो घांसी पांडुरंग । कौब माझी घांता काकुळती ॥
मनाच अपराधी पतित नाम्छा । परि पावबिप्यछा नका कक ॥
तुका म्हाये तुम्ही निरबिन्वावरी । भग सज हरी चपेसीमा ॥^२

(हि कृपानु संतो यदि तुम पांडुरंग को मेरी याद बिना हो तो मुझ पर तुम्हारी बड़ी ही कृपा होगी। आर्त होकर ही मेरी दयनीय वस्था का आप वर्णन करें। मैं पतित हूँ, मनाच हूँ अपराधी हूँ फिर भी आप मुझे अपने चरणों से दूर न करें। तुकाराम कहते हैं कि आपके कहने पर हरि मेरी चपेक्षा कक्षा नहीं करेंगे।

परन्तु फिर भी जब तुकाराम पर भगवद्कृपा नहीं होती तो वे कड़े शब्दों में अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने लगते हैं। वे कहते हैं—

तुमा संय पुरे संय पुरे । संगति पुरे बिठोबा ॥
आपस्यासारिचें करिती बासा । निकारीसा जल जाये ॥
कपा नाही ठाव नांवा । तैसें घामुचें करिती बैवा ॥
तुमा ह्वाणे तीये घामुचें नेंदोळें । करिती बाढोळें मात्तें तैसें ॥

(हि बिट्ठल बहुत हो गया तुम्हारा साथ। अपने समान ही तुम अपने भक्तों को भी निजारी बना देते हो। तुम्हारे न रूप है न नाम उसी प्रकार हमें भी बनाया चाहते हो। तुकाराम कहते हैं तुम्हारे पास तो भगना कुछ है ही नहीं इसीलिए तुम हमारा भी पर्यानास करना चाहते हो।)

सूरदास के एक पदे ही भ्यंग का उदाहरण देखिए—

१ मीरादास की वराहजी परशुराम अनुवैरी, १ १४०।

२ तुकाराम वचनामाला पृ० ४८ व ४९ पृ० ४०।